प्राक्कथन।

भारतमें स्वतन्त्रताका निःशस्त्र और हिंसाहीन युद्ध चल रहा है। नगर नगर और गाँव गाँवमें इसकी चर्चा होने लगी है। प्रत्येक भारतवासी पराधीनताके अपमान समझने लगा है। स्वराज्य प्राप्त करनेके उपायोंके सम्बन्ध-में पढ़े लिखे सज्जनोंमें मतभेद है। यह मतभेद विरोधका भी कारण हुआ है। कहीं उत्तेजनाके कारण और कहीं युवकोंकी नासमझीके कारण उपद्रव भी हुए हैं, दमन भी हुआ है, कारागार भी भरे गये हैं। यह सब हो रहा है, पर स्वराज्यका मतलब अभी बहुत ही थोड़ोंकी समझमें आया है। साधारण लोगोंकी तो बात ही जाने दीजिये, नेताओंमें भी इसके सम्बन्धमें न स्पष्ट कल्पना है, न मतैक्य है। यह आश्चर्यका विषय होनेपर भी प्रायः अनिवार्य भी है। बहुत दिनकी पराधीनताके कारण हम शासननीति प्रायः भूल ही गये हैं और शासनविषयक आवश्यकताओंका तो हमें कोई ज्ञान ही नहीं है। अति प्राचीन ग्रन्थों और मुसलमानी राज्यके इतिहासोंसे तत्कालीन शासन-नीति और पद्धतिका कुछ ज्ञान तो हो जाता है, पर आज वह व्यवहार्य नहीं है। मुसलमानोंके समय-की शासनपद्धति निर्दोष होती तो उनका राज्य न जाता। अति प्राचीन पद्धति सर्वाङ्गसुन्दर होती तो आक्रमणकारी यवनों और

मुसलमानोंके सामने हिन्दुओंने सिर ही न झुकाया होता। हम मानते हैं कि सब दोष पद्धतिका ही नहीं है। शासकों तथा साधारण जनोंका भी दोष है। राजनीति-विषयक अज्ञान, परस्पर हिंसाद्वेष, युद्धकलाका अधःपतन अथवा नवीन आविष्कारोंके सम्बन्धमें उदासीनता इत्यादि और भी अनेक कारण हमारे—हिन्दू मुसलमानोंके—अधःपातके हुए हैं। पर ये कारण प्रधान नहीं हैं, आनुषंगिक हैं। प्रधान कारण तत्कालीन शासननीतिकी अनुपयुक्तता ही है।

जो शासननीति स्वाधीनताकी रक्षा न कर सकी, वही फिर हमें उन्नत करेगी, इसकी आशा करना ही व्यर्थ है। दूसरे, यदि मान भी लें कि वह नीति उस समयके लिये अच्छी थी तो भी इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आज भी वही शुभ होगी। शासननीति देश, काल और अवस्थाके अनुसार बदला करती है। आजके भारतमें और अशोक तथा अकबरके समयके भारतवर्षमें आकाशपातालका अन्तर है। सामाजिक और आर्थिक अवस्थाओंमें परिवर्तन हो गया है। हिन्दू मुसलमानोंका विकट प्रश्न उपस्थित हो गया है। हिन्दुओंमें भी भिन्न भिन्न वर्णोंमें ईर्ष्या द्वेष उत्पन्न हो गया है—अथवा किया गया है। यह उचित है अथवा अनुचित, स्वाभाविक है अथवा अस्वाभाविक है, यह बढ़ता ही जायगा अथवा राजनीतिक अवस्था बदल जानेसे घट जायगा, इत्यादि विषयों पर समाजशास्त्रविदोंको विचार करना है। राजनीतिज्ञसे इसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। जब तक भेद है तब

तक उसका अस्तित्व स्वीकार करके तदनुसार शासनप्रणालीका आविष्कार करना उसका कर्त्तव्य है। स्वराज्यमें शासनप्रणाली कैसी होगी, इसका निर्णय करनेके लिये इन सब वर्त्तमान जटिलताओंपर भी विचार करना आवश्यक है। खेदका विषय है कि अब तक इस ओर हमारे विद्वानोंका ध्यान ही नहीं गया है। समाजसुधारक सुधारका प्रयत्न कर रहे हैं; पर जब तक सुधार नहीं होता क्या तब तक भारतको पराधीन ही रहना पड़ेगा? जब तक ३२ करोड़ भारतवासी एक धर्म ग्रहण नहीं करते, एक भाषा नहीं बोलते, एक चालसे नहीं चलते, एक तरहकी पोशाक नहीं पहनते, क्या तब तक भारतको पराधीन दास हो बना रहना होगा? मेरी अल्प बुद्धिके अनुसार इसका एकमात्र उत्तर यही है—नहीं!

यह आन्तरिक अवस्थाकी बात हुई। पर सबसे बड़े महत्त्वकी बात दूसरी ही है। वह वर्त्तमान युगकी विशेषता है। पहले सब देश भौगोलिक अर्थके समान ही सामाजिक अर्थमें भी अलग अलग थे। एकका सम्बन्ध दूसरेसे नहीं था। निकटवर्ती देशोंके सम्बन्धमें भी पूरा अज्ञान फैला हुआ था। अपने देशके बाहर क्या हो रहा है, कैसे कैसे आविष्कार हो रहे हैं, समाजपर तथा शासननीतिपर उनका प्रभाव क्या पड़ रहा है, इत्यादि बाहरी बातोंका अज्ञान भारतसन्तान हिन्दू मुसलमानोंके अधःपतनका प्रधान कारण है। आज भी वही अज्ञान फैला हुआ है। जनतामें ही नहीं, विद्वानोंमें भी परराष्ट्र-नीतिके सम्बन्धमें पूर्ण अज्ञान फैला हुआ है। यह अज्ञान हमारे स्वातन्त्र्यके मार्गमें बाधक हो

रहा है। खेदका विषय है कि इसपर कोई विचार नहीं करता। मेरे मित्र पंडित कृष्णकान्त मालवीय लिखित "संसार संकट" नामक पुस्तकको छोड़कर और कोई हिन्दीकी पुस्तक मेरे देखनेमें नहीं आई है जिसमें भारतीय प्रश्नको संसारव्यापी प्रश्नका एक अंग समझकर उसपर विचार किया गया हो। पर सभी पढ़े लिखे जानते हैं कि उन्नत और उन्नतिशील विज्ञानकी कृपासे आज समस्त संसार एकसा हो गया है। सब देश परस्पर मुखापेक्षी हो गये हैं। अमेरिकामें रुई न हो तो, भारतमें रुईकी दर चढ़ जाती है; रूसमें अनावृष्टि हो तो कराचीमें गेहूँकी दर चढ़ जाती है; चीनमें अशान्ति हो तो बम्बई मिलोंके शेयरोंकी दर गिरने लगती है; अफगान सरकार यदि रूसकी बोलशेवी सरकारके दूतका स्वागत विशेष रूपसे करे तो लंडनमें भारत सरकारके कागजोंकी दर गिरने लगती है; इत्यादि अनेक उदाहरण नित्य दृष्टिगोचर होते हैं। तो भी हम भारतीय स्वराज्यके प्रश्नको केवल एकदेशीय समझ रहे हैं। इससे बढ़कर खेदका विषय और क्या हो सकता है?

भारत महाखण्ड एशियाका एक अंग और ब्रिटिश साम्राज्यका आधारस्तम्भ है। इन दो बातोंको सर्वदा ध्यानमें रखकर ही हमें स्वराज्यका विचार करना होगा। हमारे निरुपद्रव आन्दोलन अथवा बहिष्कारसे ही ब्रिटेन हमें पूर्ण स्वातन्त्र्य देकर अपने साम्राज्यको तिलाञ्जलि देगा, यह समझना जैसा लड़कपनका काम है वैसे ही यह जानना भी नितान्त मूर्खता है कि चीन, जापान, इरान, ईराक, तुर्की आदि देशोंसे हमारा कुछ भी सम्बन्ध

नहीं है। वस्तुतः यह सम्बन्ध बहुत दृढ़ है और दिन दिन दृढ़तर हो रहा है। हम यदि सचमुच स्वराज्य चाहते हों तो हमें संसार-की—विशेष कर एशियाकी—राजनीतिपर विचार करना होगा। यह विचार एक और कारणसे अनिवार्य हो गया है। यूरोपीय महाशक्तियोंका संघर्षकेन्द्र महायुद्धके पहले मध्य यूरोप और बाल-कन प्रायद्वीपमें था; महायुद्धके बादसे वह मध्य एशिया और प्रशान्त महासागरमें आ गया है। दूरदर्शी विद्वानोंका मत है कि दूसरा महासमर, जिसके भयङ्करताकी तुलनामें यूरोपका गत महायुद्ध लड़कोंका खिलवाड़ समझा जायगा, मध्यएशिया और प्रशान्त महासागरमें होगा। राष्ट्रसंघसे शासनादेश लेकर यूरोप-की भिन्न भिन्न शक्तियाँ एशियामें कैसे कैसे जाल बिछा रही हैं, इनपर विचारकर देखनेसे भी भावी महासमरके केन्द्रके सम्बन्ध-में सन्देह नहीं रह जाता। रूसमें जो एक नयी पद्धति और नयी शक्ति उत्पन्न हुई है, उससे यूरोपकी पुरानी पद्धति और पुरानी शक्तिका संघर्ष भी अनिवार्य है। यह संघर्ष हिमालयके उस ओर भारतीय सीमाके पास ही होगा। स्वराज्यके लिये प्रयत्न करनेवाले राजनीतिज्ञोंको इन बातोंपर अवश्य विचार करना चाहिये।

खेदका विषय है कि हिन्दीमें अब तक अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य-का इतना अधिक अभाव है कि केवल हिन्दी जाननेवालोंके लिए इस महत्त्वके विषयपर विचार करना ही असम्भवसा हो गया है। अमेरिकन राजनीतिज्ञ एच० ए० गिबन्सकी "THE NEW

MAP OF ASIA" नामक पुस्तकके आधार पर श्री बाबू राम-चन्द्र वर्माने यह पुस्तक लिखकर वह अभाव अंशतः दूर कर दिया है। साधारण लिखे पढ़े लोगोंकी समझमें आने योग्य सरल भाषामें जटिल विषय समझानेका आपने जो प्रयत्न किया है, वह भी बहुत कुछ सफल हो गया है। विषय बहुत बड़ा और पुस्तक बहुत छोटी है। इस पुस्तकके एक एक अध्यायपर बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। इस अल्प सीमाके भीतर यह जटिल विषय जहाँ तक समझाना सम्भव था, वहाँ तक समझाया गया है। अवश्य ही ऐसे विषयपर मतैक्य होना सम्भव नहीं है। तथापि भारतीय स्वार्थकी दृष्टिसे इन विषयोंपर किस प्रकार विचार होना चाहिये, इसकी दिशा इसमें दिखा दी गई है। इस परिश्रमके लिए मैं वर्माजीका धन्यवाद करता हूँ और आशा करता हूँ कि स्वराज्य-प्रयासी स्वातन्त्र्यके भक्त हिन्दी-भाषी इस पुस्तकका यथोचित आदर करेंगे। कारण, इस व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय विषयका भारतीय राजनीतिसे घनिष्ठ सम्बन्ध है और इसे समझे बिना भारतीय स्वराज्यकी भी सुमीमांसा न होगी।

काशी,
मि. श्रावण कृष्ण ५,
सं० १९७९ वै०

बाबूराव विष्णु पराड़कर

विषय-सूची ।

वर्त्तमान एशिया

(१)

ग्रेट ब्रिटेन और भारतके मार्ग

उन्नीसवीं शताब्दीमें अँगरेजोंकी नीति बराबर यही रही कि जिस प्रकार हो, जल तथा स्थलके उन सभी मार्गों पर अधिकार किया जाय जो इंगलैण्ड और भारतके बीचमें हैं। यद्यपि इस नीतिका अवलम्बन बिलकुल जान बूझकर नहीं किया गया था, तो भी ठीक ऐसा ही हुआ कि मानों अँगरेजोंने अपने किसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिए सब काम बहुत ही होशियारीके साथ और समझ बूझकर किये हों। नेपोलियनके साथ अँगरेजोंके जो युद्ध हुए थे, उनके बादसे लेकर आजतक ग्रेट ब्रिटेनने जितनी राजनीतिक चालें चलीं, जितनी सन्धियाँ और मित्रताएँ कीं, जितने देश अपने अधिकारमें लिये और जितने देश अपने संरक्षणमें किये, वास्तवमें सब केवल भारत पर दृष्टि रखकर ही किये थे।

अँगरेज़ोंने नेपोलियनके साथ भूमध्यसागर, मिस्र और सीरियामें जो युद्ध किये थे, वे सब भारतके लिए ही थे। वीना नगरकी कांग्रेसमें इंगलैण्डने युरोपका कोई अंश अपने लिए नहीं माँगा था। वह अपने युद्धोंका केवल यही पुरस्कार चाहता था कि हमने माल्टा, गुड होपके अन्तरीप, मारिशस, सेशिलीस और लंका पर जो अधिकार किया है, वह बराबर बना रहे। सन् १८१५ के बाद ग्रेट ब्रिटेन केवल इसी लिए तुर्क साम्राज्यका सहायक और संरक्षक बन गया कि जिसमें और कोई शक्ति भारतके स्थल-मार्गमें बाधक न हो सके। जब मिस्रके मुहम्मद्अलीने तुर्क साम्राज्य पर आक्रमण किया था, तब उसे सीरियामें अँगरेजी बेड़े और सेनाने ही रोका था। यद्यपि अँगरेज जनता यह नहीं चाहती थी, तथापि ब्रिटिश परराष्ट्र-विभाग बराबर बालकन राज्योंकी स्वाधीनताका विरोध करता रहा; और मुसलमान लोग ईसाइयोंकी जो हत्याएँ किया करते थे, उनको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखता रहा। क्रीमियाका युद्ध केवल तुर्कोंकी रक्षाके लिए ही था। इसके उपरान्त सेन स्टेफनोकमें एक सन्धि हुई थी जिसे इंग्लैण्ड रद् कराना चाहता था; और यदि वह सन्धि रद् न कर दी जाती तो १८७७ में इंगलैण्ड फिर रूससे लड़ जाता। ब्रिटिश सरकार पहले तो स्वेजकी नहर बनानेका विरोध ही करती रही, पर जब वह नहर बनकर तैयार हो गई, तब उसने स्वेज कम्पनीसे उसका सब अधिकार स्वयं ले लिया। इसके उपरान्त ब्रिटिश सरकारने एक ऐसा काम किया, जो यदि और कोई शक्ति करती तो वह अवश्य उससे युद्ध ठान देती। जिस तुर्क साम्राज्य-की अब तक अँगरेज लोग रक्षा करते आये थे, उसीके साइप्रसको उन्होंने अपने संरक्षणमें ले लिया और उसके मिस्र पर अधिकार कर लिया। अब जब अँगरेज़ोंके हाथमें मिस्र आ गया, तब

उन्होंने बालकनके सम्बन्धमें भी अपनी नीति बदल दी। पूर्वी रूमेलिया जब बलगेरियामें मिला लिया गया, तब १८८५ में अँगरेज़ोंने भी उसे मान्य कर लिया। यदि उससे केवल आठ वर्ष पहले बलगेरियाके राज्य-विस्तारकी बात उठती, तो कदाचित् अँगरेज़ लोग सारे युरोपमें भीषण युद्ध मचा देते।

मिस्र पर अधिकार करते समय अँगरेज़ोंने सब शक्तियोंसे यही कहा था कि हम यह अधिकार सदाके लिए नहीं कर रहे हैं, हम शीघ्र ही उसे छोड़ देंगे। पर वे सदा एक न एक बहाना निकालते गये, और आजतक मिस्र उन्हींके अधिकारमें है। १९वीं शताब्दीके अन्तमें अँगरेज़ोंने मिस्र तथा लाल समुद्रपर अपना अधिकार दृढ़ रखनेके लिए पुनः सूडान पर विजय प्राप्त की; और इसलिए बूअर युद्ध किया जिसमें दक्षिण अफ्रिका उनके हाथसे निकल न जाय। उसी समय उन्होंने अफ्रिकाके उत्तरी कोनेसे दक्षिणी कोने तक अपनी रेल बनानेका विचार किया। मिस्रमें अँगरेज़ोंका अधिकार बढ़नेके कारण फ्रान्स और इंगलैण्डमें युद्ध होनेको ही था, पर दोनों देशोंने आपसमें समझौता कर लिया। इसका कारण यह था कि एक तो उस समय फ्रान्स कई कारणोंसे इंगलैण्डके साथ युद्ध करनेको तैयार नहीं था; और दूसरे उसकी दृष्टि केवल मरक्को पर थी, भारतके किसी मार्ग पर न थी। ८ मई १९०४ को ग्रेट ब्रिटेन और फ्रान्समें एक इकरारनामा हो गया जिसके अनुसार दोनों देशोंने आपसके संसार भरके झगड़े तै कर लिये। इस इकरारनामेकी असल जड़ यह थी कि मिस्रमें फ्रान्स कोई झगड़ा खड़ा न करे और मरक्को पर अँगरेज दृष्टि न डालें। अँगरेज समझते थे कि यदि मिस्रमें फ्रान्स कोई झगड़ा खड़ा करेगा, तो भारतके मार्ग स्वेजकी नहर परसे हमारा अधिकार नष्ट हो जायगा। इसी लिए उन्होंने फ्रान्ससे समझौता कर लिया था।

इसके तीन बरस बाद अँगरेजोंने रूसके साथ जो समझौता किया, उसका तात्पर्य भी यही था कि भारत तक पहुँचनेके मार्गों-की रक्षा हो। रूस उधर फारसमें बहुत कुछ बढ़ गया था, अफ-गानिस्तानकी सीमा तक भी पहुँच गया था और तिब्बतमें उपद्रव खड़ा करना चाहता था। इसी लिए १९०७ में अँगरेजोंको रूसियोंसे सन्धि करनी पड़ी। इसके उपरान्त और भी कई वर्षोंतक अँगरेज लोग भारतके जल और स्थल मार्गोंकी रक्षाका प्रबन्ध करते रहे; और अन्तमें गत महायुद्धके कुछ ही पहले अँगरेजोंका उद्देश्य पूर्ण रूपसे सफल होना चाहता था कि इतनेमें जर्मनीने युद्ध ठान-कर बीचमें बाधा खड़ी कर दी। पर इस युद्धमें भी इस दृष्टिसे अँग-रेजोंकी पूर्ण विजय हुई कि समस्त दक्षिणी एशियामें, भूमध्य सागरसे लेकर प्रशान्त महासागर तक, उनका अधिकार यथेष्ट दृढ़ हो गया।

जल-मार्गसे भारतकी रक्षा करनेके लिए अँगरेजोंने पश्चिममें अरब सागर पर, पूर्वमें बङ्गालकी खाड़ी पर तथा भारतीय महा-सागरसे इन सब स्थानों तक पहुँचनेके और सब मार्गों पर पूर्ण रूपसे अपना अधिकार करना निश्चित किया। अँगरेज लोग सारे समुद्रों पर अपना पूर्ण आधिपत्य इसलिए चाहते थे कि जिसमें टापू हमारे हाथसे न निकलने पावें; और अरब सागर तथा स्याम-की खाड़ी तक पहुँचानेवाले जलडमरूमध्यों पर इसलिए अधि-कार रखना चाहते थे कि जिसमें उनके तट परके देश हमारे हाथ-से न निकल जायँ। लन्दन और लीवरपूलसे लेकर हांगकांग तक-का प्रदेश और समुद्र केवल जहाजी बेड़ोंसे ही रक्षित नहीं रह सकता था; इसलिए अँगरेजोंने समुद्रमें दूसरी ओरके अनेक स्थानों पर भी दृढ़तापूर्वक अपना अधिकार जमाया। भारतके पश्चिमी मार्ग पर जिब्राल्टर, माल्टा, साइप्रस, मिस्र, अदन, पेरिम और

भूटान पर, अरब सागरके सकोट्रा आदि अनेक टापुओं पर, फारसकी खाड़ीमें बेहरिन टापुओं पर, भारतसे सटी हुई लंका पर, बङ्गालकी खाड़ीके तटों और टापुओं पर तथा पूर्वमें सिंगापुर, मलाया प्रायद्वीप और बोर्नियोके उत्तरी भाग पर अच्छी तरह अपना अधिकार कर लिया।

भारतके उत्तर-पश्चिम, उत्तर तथा पूर्वमें बलूचिस्तान और अफगानिस्तान, रूसके बुखारा और तुर्किस्तान प्रान्त, चीनके सिंक्यांग और तिब्बत प्रान्त, नेपाल और भूटानके राज्य तथा बरमा प्रदेश हैं। जबसे भारत सरकारने बलूचिस्तान और बरमाको भारतमें मिला लिया है, तबसे फारस, चीनके शेचुआन और युनन प्रान्तों, फ्रान्सीसी इण्डो चाइना और स्यामकी सीमाएँ भारतकी सीमाओंसे मिल गई हैं।

१८७५ से १९०३ तक प्रयत्न करने पर बलूचिस्तान और १८७९ से १९०९ तक प्रयत्न करने पर बरमा प्रान्त ब्रिटिश भारतमें मिलाया गया। ये दोनों प्रदेश बिलकुल समुद्र तट पर थे; इसलिए बिना इन दोनों पर अपना पूरा पूरा अधिकार किये अँगरेजोंने चैन नहीं लिया। पर अधिकार-वृद्धिकी लालसा कभी तृप्त नहीं होती, वह बराबर बढ़ती ही जाती है। इसी लिए गत महायुद्धके छिड़ने पर ग्रेट ब्रिटेन बराबर दक्षिणी फारसमें अपनी मजबूती करने लगा। इसका कारण यह नहीं था कि स्वयं फारसवाले ही यह बात चाहते थे; बल्कि इसका कारण यह था कि इस सम्बन्धमें अँगरेजों और रूसियोंमें समझौता हो चुका था। अँगरेजोंका प्रभुत्व स्वीकार करनेके लिए अफगानिस्तान विवश किया गया। मिस्रमें भी वहाँके निवासियोंके इच्छानुसार नहीं, बल्कि फ्रांसके एक इकरारनामेके अनुसार अँगरेजोंने खूब अच्छी तरह पैर जमाये और वे बढ़ते बढ़ते नील नदीके उद्गम तक पहुँच गये।

इधर दक्षिणी फारसमें अपने पैर जमाते जमाते भारत सरकारने बलूचिस्तान हजम कर लिया और उधर स्यामको दबाते दबाते बरमाको निगल लिया। १९०९ में ग्रेट ब्रिटेनने स्यामसे उसके तीन छोटे छोटे करद राज्य छीनकर बङ्गालकी खाड़ीके तट पर अपना पूरा अधिकार जमा लिया। उत्तर-पूर्वमें संरक्षित राज्यों पर आक्रमण करनेवाली जंगली जातियोंको दण्ड देनेके बहाने सेनाएँ भेजी जाती थीं और इस प्रकार नये प्रदेशों पर अधिकार किया जाता था। यह क्रिया बराबर तब तक होती रही, जब तक पहाड़ोंकी ठेठ सीमाएँ भारत सरकारके हाथमें नहीं आ गईं। अब भारतकी सीमाओं पर नेपाल, भूटान और अफगानिस्तान केवल यही तीन स्वतन्त्र राज्य रह गये हैं। पर ये तीनों राज्य भी वास्तवमें स्वतन्त्र नहीं हैं। भारत सरकारने उनके हाथ पैर बाँध दिये हैं। सौ बरससे नेपालमें अँगरेज रेजिडेण्ट रहता है; और भारतीय सेनाके लिए वहाँसे यथेच्छ गोरखे लिये जाते हैं। वहाँके प्रधान मन्त्री अँगरेजी सेनाके लेफ्टिनेण्ट जनरल हैं। अफगानिस्तान और भूटानके शासकोंको बराबर इसलिए बड़ी बड़ी रकमें मिलती हैं जिसमें वे सब काम भारत सरकारके इच्छानुसार करें। १८६४ में भूटानका कुछ अंश बङ्गालमें मिला लिया गया था और १८६५ से उसे वृत्ति मिलती है। जब तिब्बतमें झगड़ा खड़ा हुआ, तब अँगरेजोंने अपनी ओरसे वहाँ एक शासक नियुक्त कर दिया और इस प्रकार बिना लड़े भिड़े ही उस प्रदेशको अपने अधीन कर लिया। १९१० में भूटानने अपना परराष्ट्रीय सम्बन्ध अँगरेजोंके अधिकारमें कर दिया और इसके बदलेमें अपनी वृत्ति दूनी करा ली। उस समय अँगरेजोंको भूटानकी सीमा पर दो बहुत अच्छे स्थान भी मिल गये। ब्रिटिश भारतके विस्तारके इतिहासको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यदि बीचमें ही सारे संसारकी

राजनीतिक परिस्थितियों और सम्बन्धोंमें कोई बड़ा भारी परिवर्तन न उठ खड़ा हो, तो नेपाल और भूटान भी शीघ्र ही ब्रिटिश भारतमें मिला लिये जायँगे।

परन्तु अफगानिस्तानकी स्थिति इससे कुछ भिन्न है। अनेक युद्धोंमें धन और जनका बहुत कुछ नाश करने पर जो सन्धि हुई, उसके कारण अफगानिस्तानमें अँगरेजोंका प्रभुत्व स्थापित हो गया। पर रूस यह काम सहजमें नहीं होने देना चाहता था। जिस प्रकार अँगरेजोंको यह भय था कि रूस कहीं अफगानिस्तानमें कोई उपद्रव न खड़ा करे, उसी प्रकार रूस भी यह कहता था कि अँगरेज भी अफगानिस्तानमें हमारे विरुद्ध कोई उपद्रव न रचें। इसलिए रूसियोंने अफगानों तथा सीमाप्रान्तकी दूसरी जातियोंको भड़काना आरम्भ किया। वे मंगोलियामें बढ़कर तिब्बतमें अपना प्रभुत्व जमाना चाहते थे। इधर अँगरेज समझते थे कि भारतकी रक्षाके लिए तिब्बत और अफगानिस्तान यही दो ढालें हैं। सन् १९१० तक इन दोनों देशोंके अतिरिक्त फारसके रूपमें एक और ढाल अँगरेजोंको दिखलाई देने लगी, और अब इन तीनों देशोंको ब्रिटिश साम्राज्यमें मिलाना आवश्यक हो गया। सन् १९०७ में अँगरेजोंने रूसियोंके साथ सन्धि करके उसके युद्धसे छुटकारा पाया। पर उधर एक दूसरी आफत खड़ी हो गई। जर्मनीने बगदाद रेल्वे बनानेका विचार किया और अब भारतके लिए उसका डर खड़ा हो गया। ग्रेट ब्रिटेनने यह निश्चय कर लिया था कि जिस प्रकार होगा, हम जर्मनी या रूसको फारसकी खाड़ी तक नहीं पहुँचने देंगे। उपनिवेशोंकी प्रतिद्वन्द्विताके सम्बन्धमें उसने रूस और फ्रान्ससे तो समझौता कर लिया था, पर अब वह जर्मनीसे भी समझौता करना चाहता था। गत महायुद्धमें फ्रान्स-

से मेसोपोटामिया तक जो भीषण युद्ध हुए थे, उनमें बगदाद रेल्वेके प्रश्नका भी निर्णय हुआ था।

---

(२)

भारतकी दो ढालें

तिब्बत और अफगानिस्तान

जबसे रूसियोंने मध्य एशियामें प्रवेश किया, तभीसे अँगरेज समझने लगे कि अफगानिस्तानको अपने अधिकारमें रखना बहुत ही आवश्यक है; क्योंकि यदि रूसी किसी प्रकार अफगानिस्तान पर अपना प्रभुत्व जमा लेंगे, तो वे केवल फारसकी खाड़ी तक ही नहीं पहुँच जायँगे, बल्कि काफिरिस्तान, वजीरिस्तान और स्वात आदिकी सीमा प्रान्तवाली जातियोंको भड़काकर पंजाब तकमें भारी उपद्रव खड़ा कर देंगे। जब अँगरेजोंने अफगानिस्तान पर अपना प्रभुत्व जमाना परम आवश्यक समझ लिया, तब उन्होंने सन् १८३९, १८४२, १८७८ और १८८० में उस देश पर आक्रमण करनेमें आगा-पीछा नहीं सोचा। इन युद्धोंमें बहुत अधिक धन व्यय किया गया था। पर जब अँगरेजोंने पंजाब और बलूचिस्तानमें अच्छी तरह अपने पैर जमा लिये, तब उनको अफगानिस्तानका उतना अधिक भय नहीं रह गया, जितना पहले था। बीसवीं शताब्दीके आरम्भमें अँगरेजों और रूसियोंकी प्रतिद्वन्द्विता बहुत अधिक बढ़ गई थी और प्रायः सभी अँगरेज राजनीतिज्ञ यह समझने लग गये थे

कि अबकी ग्रेट ब्रिटेनको सबसे बड़ा युद्ध रूस और फ्रान्सके साथ करना पड़ेगा। अँगरेजोंको औपनिवेशिक प्रभुत्वके सम्बन्ध-में एशियामें रूसियोंका और अफ्रिकामें फ्रान्सका बहुत अधिक भय था। कुछ अँगरेज साम्राज्यवादी तो यहाँ तक कहते थे कि रूस और फ्रान्सका मुकाबला करनेके लिए अँगरेजोंको जर्मनीके साथ मित्रता कर लेनी चाहिए। पर जब संयोगवश अँग-रेजोंकी रूसियों और फ्रान्सीसियोंके साथ सन्धि हो गई, तब अँग-रेज लोग जर्मनीके भारी मित्र होनेके बदले भारी शत्रु हो गये।

अफगानिस्तानके जो अमीर अब्दुलरहमान खाँ रूस और ग्रेट ब्रिटेनके मध्यमें रहकर अपने सब काम बहुत ही समझदारी और निर्भीकताके साथ करते थे, सितम्बर १९०१ में उनका देहान्त हो गया। भारत सरकार उनको बहुत दिनोंसे डराया करती थी कि रूस तुम्हारे देश पर आक्रमण करेगा ही; यदि तुम अपने यहाँ तार और रेल बनवा लो, जिसका प्रबन्ध हम लोग अच्छी तरह कर देंगे, तो तुम उसके आक्रमणसे सहजमें बच सकोगे। पर अमीर अब्दुलरहमान खाँ रूसियोंके रोगको जितना बुरा समझते थे, अँगरेजोंके औषधको भी वे उतना ही बुरा समझते थे। नवम्बर १९०० में उन्होंने अपना जो आत्मचरित प्रकाशित कराया था, उसमें उन्होंने इस सम्बन्धमें अँगरेजोंकी नीतिका बहुत अच्छा विवेचन किया था। वे चाहते थे कि अफगानिस्तानको एक बन्दर-गाह और समुद्र तक पहुँचनेका मार्ग, और सीधे लण्डनसे बातचीत करनेका अधिकार मिले। व्यापार-सम्बन्धी बातोंमें वे यह नहीं चाहते थे कि भारत-सरकार अपने लाभके लिए हमें मनमाना नाच नचाती रहे और हमसे लाभ उठाती रहे। वे अपने व्यापार पर भारत सरकारका अधिकार नहीं होने देना चाहते थे; इसलिए उन्होंने आज्ञा दे दी थी कि न तो हमारे देशसे घोड़े भारत भेजे जाया

करें और न भारतसे हमारे यहाँ नमक आने पावे। उन्हींके समयमें फारस, तुर्की और अफगानिस्तानमें एक सन्धि इसलिए हो चुकी थी कि जिसमें दूसरे देश इन मुसलमान देशोंको किसी प्रकार दबाने या अपने अधिकारमें लानेका प्रयत्न न करें। उनका सिद्धान्त यह था कि जो देश हमें सबसे कम दबावेगा, हम उसीके साथ मित्रता रखेंगे; और जो हमारी स्वाधीनतामें बाधक होगा अथवा हमारे देशमेंसे होकर गुजरना चाहेगा, उसीको हम अपना सबसे बड़ा शत्रु समझेंगे। उनका वास्तवमें इंग्लैण्डसे प्रेम तो नहीं था, पर वे अँगरेजोंकी मित्रताका महत्व अवश्य समझते थे और उनके साथ कभी धोखा नहीं करते थे। उनके शासनकालमें अफगानिस्तान यथेष्ट समृद्ध और भली भाँति संघटित था। मिस्रके मुहम्मदअली-की तरह वे भी विदेशियोंकी देखरेखमें अपने देशके व्यापार और शिल्पकी उन्नति तो अवश्य करना चाहते थे, पर अपनी स्वाधी-नताकी बलि देकर नहीं।

तीस वर्षकी अवस्थामें हबीबुल्ला खाँ अब्दुलरहमानके उत्तरा-धिकारी हुए। वे अँगरेजी पढ़े थे और अँगरेजोंके मित्र भी थे। वे पहलेसे ही राज्यका कारबार भी देखते आते थे। वे अपने सैनिकोंका वेतन बढ़ाकर सर्वप्रिय बने थे और उन्होंने घोषणा की थी कि जो लोग हमारे देशसे निर्वासित होनेके कारण भारत चले गये हैं, वे यदि चाहें तो वापस आ सकते हैं। अपने राज्यारोहणके दूसरे वर्ष उन्होंने यह भी घोषणा कर दी कि हम अपने स्वर्गीय पिताके इच्छानुसार अनिवार्य सैनिक सेवाका प्रबन्ध करना चाहते हैं।

१९०२ में रूसने ग्रेट ब्रिटेनसे कहा कि—"यदि सीमा परके रूसी और अफगान अफसरोंको व्यापारिक कार्योंके लिए आपसमें बातचीत करनेकी परवानगी मिल जाय, तो इससे दोनोंको बहुत

सुभीता होगा। यद्यपि रूसी सरकार यह कहती थी कि वर्तमान निश्चयके अनुसार रूसको अफगानिस्तानके साथ राजनीतिक विषयोंमें प्रत्यक्ष बातचीत करनेका अधिकार नहीं है, पर रूसी समाचारपत्र यह चाहते हैं कि यह निश्चय रद्द कर दिया जाय। वे कहते हैं कि अफगानिस्तानमें ग्रेट ब्रिटेनको राजनीतिक और व्यापारिक विषयोंमें जो अधिकार प्राप्त हैं, वही रूसको भी क्यों न प्राप्त हों ?" यों तो कदाचित् रूसकी यह बात मान भी ली जाती, पर तुर्किस्तानमें वह जो चालें चल रहा था, उनके कारण उसमें बाधा पड़ी। तुर्किस्तानसे चार हजार तुर्कमान और जमशीद हिरात चले गये थे और वहाँ अमीरने उनको रहने आदिका स्थान भी दे दिया था। उधर रूसी लोग अफगानिस्तानकी सीमाकी ओर अपनी रेलें भी बढ़ाते आते थे जिसके कारण १९०४ में अँगरेज लोग बहुत तंग हो गये थे। उस वर्षके अन्तमें अँगरेजोंने इस सम्बन्धमें अमीरके साथ बातचीत करनेके लिए एक मिशन काबुल भेजा कि यदि रूसने अफगानिस्तान पर चढ़ाई की, तो उस दशामें क्या किया जायगा। इसके अतिरिक्त सीमाप्रान्तकी उपद्रवी जातियोंके सम्बन्धमें भी कुछ निर्णय होना आवश्यक था। साथ ही मिशनसे यह भी कह दिया गया था कि भारत और अफगानिस्तानके व्यापारके सम्बन्धमें जहाँ तक हो सके, कुछ और सुभीते भी कर लिये जायँ। मिशनको कुछ अंशोंमें सफलता भी प्राप्त हुई। हबीबुल्लाखाँने मंजूर कर लिया कि हम फिरसे उस सन्धिको दोहरा देंगे जो हमारे पिताने की थी; और अब तक हमने अँगरेजोंसे जो वृत्ति लेनेसे इन्कार किया है, वह वृत्ति भी हिसाब करके पूरी पूरी ले लेंगे। यह भी निश्चय हुआ कि अब उस वृत्तिकी रकम बढ़ाकर ड्योढ़ी कर दी जाय, जिसमें हम अपने देशकी रक्षाका और भी अधिक प्रबन्ध कर सकें। उसी अवसर पर पहले पहल अमीरने

मिशनवालोंके साथ, जिनको वे काफिर समझते थे, भोजन किया था। उस समय व्यापारके सम्बन्धमें नई रिआयतोंकी कोई बातचीत नहीं हुई थी; क्योंकि मिशनवाले शुरू शुरूमें ही इसलिए बहुत हाथ पैर नहीं पसारना चाहते थे कि जिसमें अमीर कहीं चौकन्ने न हो जायँ। पर उनकी यह इच्छा अवश्य थी कि अफगान सेनाका अँगरेज अफसरोंकी सहायतासे फिरसे संघटन हो और अफगानिस्तान तक रेल बन जाय, जिसमें रूसियोंके आक्रमण करने पर अफगानिस्तानमें अँगरेजी सेना सहजमें पहुँच सके। अमीरने यह भी कह दिया था कि शीघ्र ही हम यह भी घोषणा कर देंगे कि भारत आनेके सम्बन्धमें बड़े लाटका निमन्त्रण हमें स्वीकृत है।

हबीबुल्लाखाँके शासन-कालके आरम्भमें अँगरेजोंने अफगानिस्तानकी अच्छी सहायता की। सीमाके सम्बन्धमें अफगानिस्तान और फारसमें बहुत दिनोंसे जो झगड़ा चला आता था, अँगरेजोंने उसे तै करा दिया। यह बात १९०५ की है। इसके उपरान्त १९०७ में अँगरेजों और रूसियोंमें सन्धि हो गई। इस सन्धिके कारणों आदिका विचार फारसवाले प्रकरणमें किया गया है। इस सन्धिका प्रभाव फारस और अफगानिस्तान दोनों पर पड़ा। इस सन्धिमें अफगानिस्तानके सम्बन्धमें नीचे लिखी बातें थीं:—

(१) अफगानिस्तानकी वर्त्तमान राजनीतिक स्थिति ज्योंकी त्यों बनी रहेगी। अफगानिस्तानमें न तो ग्रेट ब्रिटेन कोई ऐसा काम करेगा जिससे रूसियोंको किसी प्रकारके भयकी आशंका हो; और न किसी ऐसे कामके लिए वह अफगानिस्तानको उत्तेजित करेगा। अफगानिस्तान पर रूसका कोई प्रभाव नहीं रहेगा और न रूस अपना कोई दूत वहाँ भेजेगा। अफगानिस्तानके साथ रूसके जितने राजनीतिक कार्य होंगे, वे सब ग्रेट ब्रिटेनकी मारफत होंगे।

(२) काबुलकी २१ मार्च १९०५ वाली सन्धिके अनुसार

अफगानिस्तानके किसी अंश पर ग्रेट ब्रिटेन अपना अधिकार न करेगा और न उस देशके आन्तरिक शासनमें किसी प्रकारका हस्तक्षेप करेगा। पर शर्त यह है कि अमीर भी उस सन्धिके निश्चयोंका भंग न करें।

(३) सीमा प्रान्त पर जो रूसी और अफगान अफसर रहेंगे, अथवा जो इस कामके लिए नियुक्त होंगे, वे स्थानिक प्रश्नोंका निर्णय आपसमें ही कर सकेंगे। पर वे प्रश्न राजनीतिक नहीं होने चाहिएँ।

(४) व्यापारके सम्बन्धमें ग्रेट ब्रिटेन और रूसको समान अधिकार प्राप्त होंगे। जितने सुभीते अँगरेज व्यापारियोंको हैं, उतने ही रूसी व्यापारियोंको भी होंगे।

(५) ये निश्चय तब तक कार्य रूपमें परिणत न होंगे, जब तक रूसको ग्रेट ब्रिटेन इस बातकी सूचना न देगा कि अमीरने इन सब बातोंको मान लिया है।

राजनीतिक दृष्टिसे यह इकरारनामा अँगरेजोंके बड़े कामका था; क्योंकि अब भारत पर अफगानिस्तानके रास्ते रूस आक्रमण न कर सकता था। उधर रूस भी कम फायदेमें नहीं था। उसे व्यापारिक और राजनीतिक दोनों प्रकारके सुभीते हो गये थे। वह बिना किसी प्रकारके झगड़े वा झंझटके अफगानिस्तानकी चिन्तासे बच गया था और उसे अपने बुखारा और खीवा आदि रक्षित राज्योंके सम्बन्धमें कोई चिन्ता न रह गई थी। इन शर्तोंके सम्बन्धमें अमीरका कोई उत्तर तो नहीं प्रकाशित हुआ था; पर जान पड़ता है कि वे और उनकी प्रजा इन बातोंसे सन्तुष्ट थीं। अफगानिस्तान दूसरी शक्तियोंसे बात चीत करनेके विषयमें तो अँगरेजोंके अधीन था, पर और बातोंमें पूरी तरह स्वतन्त्र था। रूसियों और अँगरेजोंको व्यापारिक कार्योंके लिए बराबर सुभीते मिल गये थे,

इसलिए अब इस बातकी भी आशंका न रह गई थी कि किसी प्रकारका राजनीतिक असन्तोष अथवा षड्यन्त्र होगा। यदि रूसी और अँगरेज मिलकर फारसके सम्बन्धमें भी आपसमें इसी प्रकार निपटारा कर लेते, तो पश्चिम एशियामें ग्रेट ब्रिटेन बहुत सी कठिनाइयोंसे बच जाता।

हबीबुल्ला खाँके शासनकालके अन्तिम दिनोंमें कोई विशेष महत्व-पूर्ण घटना नहीं हुई। उन्होंने अपने राज्यमें सड़कें बनवाई थीं, टेलिफोन लगवाये थे और रेल बनानेका भी विचार किया था। उनकी प्रजा अशिक्षित थी, इसलिए राजमहलोंको छोड़कर और कहीं अशान्ति या षड्यंत्र नहीं था। उन्होंने अँगरेजोंके साथ अच्छी तरह मित्रता निबाही और अँगरेजी प्रान्त पर आक्रमण करनेवाली सीमा प्रान्तकी जातियोंका दमन किया। इन सब बातोंसे अँगरेज बहुत निश्चिन्त हो गये। गत महायुद्धमें यदि ग्रेट ब्रिटेन और रूस एक ओर न होते, तो उस समय अँगरेजोंको अफगानिस्तानमें बड़ी कठिनताका सामना करना पड़ता जब कि तुर्कोंने जर्मनीका पक्ष ग्रहण किया था। सौभाग्यवश भारतकी रक्षाके लिए युद्धके पहले तीन वर्षोंमें रूसने उत्तरी फारसको खूब अच्छी तरह दबा रखा था; और रूसका अन्त होनेसे पहले ही अँगरेजोंने मेसोपोटामिया तथा दक्षिणी फारसमें अच्छी तरह अपने पैर जमा लिये थे। यही कारण था कि जर्मनीकी यह आशा पूरी नहीं हुई कि जब तुर्क हमारा साथ देंगे, तब अफगानिस्तानमें भी अँगरेजोंके लिए भारी उपद्रव खड़ा हो जायगा। उस समय अफगानिस्तान तटस्थ ही रह गया। सन् १९१५ के अन्तमें जर्मनीने अफगानिस्तानको अँगरेजोंके विरुद्ध उभारनेके लिए वहाँ अपने कुछ दूत भेजे थे; पर उनको कोई सफलता नहीं हुई थी। पर जब रूसमें राज्यक्रान्ति हो गई, तब जर्मनी और तुर्की आदिको अफगानिस्तानमें उपद्रव खड़े करनेका अवसर मिल गया। अब

बोलशेविक लोग १९०७ वाली रूसकी पुरानी सन्धिको नहीं मानते और कहते हैं कि हम एशियामें ब्रिटिश साम्राज्यका अन्त कर देंगे। अब भारतवर्ष तथा रूसी साम्राज्यकी एशियाई देशी रियासतोंकी अवस्थाको अच्छी तरह देखकर ही अफगानिस्तान यह निश्चय करेगा कि हमें अँगरेजोंके साथ कैसा सम्बन्ध रखना चाहिए। पर इसमें सन्देह नहीं कि १९१९ तक अँगरेजोंको अफगानोंसे कोई भय नहीं था।

जिस समय शान्ति महासभाके अधिवेशन हो रहे थे, उस समय हबीबुल्ला खाँके मारे जानेका समाचार पेरिस पहुँचा। कुछ लोग तो कहने लगे कि यह काम बोलशेविकोंका है और कुछ लोग समझते थे कि यह उनके सम्बन्धियों आदिमेंसे ही किसीका काम है। पर पीछे पता चला कि अफगानिस्तानमें अँगरेजोंका प्रभुत्व नष्ट करनेके लिए ही यह हत्या हुई थी। हबीबुल्लाके नये उत्तराधिकारी-ने अपनी पूर्ण स्वतंत्रताकी घोषणा कर दी और भारतकी सीमा पर आक्रमण भी कर दिया। अँगरेजोंने हवाई जहाजोंसे काबुल पर बम आदि गिराकर और अफगानोंको डरा धमकाकर उनसे सन्धि कर ली। पर अभी तक भारत सरकार अफगानोंकी ओरसे निश्चिन्त नहीं हुई।

अब भारतकी दूसरी ढाल तिब्बत को लीजिये। बीसवीं शताब्दीके आरम्भ तक अँगरेजोंको तिब्बतकी विशेष चिन्ता नहीं थी। तिब्बतसे निपटारा करनेका मतलब रूस और चीनसे निपटारा करना है। पर जबसे ग्रेट ब्रिटेनने तिब्बतके साथ निपटारा करनेका विचार किया, तबसे वहाँ प्रजातन्त्रका आन्दोलन आरम्भ हो गया और चीनके साथ युद्ध छिड़ गये। दूसरी कठिनता यह है कि अभी तक लोगोंको उस देश तथा वहाँके निवासियों आदि-का भी विशेष ज्ञान नहीं। यह भी कोई नहीं कह सकता कि वहाँ-

की जनसंख्या कितनी है। अस्तु; जब भारत सरकारने उत्तरमें हिमालय तक और पूर्वमें बरमा तक अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहा, तभी तिब्बतके साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करनेका भी प्रश्न उठा। तिब्बतके साथ व्यापार करनेके लिए भारत सरकारने १८९० और १८९३ में चीनके साथ सन्धियाँ की थीं। पर तिब्बत-वाले बाहरी जगतके साथ व्यापार नहीं करना चाहते थे। पहले भी कई बार भारत सरकारके सामने तिब्बतका प्रश्न आ चुका था; पर कई कारणोंसे वह तिब्बतके कामोंमें किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं करना चाहती थी। एक तो वह चीनको नाराज नहीं करना चाहती थी; और दूसरे वहाँका व्यापार कुछ अधिक लाभदायक भी न था। साथ ही तिब्बतवाले किसी विदेशीको अपने देशमें और विशेषतः अपनी राजधानी लासाके पास तक नहीं आने देते थे। उस पर चीनका भी अधिकार नाम मात्रको ही था। वहाँ चीनियोंके केवल पाँच हजार सैनिक रहते थे।

जब तक तिब्बतवाले विदेशियोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे, तब तक तो अँगरेज चुपचाप थे। पर सन् १९०० में जब उन्होंने यह सुना कि दलाई लामाने अपने एक दूतके हाथ एक पत्र और कुछ नजर रूसके जारके पास भेजी है, तब उनको बहुत चिन्ता हुई। इससे पहले तिब्बतवालोंने कभी अपना कोई दूत युरोपके किसी राजाके पास नहीं भेजा था। यह भी पता लगा कि रूसका एक दूत पहले आकर दलाई लामासे मिल गया था। जुलाई १९०१ में दलाई लामाका एक दूसरा दूत फिर जारके पास गया। रूसके समाचारपत्र कहते थे कि यह दूत जारसे यह प्रार्थना करने आया है कि रूसकी बौद्ध प्रजाको धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो। रूस पहलेसे ही मंचूरिया और मंगोलियामें कुछ उत्पात कर रहा था; इसलिए दलाई लामाका यह अनोखा काम चीन और इंगलैण्डको

बहुत खटका। अँगरेजोंको भय होने लगा कि अब रूस एक नये मार्गसे भारत पहुँचनेका उद्योग कर रहा है। अब अँगरेजी समाचारपत्रोंने शोर मचाना शुरू किया। वे ढूँढ़ ढूँढ़कर तिब्बतवालोंके दोष निकालने लगे और कहने लगे कि—"उन्होंने अमुक समय पर हमारे साथ यह किया, अमुक अमुक सन्धियोंका इस प्रकार पालन नहीं किया, आदि, आदि। उस समय तो हम लोग चीनके खयालसे चुप हो रहे थे। पर अब तो वह खुल्लमखुल्ला रूससे बातचीत कर रहा है। इसलिए अब हमें अपने सीमा-प्रान्तका भी निपटारा कर लेना चाहिए और व्यापारिक सन्धियोंके निश्चयोंको भी काममें लाना चाहिए।" इस काममें चीनको भी अपना साथी बनानेके लिए यह कहा गया था कि—"हमें रूसकी तरह सीधे दलाई लामासे बात-चीत नहीं करनी चाहिए, बल्कि चीनकी मारफत करनी चाहिए।" अब चीनके साथ ग्रेट ब्रिटेनकी बातचीत भी हो गई और मई १९०३ में ग्रेट ब्रिटेनने चीनको यह सूचना दे दी कि सीमा तथा व्यापारिक प्रश्नों पर विचार करनेके लिए भारतके वाइसरायके नियुक्त किये हुए कमिश्नर लोग तिब्बतकी सीमा पर चीनी और तिब्बती प्रतिनिधियोंसे मिलेंगे। तदनुसार जुलाई १९०३ में सिक्कमके अँगरेज पोलिटिकल अफसरके साथ करनल यंगहसबेण्ड तिब्बतकी सीमाके अन्दर खम्भाजंग नामक स्थानमें जा पहुँचे। जब कई महीने तक चीनी और तिब्बती प्रतिनिधि वहाँ नहीं आये, तब अँगरेजोंने वहाँ अपनी सेना बुलाकर तिब्बत पर आक्रमण करनेके लिए सड़कें बनवाना आरम्भ कर दिया। भारत सरकार यह नहीं चाहती थी कि तिब्बत किसी प्रकार रूसके चक्रमें पड़े, इसलिए वह उसे अपने अधिकारमें लाकर लासामें अपना रेजिडेण्ट रखना चाहती थी। उसे चीन अथवा स्वयं तिब्बतवालोंके विरोधकी कोई परवाह नहीं थी। करनल यंगहस-

बेण्ड अपने साथ बहुत सी सेना लेकर गये थे और उन्होंने निश्चय कर लिया था कि यदि तिब्बतवाले हमारा विरोध करेंगे, तो हम उनको उन्हींके देशमें गोलियाँ चलाकर मार डालेंगे।

इंगलैण्डमें कुछ ऐसे उदार-मतवादी भी थे जो भारत सरकार-की इन कार्रवाइयोंको अनुचित समझते थे। उन्होंने इस सम्बन्धमें पार्लिमेण्टमें कुछ प्रश्न भी किये थे। आन्दोलन होने पर ब्रिटिश परराष्ट्र विभागको एक विवरणपत्र प्रकाशित करना पड़ा जिसमें सन् १८७४ से लेकर १९०४ तकके भारत, तिब्बत और चीनके झगड़ोंका उल्लेख था। उस विवरणपत्रसे मालूम होता था कि भारत सरकार यह चाहती थी कि लासा तक सेना भेज दी जाय और बिना कुछ बातचीत किये ही वहाँ स्थायी रूपसे रेजिडेण्ट नियुक्त कर दिया जाय। ब्रिटिश सरकारने भारत सरकारकी यह बात तो नहीं मानी, पर तिब्बत पर आक्रमण करनेके सिद्धान्तको मान लिया था। इसीके अनुसार १९०४ के आरम्भमें यंगहस-बेण्डने तिब्बतमें आगे बढ़ना आरम्भ किया और दस दिनकी तीन लड़ाइयोंमें तिब्बतियोंको परास्त किया। तिब्बतियोंके पास न तो अच्छे हथियार थे और न लड़नेवाले; इसलिए पहली ही लड़ाईमें अँगरेजोंने उनके छः सौ सैनिकोंको मार डाला और दो सौको कैद कर लिया। इसके बाद गैंगमीसे यंगहसबेण्डने दलाई लामाको एक पत्र भेजा कि यदि २५ जून तक कोई उत्तर न आवेगा और कुछ निश्चय न होगा, तो अँगरेजी सेना लासा पहुँच जायगी। पर वह पत्र ज्योंका त्यों बन्द ही उनके पास वापस आया; इसलिए उन्होंने कुछ और सेना अपनी सहायताके लिए मँगवाई और ३ अगस्तको लासा पर अधिकार कर लिया। ये युद्ध क्या हुए थे, मानो कत्ले-आम हुआ था। अँगरेजोंके केवल सैंतीस सिपाही काम आये, पर तिब्बतियोंके पन्द्रह सौ आदमी मारे गये। दलाई लामा भाग-

कर मंगोलिया चले गये। ग्रेट ब्रिटेनने ७ सितम्बरको तिब्बतियोंसे जबरदस्ती एक सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर करा लिये। उस सन्धिपत्र-के अनुसार निश्चय हुआ कि व्यापार-कार्यके लिए तिब्बत खुल जायगा, बिना अँगरेजोंकी सम्मतिके तिब्बतवाले अपने देशका कोई अंश किसी दूसरी शक्तिको न दे सकेंगे, कोई दूसरी शक्ति तिब्बत-के कार्योंमें हस्तक्षेप न कर सकेगी और न वह वहाँ अपना प्रति-निधि भेज सकेगी, और किसी विदेशी शक्तिको उस समय तक व्यापार-सम्बन्धी कोई अधिकार नहीं दिया जायगा, जब तक वैसा ही अधिकार अँगरेजोंको भी न मिले। इसके अतिरिक्त अँगरेजोंने उनसे युद्धकी क्षतिपूर्तिके लिए पाँच लाख पाउण्ड भी लेना निश्चित किया और कहा कि जब ये पाँच लाख पाउण्ड हमें मिल जायँगे और तीन वर्ष तक तिब्बतके बाजार हमारे व्यापारके लिए खुले रहेंगे, तब हम चम्बीकी तराई परसे अपना अधिकार उठा लेंगे; और नहीं तो तब तक वह तराई हमारे ही अधिकार-में रहेगी।

इस पर पार्लिमेण्टमें बहुत शोर मचा। इसका कारण यह था कि एक तो तिब्बतके साथ अन्याय हुआ था; और दूसरे लोगोंको यह भय था कि यदि चम्बीकी तराई पर स्थायी रूपसे अधिकार कर लिया जायगा तो चीन नाराज हो जायगा। इस पर अँगरेजोंने क्षतिपूर्तिकी रकम घटाकर एक तिहाई कर दी, क्योंकि उनका उद्देश्य तो सिद्ध हो ही गया था। वे तिब्बतवालोंको केवल यही दिखलाना चाहते थे कि यदि भारतकी सीमा परके किसी देश पर रूस अपना प्रभाव डालना चाहेगा, तो ग्रेट ब्रिटेनको वह सह्य न होगा। और तिब्बत पर आक्रमण करके यह बात उन्होंने अच्छी तरह दिखला भी दी थी। इसके उपरान्त २७ अप्रैल १९०६ को उस सन्धिमें कुछ परिवर्तन करके चीनने भी उसे स्वीकृत कर लिया।

ग्रेट ब्रिटेनने वादा कर दिया कि हम न तो तिब्बतके किसी प्रदेश पर अधिकार करेंगे और न उसके शासन-कार्यमें हस्तक्षेप करेंगे; और चीनने वचन दिया कि हम तिब्बतमें किसी दूसरी शक्तिको हस्तक्षेप न करने देंगे और क्षतिपूर्तिकी रकम दिलवा देंगे।

जब १९०७में अँगरेजों और रूसियोंमें सन्धि हुई, तब दोनोंका तिब्बतका झगड़ा भी निपट गया। तिब्बत पर दोनों शक्तियोंने चीनका अधिकार मान लिया, उसके किसी प्रदेश पर अधिकार न करनेका वचन दिया, उसके शासनमें हस्तक्षेप न करनेका संकल्प किया और कह दिया कि हम लोग अपना प्रतिनिधि लासा नहीं भेजेंगे, बल्कि केवल चीनकी मारफत ही उससे व्यवहार रखेंगे। रूसने तिब्बतमें ग्रेट ब्रिटेनका विशेष स्वत्व भी मान लिया और दोनोंने निश्चय कर लिया कि १९११ के पहले न तो हम लोग वहाँ अपने या अपनी प्रजाके लिए रेल, तार आदि बनवानेका विचार करेंगे और न वहाँ किसी प्रकारका मिशन आदि ही भेजेंगे।

इधर तो रूस और ग्रेट ब्रिटेन तिब्बतसे अलग हो गये और उधर दलाई लामा लाससे चले गये। अब चीनको वहाँ अपना पूरा प्रभुत्व जमानेका अवसर मिल गया। रूस-जापान युद्धमें रूसके पराजयके कारण सारे एशियामें राष्ट्रीय भावोंका प्रचार होने लग गया था; इसलिए तुर्कीकी तरह चीन भी यह चाहता था कि हमारे अधीनस्थ प्रदेशोंका कोई अंश किसी दूसरी शक्तिके अधिकारमें न रहने पावे। इसलिए वह तिब्बत पर अपना पूर्ण अधिकार जमाना चाहता था। १९०८ में दलाई लामाने पेकिंग पहुँचकर यह निश्चय कराना चाहा कि तिब्बतका प्रधान राजनीतिक शासक अथवा राजा मैं ही माना जाऊँ। पर चीनने उनको उत्तर दिया कि राजनीतिक अधिकारकी कौन कहे, यदि हम चाहें तो उस परसे हम तुम्हारा धार्मिक अधिकार भी हटा सकते हैं। एक

वर्ष बाद दलाई लामाने लासा पहुँचकर देखा कि वहाँ चीनी सैनिकोंका पूर्ण अधिकार है और चीनी राजदूत वहाँका वाइसराय बना दिया गया है। जब दलाई लामाने अपना पुराना अधिकार फिरसे जमाना चाहा, तब चीनी सैनिकोंने उनके कई साथियोंको मार डाला। दलाई लामा भागकर भारत चले आये और चीनने एक घोषणापत्र प्रकाशित करके उनको पदच्युत कर दिया।

१९१२ की राज्यक्रान्तिके समय वेतन और भोजन आदि बन्द हो जानेके कारण लासाके चीनी सैनिकोंने विद्रोह कर दिया और तिब्बती मठों पर आक्रमण किया। उस समय तिब्बतियोंने उनको मारकर भगा दिया और वे भारतके रास्ते तिब्बतसे भागे। अब दलाई लामा फिर लासा पहुँचे और चीनसे उनको फिर पुराने अधिकार आदि मिल गये। इसके उपरान्त जब चीनने फिर तिब्बत पर आक्रमण करके उसे अपने अधिकारमें करना चाहा, तब अँगरेजोंने चीनका भी विरोध किया। अन्तमें अँगरेजोंके कहने पर भारतमें ही चीन और तिब्बतके प्रतिनिधि अपना झगड़ा निपटानेके लिए एकत्र हुए। दलाई लामाने चीनियोंसे बचनेके लिए अँगरेजोंको अपनी ओर मिला लिया था। युरोपीय महायुद्धके समय तक उन दोनोंका कुछ भी फैसला नहीं हुआ था। पर यह जान पड़ता था कि तिब्बतको भारत सरकारका आश्रय मिल गया है। गत युद्धमें तिब्बतने अँगरेजोंकी सहायताके लिए कुछ सैनिक भी भेजे थे। इसके अतिरिक्त व्यापारमें भी अँगरेजोंको अब तक तिब्बतसे बहुत अधिक लाभ हुआ है। गत महायुद्धके समय तो वह लाभ बढ़कर ड्योढ़ा हो गया था। और तिब्बतके हाथमें आ जानेसे भारतकी उत्तरी सीमाके रक्षित रहनेके कारण जो लाभ हुआ है, उसकी कोई गिनती ही नहीं है।

गत महायुद्धमें चीनने भी जर्मनीके साथ युद्ध-घोषणा कर दी

थी, पर उससे मित्र शक्तियोंको कोई विशेष लाभ नहीं हुआ; क्योंकि युद्ध-कालमें चीनमें बहुत कुछ आन्तरिक झगड़े होते रहे। तिब्बतमें भी कुछ उपद्रव हुआ था। १९१८ के अन्तमें समाचार मिला था कि तिब्बतियोंने चीनी आक्रमणकारियोंको अपने देशसे मारकर निकाल दिया। चीनके आन्तरिक झगड़े अभी तक समाप्त नहीं हुए हैं। यदि चीनवालोंको प्रजातन्त्र स्थापित करनेमें सफलता हो गई, तो सम्भवतः वे पाश्चात्य देशोंकी भाँति अपने देशका संघटन करेंगे और उसे युरोपीय ढंग पर लावेंगे। यदि चीनवाले इसमें सफल हो गये तो फिर तिब्बत आज-कलकी तरह भारतकी ढालका काम न दे सकेगा। उस समय वह चीन, जापान और भारत आदिका साथी बन जायगा और एशियाको युरोपवालोंके पंजेसे छुड़ानेके प्रयत्नमें लग जायगा।

(३)

बीसवीं शताब्दीमें भारत

यों तो किसी एक देशको दूसरे देश पर शासन करनेका कोई अधिकार नहीं है, परन्तु भारतवासियों पर अँगरेजोंका शासन करना तो और भी अधिक आपत्तिजनक है। ईस्ट इण्डिया कम्पनीने जिस प्रकार बेचारे भारत-को पीसकर अपने अधीन किया था, उसका सच्चा इतिहास पढ़कर कोई सहृदय अँगरेज यह नहीं कह सकता कि अँगरेजोंने भारत-को केवल उन्नत और सभ्य बनानेके लिए ही यहाँ आनेका कष्ट

उठाया था और यहाँ आकर इतना उद्योग किया था। इसमें सन्देह नहीं कि भारतमें अँगरेजी राज्य स्थापित करनेवालोंमें अनेक गुण थे। पर वे गुण ऐसे ही थे जो लूट-मार करनेवालों और डाका डालनेवालोंके लिए आवश्यक हुआ करते हैं। परोपकारी महात्माओंके गुणोंसे उन गुणोंका कोई सम्बन्ध नहीं था। बल्कि वे लोग तो खुलेआम यह बात मंजूर करते थे कि हम लोग लूट-खसोट करनेके लिए ही घरसे निकले हैं और जिसके पास लाठी होती है, भैंस भी उसीकी होती है। वे अपने कार्योंको न्याययुक्त सिद्ध करनेका प्रयत्न नहीं करते थे। न तो वे अपने सत्कार्यों और उपकारोंके गीत गाते थे और न उन लोगों पर नाराज होते थे जो उनके अधिकारोंका विरोध करते थे। वे समझते थे कि जिस प्रकार हम लूट-खसोट कर सकते हैं, उसी प्रकार लूटे जानेवाले लोग चिल्ला भी सकते हैं और अपनी रक्षाका प्रयत्न भी कर सकते हैं।

यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यमें ब्रिटिश सरकारने ईस्ट इण्डिया कम्पनीके हाथसे भारतका शासन-कार्य स्वयं ले लिया, तथापि पुराना शासनक्रम ज्योंका त्यों बना रहा। यहींके धनसे यहाँ अनेक अँगरेज अफसर तथा सैनिक रखे गये और यहाँके आर्थिक तथा राजनीतिक बन्धनोंको और भी दृढ़ करने तथा स्वयं अपने भाइयोंसे ही लड़नेके लिए अनेक भारतवासी भी सेनामें भरती किये गये। १८७६ में महारानी विक्टोरियाने भारतकी सम्राज्ञीका पद ग्रहण किया। तबसे यहाँ राजप्रतिनिधिके रूपमें बराबर एक वाइसराय रहता है, जो है तो भारत-सचिवकी अधीनतामें, पर अनेक अवसरों पर जिसकी शक्तिकी कोई सीमा ही नहीं होती। अब तक शासन-कार्यमें दो एक किस्तोंमें भारतवासियोंको थोड़े बहुत अधिकार दिये गये हैं, पर भारतवासी पूर्ण स्वराज्य चाहते हैं। आजकल अनेक अँगरेज राजनीतिज्ञोंके सामने भारतकी स्वतंत्रता-

का ही विकट और जटिल प्रश्न उपस्थित है। इंगलैण्डने यह कह-कर राष्ट्र संघको इस बीचमें पड़नेसे रोक दिया कि किसी दूसरेको हम इसमें हस्तक्षेप करने देना नहीं चाहते। वह कहता है कि यह हमारे साम्राज्यका आन्तरिक प्रश्न है, इसकी मीमांसा हम आप ही कर लेंगे।

पर सबसे अधिक दुःख तो इस बातका है कि लोग समयका रुख देखते हुए भी अन्धे बने हुए हैं। संसारकी सारी आबादीका पाँचवाँ भाग इस समय भारत सरकारकी अधीनतामें है; और इतनी बड़ी जनसंख्यामें ब्रिटिश शासनके प्रति दिन पर दिन असन्तोष बढ़ता ही जाता है। जब तक भारतका शासन-कार्य केवल भारतके ही लाभके लिए न होने लगे और जब तक भारतको पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनेका निश्चय न हो जाय, तब तक यह असन्तोष कभी घट नहीं सकता। भारतका असन्तोष प्रकारान्तरसे सारे एशियाके असन्तोषका कारण हो रहा है। भारतके प्रश्नके साथ फारस, मध्य एशिया, साइबेरिया और चीनके प्रश्नोंका भी ओतप्रोत सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त सारे मुसलमान जगत्‌में जो कुछ हो रहा है, भारतके सात करोड़ मुसलमान उससे भी उदासीन नहीं रह सकते। इसी लिए वे खिलाफतके प्रश्न पर भी घोर आन्दोलन कर रहे हैं।

बीसवीं शताब्दीके आरम्भमें सारे एशियामें स्वराज्यके लिए जो आन्दोलन आरम्भ हुआ था, उसका सबसे अधिक प्रत्यक्ष प्रमाण भारतमें ही मिलता है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी दृष्टियोंसे अँगरेजोंके विरुद्ध भारतकी बहुत बड़ी बड़ी शिकायतें हैं। प्रायः भारतवासियोंको अँगरेज बहुत ही तुच्छ और घृणित समझते हैं। यहाँ तक कि १९१६ में एक महाराजने मि० गिबन्ससे कहा था कि हमारी सहनशीलताकी पराकाष्ठा हो गई है। अब हम लोग अधिक दिनों तक अँगरेजोंका बोझ नहीं सह

सकते। यह तो समाजिक असन्तोष है। आर्थिक दृष्टिसे भारतमें अब बहुत अधिक अकाल पड़ने लग गये हैं और अँगरेज उन्हें रोकनेमें अधिक असमर्थ हो रहे हैं। इसके अतिरिक्त भारतका बहुत अधिक धन दिन पर दिन खिचता हुआ विलायत चला जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि भारत संसारके सब देशोंसे अधिक दरिद्र हो गया है। आजकल जो राजनीतिक आन्दोलन हो रहा है, वह इतना तीव्र है कि अनेक बड़े बड़े राजनीतिज्ञोंको भी उसके सम्बन्धमें चिन्ता होने लगी है।

पर फिर भी अधिकांश अँगरेज़ ऐसे ही हैं जो सदा यह समझते हैं कि भारतवासियों पर शासन करके हम उनका बहुत अधिक कल्याण कर रहे हैं। भारतके सम्बन्धमें अंगरेजोंके लिखे हुए जो ग्रन्थ मिलते हैं, प्रायः उन सबमें अँगरेजी शासनकी प्रशंसाके ही गीत भरे होते हैं। उनके लेखोंमें इस देशके आयात और निर्यात, कृषि, स्वास्थ्य, शिक्षा और शिल्प आदिकी अवस्था पर कुछ भी विचार नहीं होता। बड़े बड़े अँगरेज अफसर भी कभी यह सोचनेका कष्ट नहीं उठाते कि भारत सरीखे परम दरिद्र देशसे उसकी इच्छाके विरुद्ध इतनी बड़ी बड़ी तनखाहें लेनेका हमें क्या अधिकार है। उन्हें कभी यह सोचनेकी आवश्यकता ही नहीं जान पड़ती कि जिस परिस्थितिमें पड़े हुए भारतवासियोंको हम राजद्रोह आदि अपराधोंके लिए दण्ड देते हैं, यदि उन्हीं परिस्थितियोंमें हम स्वयं पड़े हुए होते, तो हम भी इसी प्रकारके कार्य करते या नहीं। बात यह है कि अँगरेजोंमें बहुत ही उत्कट देशप्रेम होता है। उस देशप्रेमके आगे उनको और कुछ दिखाई ही नहीं देता। वे अपने देशकी सेवाके सामने मानव जातिकी सेवा अथवा कल्याणको कोई चीज ही नहीं समझते। पर यदि कोई सहृदय अँगरेज निष्पक्ष होकर भारतकी वास्तविक स्थिति पर विचार करेगा, तो इसमें सन्देह

नहीं कि उसे अपना भ्रम मालूम हो जायगा और वह समझने लगेगा कि भारतवासियोंकी शिकायतें बहुत ही वाजिब हैं। अब तक जिन उदार-हृदय अँगरेज सज्जनोंने ऐसा किया है, उन्होंने यही परिणाम निकाला है कि अब भारतवासियोंके लिए हम गोरोंका बोझ असह्य हो गया है। वे समझते हैं कि हम शासन, व्यापार, नौकरी आदि अनेक मदोंसे भारतका बहुत अधिक धन लेकर उसे दरिद्र करते जा रहे हैं और स्वयं धनवान् बनते जा रहे हैं। कभी कभी कुछ स्वार्थी अँगरेज यह कह बैठते हैं कि व्यापार आदिके रूपमें हम भारतका जो धन लेते हैं, उसके बदलेमें हम उत्तमतापूर्वक उसका शासन कर देते हैं। पर वे यह नहीं समझते कि उस शासनके लिए वे भारतसे अलग बहुत बड़ी रकम ले लेते हैं। एक अँगरेज सज्जनका कथन है कि भारतका शासन करके अँगरेज उसका कोई उपकार नहीं करते; क्योंकि वहाँ बहुत अधिक अँगरेजोंको बड़ी बड़ी तनख्वाहें मिलती हैं। संसारके और किसी देशमें न तो इतने अधिक अँगरेजोंको नौकरियाँ ही मिल सकती हैं, और न इतनी बड़ी बड़ी तनख्वाहें ही।

भारतके सम्बन्धमें अँगरेजोंकी लिखी हुई जो बड़ी बड़ी पुस्तकें प्रकाशित होती हैं, उनमें वहाँके बड़े बड़े नगरों, दरबारों, सेनाओं, रेलों, अस्पतालों, नहरों, तारों और अँगरेज कर्मचारियोंकी कारगुजारियोंका तो खूब लम्बा चौड़ा जिक्र होता है, पर जिन गरीबोंके धनका अपहरण करके इतने बड़े बड़े काम किये जाते हैं, उनकी दशाका कहीं कोई उल्लेख ही नही होता। यदि कहीं उल्लेख होता भी है, तो वह केवल बलवे या उपद्रव आदिके सम्बन्धमें ही होता है। उस समय भी वहाँ यही लिखा मिलता है कि अमुक स्थान पर एक बहुत बड़ा दंगा या बलवा हो गया था, जिसे सेनाओंने बड़ी बहादुरीसे इतने आदमियोंको मारकर दबाया और उसमें सम्मिलित

होनेवाले इतने नेताओं अथवा आन्दोलनकारियों पर मुकद्दमा चला-कर सरकारने उनको अमुक अमुक दण्ड दिये। गत महायुद्धके समय ब्रिटिश भारतके सम्बन्धमें दो पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं। पहली पुस्तक मि० हिण्डमेनकी The Awakening in Asia या "एशियाकी जाग्रति" थी। मि० हिण्डमेनके पूर्वजोंने भारतमें ग्रेट ब्रिटेनकी बहुत बड़ी बड़ी सेवाएँ की थीं और स्वयं उन्होंने चालीस वर्ष तक भारतकी अवस्थाका बहुत ही अच्छी तरह निरीक्षण किया था। पर उनकी पुस्तकको भी ब्रिटिश सरकारने युद्धकी समाप्तिसे पहले प्रकाशित नहीं होने दिया। दूसरी पुस्तक लाला लाजपतरायकी लिखी हुई थी और उसका नाम England's Debt to India या "इंगलैण्ड पर भारतका ऋण" है। भारत पर अँगरेजोंके शासनके सम्बन्धमें अब तक बड़े बड़े अँगरेजोंने जो सम्मतियाँ दी हैं, उन्हीं सम्मतियोंका इस पुस्तकमें संग्रह मात्र है। यद्यपि स्वयं लाला लाजपतरायने भारत सरकारके हाथों अनेक कष्ट सहे हैं और वे उसके बहुत बड़े विरोधी हैं, पर इस बातसे उनकी संगृहीत सम्मतियोंका महत्व नहीं घट सकता। इन दोनों पुस्तकोंको प्रकाशित हुए कई वर्ष हो गये, पर आज तक एक भी ऐसी पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई जिसमें इन दोनों पुस्तकोंमें कही हुई बातोंका कोई उत्तर दिया गया हो अथवा उनका खण्डन किया गया हो। शायद उन बातोंका खण्डन हो भी नहीं सकता।

भारतका राष्ट्रीय आन्दोलन १९०७ में आरम्भ हुआ था। तबसे अब तक वह बराबर बढ़ता ही जाता है। उस आन्दोलनको दबानेके लिए अँगरेजोंने अब तक जो नाशक उपाय किये हैं, उनका परिणाम केवल यही हुआ है कि अँगरेजोंके न्याय और शासन परसे भारतवासियोंका विश्वास उठ गया है। आरम्भमें जब अनेक बड़े बड़े भारतीय नेता गिरिफ्तार करके बिना मुकद्दमा चलाये ही

जेल भेज दिये गये थे, तब भारतवासियोंने बंगालमें अँगरेज कर्मचारियों पर बम फेंकने आरम्भ किये थे; और जब अनेक राजनीतिक अभियुक्तोंको बिना किसी प्रमाणके फाँसीकी सजा दी जाने लगी, तब उन लोगोंने भी खून-खराबी आरम्भ कर दी थी। जब विद्यार्थियोंको बिना कसूर कोड़े लगाये जाने लगे, तब भारतकी यूनिवर्सिटियाँ भी अँगरेजी शासनके विरोधियोंका अड्डा बनने लगीं। पर ये उपाय भारतवासियोंके अनुकूल नहीं थे और न उचित ही थे; इसलिए शीघ्र ही इनका अन्त हो गया। पर असन्तोष और आन्दोलन बराबर बना ही रहा और दिन पर दिन बढ़ता गया। १९१० में प्रेस एक्टने भारतीय समाचारपत्रोंकी स्वतन्त्रताका नाश कर दिया। १९११ में सेडीशस मीटिंग्स एक्टने लोगोंको सभाएँ आदि करनेसे भी रोक दिया। १९१३ में क्रिमिनल ला एमेण्डमेण्ट एक्ट बनाकर फौजदारीके कानूनमें ऐसा सुधार किया गया जिसमें ऐसे षड़यन्त्रकारियोंको भी दण्ड मिल सके जिनके षड़यन्त्रके कारण किसी प्रकारकी दुर्घटना भी न हुई हो। इससे अँगरेज अधिकारियोंको मनमानी पकड़-धकड़ करनेका कानूनन अधिकार मिल गया। अब यदि कोई इन कानूनोंके विरुद्ध आन्दोलन करे, तो वह बोल्शेविक या अराजक समझा जाता है और उसे उसीके अनुसार दण्ड दिया जाता है।

युद्ध छिड़नेसे कुछ पहले अँगरेज अधिकारी यह समझने लग गये थे कि हमारे भीषण दमनके कारण राष्ट्रीय आन्दोलनको और भी उत्तेजना मिलती है। जब लोकमान्य तिलकके दण्डित होने पर कई दिनों तक बम्बईमें अनेक कारबार बन्द रहे, तब सरकार समझने लगी कि अब भारतवासियोंको भी कुछ अधिकार और कुछ बड़े बड़े पद देने चाहिएँ। आर्थिक कष्टके कारण भारतमें दिन पर दिन जो असन्तोष बढ़ता जाता था, उसको दूर

करनेकी चिन्ता भी कुछ अधिकारियोंको होने लगी। अब राष्ट्रीय भावोंका प्रचार केवल नेताओं और पत्र-सम्पादकोंमें ही नहीं रह गया था, बल्कि सर्वसाधारण तक भी आ पहुँचा था। पर इसी बीचमें युद्ध आरम्भ हो गया और नियमानुसार भारतसे भी सहायता माँगी गई। भारतने भी अपने सब विरोधों और शिकायतोंको ताक पर रखकर जी-जानसे अँगरेजोंकी सहायता की। फ्रान्स, गेलीपोली और मिस्रमें भारतीय सेनाओंने बहुत बड़े बड़े काम किये। मेसोपोटामिया पर भारतीय सैनिकों और भारतीय धनसे ही अधिकार किया गया था। तात्पर्य यह कि भारतने धन और जनसे इंगलैण्डकी खूब ही सहायता की। सबसे मुख्य सहायता यह थी कि भारतवासियोंने युद्धके व्ययके लिए इंगलैण्डको दस करोड़ पाउण्ड भेंट किये थे। यह भेंट भारत सरकारने जबरदस्ती कराई थी और इसमें भारतवासियोंका कोई दखल नहीं था। इस सम्बन्धमें इंगलैण्डके 'नेशन' पत्रने लिखा था:—

"यह तो साफ बेईमानी है। भारतको स्वराज्य प्राप्त नहीं है; और यह दान ऐसी काउन्सिलका किया हुआ नहीं है जो भारतवासियोंकी सच्ची प्रतिनिधि हो, अथवा जो उनके हितका पूरा पूरा ध्यान रखती हो। सरकारके इस अथवा और किसी काममें भारतवासियोंका कोई दखल नहीं है। यदि उनको कुछ भी अधिकार होता, तो वे अपने परम दरिद्र देशसे अपने धनवान् शासकोंके पास इतनी बड़ी रकम भेजनेके पहले बहुत कुछ सोच विचार करते। जिस दरिद्र देश पर पहलेसे ही युद्धके व्ययका बहुत बड़ा बोझ था, उस देशको इतनी बड़ी रकम देनेके लिए सरकारका विवश करना ठीक नहीं था।"

लेकिन फिर भी भारतने जैसे तैसे युद्धका इतना बड़ा व्यय चुपचाप उठा लिया। मिस्रकी तरह भारतमें भी ऐसे राष्ट्रीय दल-

वाले लोग बहुत ही कम थे, जो जाकर जर्मनीसे मिल गये थे और उसीकी विजयके लिए प्रयत्न करते थे। जो थोड़ेसे लोग गये भी थे उनका अपने देशवासियों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं था। प्रायः सभी अच्छे और समझदार नेताओंने अँगरेजोंका ही साथ दिया था। इसके अतिरिक्त युद्धके आरम्भसे ही अँगरेज राजनीतिज्ञ यह घोषणा करते चले आते थे कि हम यह युद्ध किसी देश पर विजय पानेके लिए नहीं कर रहे हैं; बल्कि यह युद्ध इसलिए हो रहा है कि जिसमें सब जातियोंको अपने अपने देशमें आप ही राज्य करनेका अधिकार प्राप्त हो। भारतवासियोंने भी अँगरेजोंकी इन घोषणाओं पर विश्वास कर लिया और हर तरहसे उनकी सहायता की। अँगरेज लोग भी इसलिए भारतकी खूब तारीफें करने लगे कि वह बड़े ही विकट समयमें साम्राज्यकी पूरी पूरी सहायता कर रहा था। इंगलैण्डका उदार दल भारतीय शासनमें कुछ सुधार करने और भारतवासियोंको कुछ अधिकार देनेका भी पक्षपाती हो चला। उधर स्वराज्य प्राप्त करनेके लिए हिन्दू और मुसलमान दोनों मिल भी गये थे; इसलिए भारतके तत्कालीन बड़े लाट लार्ड चेम्सफर्ड और भारत मन्त्री मि० माण्टेग भारतीय शासनके सम्बन्धमें एक रिपोर्ट तैयार करने और उसके सुधारका एक मसौदा बनानेके लिए नियुक्त किये गये। भारतने युद्धमें जो सहायता दी थी, मानों उसीका यह प्रतिफल उसको मिलनेको था। पर यह देखते ही बड़े बड़े राजकर्मचारियों, भारतसे पेन्शन पानेवालों और एंग्लो-इण्डियनोंका पेट फूलने लगा और वे सब आपसमें मिलकर इस बातका उद्योग करने लगे कि किसी प्रकार इन सुधारोंमें बाधा डाली जाय और भारतको विशेष अधिकार न मिलने पावें।

मान्टेग-चेम्सफर्ड रिपोर्टमें जिन सुधारोंकी सिफारिश की गई

थी, वही सुधार यदि आजसे एक पीढ़ी पहले किये जाते तो भारत-वासी उनका यथेष्ट स्वागत करते। पर उस भीषण महायुद्धके उपरान्त, जो सभी देशोंकी स्वतन्त्रताकी रक्षाके लिए किया गया था और जिसमें स्वयं भारतने भी इतनी बड़ी सहायता की थी, ये नाम मात्रके सुधार, और वह भी ऐसे सुधार जिनमें बड़े बड़े अँगरेज राजकर्मचारियोंका एकाधिकार पूर्ण रूपसे सुरक्षित रखा गया था, कभी सन्तोषजनक नहीं हो सकता था। समयको देखते हुए ये सुधार कुछ भी नहीं थे। अगस्त १९१८ में बम्बईमें कांग्रेस-का, आल इण्डिया मुसलिम लीगके सहयोगसे, जो अधिवेशन हुआ था, उसमें हिन्दुओं और मुसलमानोंने मिलकर निश्चित किया था कि इस समय हम लोग कमसे कम कितने सुधारों और कितने अधिकारोंसे सन्तुष्ट हो सकते हैं। उस कांग्रेसके, नीचे दिये हुए, दूसरे और तीसरे प्रस्तावोंसे इस बातका पता चलता है कि उस समय भारतवासियोंके विचार कैसे थे और उनकी उच्चाकांक्षाएँ कहाँ तक बढ़ी हुई थीं।

दूसरा प्रस्ताव—"दिसम्बर १९१६ में लखनऊमें और दिसम्बर १९१७ में कलकत्तेमें इण्डियन नेशनल कांग्रेस और आल इण्डिया मुसलिम लीगके अधिवेशनोंमें स्वराज्यके सम्बन्धमें जो प्रस्ताव स्वीकृत हुए थे, उन प्रस्तावोंका यह कांग्रेस समर्थन करती है; और इस बातकी घोषणा करती है कि जब तक भारतवर्षको साम्राज्यके अन्तर्गत पूर्ण स्वराज्य न मिल जायगा और साम्राज्यके अन्तर्गत दूसरी स्वराज्यभोगी जातियोंके समान अधिकार प्राप्त न हो जायँगे, तब तक यह कांग्रेस कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकती।"

तीसरा प्रस्ताव—"यह कांग्रेस इस बातकी घोषणा करती है कि उत्तरदायित्वपूर्ण शासनके लिए भारतवासी सर्वथा योग्य हैं

और भारतीय सुधार सम्बन्धी रिपोर्टमें इसके विपरीत जो कुछ कहा गया है, उसका यह कांग्रेस खण्डन करती है।"

इसके उपरान्त बम्बईकी कांग्रेसमें निश्चित हुआ था कि ब्रिटिश पार्लिमेण्ट यह मंजूर कर ले कि भारतवासियोंके भी वही अधिकार हैं, जो ब्रिटिश नागरिकोंके हैं; कानूनकी दृष्टिसे सब समान समझे जायँ; सबके मुकदमे खुली अदालतमें और कानूनके अनुसार हों; समाचारपत्रोंको सब प्रकारकी स्वतन्त्रता रहे; और भारतवासियों-को भी फाँसीकी सजा केवल उन्हीं अवस्थाओंमें दी जाय, जिन अवस्थाओंमें ब्रिटिश नागरिकोंको दी जाती है। हिन्दुओं और मुसलमानोंने मिलकर निश्चित किया था कि भारतको तुरन्त उत्तर-दायित्वपूर्ण शासनके अधिकार दिये जायँ; साम्राज्यके अन्य देशोंके समान ही उसे भी अधिकार प्राप्त हों; और इस बातकी घोषणा की थी कि मान्टेग-चेम्सफोर्ड रिपोर्टमें जिन सुधारोंका प्रस्ताव किया गया है, वे सर्वथा निराशाकारक और असन्तोषजनक हैं। भारत-वासी चाहते थे कि विलायतकी प्रिवी काउन्सिल तोड़ दी जाय, भारतीय काउन्सिलमें भारतवासियोंकी यथेष्ट संख्या रहे, लेजि-स्लेटिव एसेम्बलीके चार पंचमांश सदस्य भारतवासियोंके निर्वाचित हों, अर्थ विभाग पर भारतवासियोंका पूर्ण अधिकार हो, ग्रेट ब्रिटेन इस बातका पक्का वादा कर दे कि पन्द्रह वर्षके अन्दर भारतमें पूर्ण उत्तरदायित्वपूर्ण शासन स्थापित कर दिया जायगा, सेनाके कमसे कम एक चौथाई उच्च पद भारतवासियोंको दिये जायँ और आगे यह क्रम बराबर बढ़ता जाय, और जो भारतवासी इस समय बिना मुकदमे और सबूतके जेलमें रखे गये हैं, उनके बारेमें फिरसे जाँच की जाय और खुली अदालतमें उनका विचार हो। इनमेंसे एक भी माँग ऐसी नहीं थी जो अनुचित हो। भारतवासी अपने देशमें अपने लिए केवल वही अधिकार चाहते थे, जो अँग-

रेजोंको स्वयं अपने देशमें प्राप्त हैं और जिनको वे बहुत मूल्यवान् और परम आवश्यक समझते थे। हिन्दू और मुसलमान इस बातमें भी एकमत थे कि शान्ति महासभामें भारतवर्षके प्रतिनिधि भी उसी तरहसे रहें, जिस तरहसे साम्राज्यके अन्य देशोंके रहते हैं। अर्थात् वे प्रतिनिधि लन्दनके चुने हुए न हों, बल्कि भारतवासियोंके सच्चे प्रतिनिधि हों।

परन्तु शान्ति महासभामें मिस्र और आयर्लैण्डके प्रश्नोंकी तरह भारतके प्रश्नोंकी भी उपेक्षा की गई। ब्रिटिश सरकारको इस बातका साहस न हुआ कि वह उनका अच्छी तरह निराकरण करे। उलटे भारतमें दमनका आरम्भ हुआ। अँगरेज अधिकारियोंने इस दमनका कारण यह बतलाया कि भारतमें इस समय राष्ट्रीयताकी जो लहर उठी है, वह वास्तविक नहीं है, बल्कि जरमनोंके बहकानेके कारण और उन्हींकी आर्थिक सहायतासे है; अथवा बोल्शेविकोंके षड्यंत्रोंके कारण है। राष्ट्रीयताके इन भावोंका दबानेके लिए ही १९१९के आरम्भमें भारतमें रौलेट एक्ट पास हुआ; और जब उसका विरोध करनेके लिए महा० गांधीके नेतृत्वमें सत्याग्रह आन्दोलन उठा, तब अँगरेज अधिकारियोंने भयभीत होकर उसे दबाने तथा बदनाम करनेके लिये पंजाबमें मार्शल ला जारी कर दिया और कानून तथा शान्तिके नाम पर वह अत्याचार किया, जिसकी समता किसी सभ्य देश अथवा जातिके इतिहासमें नहीं मिल सकती। उस समय तो वह आन्दोलन किसी प्रकार कुछ समयके लिए दब गया; पर जैसा कि प्रायः सभी दबाये हुए आन्दोलनोंके सबन्धमें होता है, वह आन्दोलन भी थोड़े ही समयके बाद उस भीषण असहयोगके रूपमें आरम्भ हुआ जिसने समस्त ब्रिटिश शासकवर्गको बहुत ही भयभीत कर दिया। जिस प्रकार पंजाबमें अँगरेज अधिकारियोंके अत्याचारकी समता नहीं

हो सकती, उसी प्रकार कोई ऐसा आन्दोलन भी आज तक नहीं हुआ जो अँगरेज शासकोंको भयभीत और चिन्तित करनेमें असहयोग आन्दोलनकी समता कर सके।

बहुत से विचारवान् यह बात पहलेसे ही समझते थे कि यदि इस समय भारतवासियोंकी उच्चाकांक्षाओं पर ध्यान न दिया जायगा और उसे जरमनों तथा बोल्शेविकोंका उपद्रव समझकर उसकी उपेक्षा की जायगी, तो आगे चलकर भारतमें ऐसी भीषण जाग्रति होगी जो सारी ब्रिटिश जातिको कँपा देगी। और वास्तवमें वही हुआ भी। आज भारतमें जो असहयोग आन्दोलन चल रहा है और जिसकी दिन पर दिन वृद्धि होती जा रही है, उसने बहुतसे अँगरेज अधिकारियोंको भय और क्रोधसे पागल कर दिया है और उन्हें किं कर्तव्य विमूढ़ बना दिया है। इस आन्दोलनको दबानेके लिए आजकल भारतमें जो उपाय हो रहे हैं, वे पागलोंके कामोंसे किसी बातमें कम नहीं हैं। आज अँगरेज शासकोंको अपने हितकी बातें भी बुरी मालूम हो रही हैं और वे भारतीय प्रश्नोंका किसी प्रकार निराकरण नहीं कर सकते। दमनके सिवा और कोई उपाय उनकी समझमें ही नहीं आता। अपने शुभचिन्तकोंकी बातकी ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। जिस प्रकार पागल अपने आपको बुद्धिमान् और दूसरोंको पागल समझता है, उसी प्रकार वे भी अपने कार्योंको बुद्धिमत्तापूर्ण और आन्दोलनकारियोंको पागल समझते हैं। इस गड़बड़ीमें उनकी समझमें यह बात किसी प्रकार आती ही नहीं कि इस समय भारतमें जो आन्दोलन हो रहा है, उसकी जड़ बहुत गहरी है और वह ओछे दमनसे कभी किसी प्रकार दब ही नहीं सकता। आज उनको यह बात कोई नहीं समझा सकता कि इस अशान्ति और आन्दोलनका मुख्य कारण यह है कि आप लोग सौ डेढ़ सौ वर्षोंसे भारतको बेतरह

लूट रहे हैं, उसे हर तरहसे दबा रहे हैं और आपके शासनसे उसे अब तक कोई बहुत बड़ा लाभ नहीं हुआ। भारतवासियोंकी औसत आयु केवल तेइस वर्ष है, जब कि अँगरेजोंकी औसत आयु चालीस और न्यू जीलैण्डवालोंकी साठ वर्ष है। १८५० में भारतवासियोंकी औसत आमदनी चार आने रोज थी, पर १८८२ में वह घटकर तीन आने रोज हो गई और १९०० में केवल डेढ़ ही आने रह गई। भारतवासियोंकी बहुत बड़ी संख्या बारहो महीने दिनमें केवल एक बार और वह भी आधे पेट और बहुत ही रूखा सूखा कदन्न खाकर किसी प्रकार अपना निर्वाह करती है। भारतकी इस दुरवस्थाका तभीसे आरम्भ हुआ है, जबसे इंगलैण्डने उसका धन खींच खींचकर अपना घर भरना शुरू किया। नहीं तो अँगरेजोंके आनेसे पहले भारत बहुत ही सुखी और धनधान्यपूर्ण देश था। पर वही भारत आजकल जिस दुर्दशामें फँसा हुआ है, उस दुर्दशामें संसारका और कोई देश नहीं है। दूसरे देशोंकी बात जाने दीजिये, भारतके आस पासके ही उन देशोंमें भी वह दुर्दशा नहीं है जिन पर प्रत्यक्ष रूपसे अँगरेजोंका शासन नहीं है। ऐसी दशामें इस बातसे कौन इन्कार कर सकता है कि भारतकी दुर्दशाके मूल कारण अँगरेज हैं। और जब एक बार यह बात मान ली जाय, तब फिर भारतको पूर्ण अधिकार देना भी परम आवश्यक हो जाता है। इसी लिए भारत मन्त्री मि० मान्टेगने अपने सुधारोंके प्रस्तावोंकी भूमिकामें यह बात स्पष्ट रूपसे स्वीकृत की थी कि भारतको पूर्ण अधिकार देनेसे इन्कार करना अनुचित है। उन्होंने कहा था—

"बार बार इस बातकी ओर ध्यान दिलाया जाता है कि युरोपमें अँगरेज लोग स्वतन्त्रताका पक्ष लेकर लड़ रहे हैं; और यह कहा जाता है कि ग्रेट ब्रिटेन जिस स्वतन्त्रताके लिए युरोपमें

लड़ रहा है, वह स्वतंत्रता भारतवासियोंको देनेसे वह इन्कार नहीं कर सकता। और फिर स्वतंत्रताके इस युद्धमें इंगलैण्डको भारत-वासियोंसे भी तो धन और जनकी सहायता मिली है।"

परन्तु हाथीके दाँत खानेके और, और दिखानेके और ही हुआ करते हैं। जो मि० मान्टेग इस तरहकी बातें करते थे, वही भारतको नाम मात्रके अधिकार देकर अभी और अधिक अधिकार देनेसे इनकार कर गये। बात यह है कि जहाँ स्वार्थ और आर्थिक लाभका प्रश्न होता है, वहाँ चाहे किसी मौके पर न्याय सामने आ भी जाय, पर फिर भी उसकी ओर पूरा पूरा ध्यान देते और उसका आदर करते नहीं बनता। देखें, भारतवासी इस दुर्दशासे कब छूटते हैं और कब अँगरेज इस पाप-कृत्यसे हाथ खींचते हैं। ईश्वर करे, भारत स्वाधीन हो और शीघ्र ही स्वाधीन हो; क्योंकि उसके स्वाधीन होनेमें ही उसका और इंगलैण्डका सच्चा हित और कल्याण है।

(४)

अँगरेजोंके एशियाई उपनिवेश आदि

भूमध्य सागरमें अरबके पश्चिम साइप्रस टापूसे लेकर चीनके पूर्वी बन्दर वेई हई वेई तक एशिया महाद्वीप-के दक्षिणार्धमें जितने टापू, प्रायद्वीप, बन्दर और दूसरे युद्धोपयोगी स्थान हैं, उन सब पर केवल अँगरेजी झण्डा ही फहराता हुआ दिखाई देता है। नकशा देखते ही इस बातका पता लग जाता है कि समुद्री मार्गों पर जिन जिन स्थानोंसे अधिकार

रक्खा जा सकता है, उन सभी स्थानों पर अँगरेजोंका कब्जा है। यदि अँगरेजोंके पास सबसे बड़ी और सबसे अधिक शक्ति-शालिनी जलसेना न हो, तो दक्षिणी एशिया पर अधिकार रखना उनके लिए बहुत ही दूभर हो जाय। ग्रेट ब्रिटेन समुद्रोंका स्वामी है; उसे किसी प्रतिद्वन्द्वीका भय नहीं है; वह जो कुछ आज्ञा दे, उसका पालन सभी युरोपियनों, सभी एशियाइयों और सभी अमेरिकनोंको समान रूपसे करना चाहिए। एशियाके इस विस्तृत और पूर्ण अधिकारके कारण ग्रेट ब्रिटेनको जो आर्थिक और व्यापारिक लाभ होता है, वह बेहिसाब है। उसका अन्दाज नहीं लगाया जा सकता। जो कारखानेदार और व्यापारी ग्रेट ब्रिटेनमें जन्म लें, वे बड़े ही भाग्यवान् हैं। और स्थानोंकी अपेक्षा दक्षिणी एशियामें तो उनकी पूरी चाँदी है। तुर्किस्तानसे लेकर चीन तक, उनके अधिकारमें साइप्रस, स्वेज, पेरिम बन्दर, अदन, सुकोट्रा कुरिया मुरिया और बेहरिन टापू, दक्षिणी फारस, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, भारतवर्ष, लखदीप और मालदीप, लंका, बरमा, अण्डमन, नीकोबार, मलय देश, सिंगापुर, सरवक, उत्तरी बोर्नियो, हांगकांग और वेई हई वेई आदि सभी स्थान हैं।

साइप्रससे भूमध्य सागर, सीरिया और मिसरकी रक्षा होती है। पेरिम और अदनसे बाबुल मन्दप और लाल समुद्रकी हिफा-जत होती है। अदनकी खाड़ीकी पहरेदारीके लिए सुकोट्रा आदि टापू हैं। दक्षिणी अरब पर निगाह रखनेके लिए कुरिया मुरिया टापू और खाड़ी इतने कामकी है कि उसके लिए अँगरेज लोग फ्रान्ससे लड़ गये थे। फारसकी खाड़ीके लिए बेहरिन टापू है ही। लखदीप,, मालदीप और लंका आदिसे भारतकी अच्छी तरह रक्षा हो जाती है। अण्डमन, नीकोबार और सिंगापुर आदिसे मलक्का जलडमरूमध्यकी देख रेख हो जाती है। हांगकांग तो चीनका

बड़ा दक्षिणी बन्दर है ही। और उधर वेई हई वेईमें अँगरेज लोग मौका पड़ने पर जापानियोंका मुकाबला करनेके लिए सदा तैयार ही रहते हैं। बस, अब एशियाके दक्षिणार्धमें और रह ही क्या गया?

सन् १९१४ के बाद तुर्की आदिसे अँगरेजोंको जो प्रदेश मिले हैं, उनको तथा अफगानिस्तानके कुछ भागोंको छोड़कर सारे एशियामें अँगरेजोंके अधिकारमें २१,००,००० वर्ग मील भूमि है जिसमें ३६,००,००,००० आदमी बसते हैं। इतने विस्तृत देशमें केवल १,७०,००० युरोपियन और अमेरिकन हैं। इनमेंसे दो तिहाई ब्रिटिश प्रजा हैं और एक तिहाई दूसरे देशोंकी प्रजा। यदि इनमेंसे भी सरकारी कर्मचारियों और पादरियों आदिको निकाल दिया जाय, तो एशियाके अँगरेजी राज्योंमें बसनेवाले युरोपियन बहुत ही थोड़े रह जाते हैं। अर्थात् थोड़ेसे अँगरेजोंका ही सारे दक्षिणी एशियामें पूरा पूरा राज्य है।

ब्रिटिश साम्राज्यमें चार प्रकारके देश हैं। स्वतन्त्र और स्वराज्यभोगी देश, उपनिवेश, संरक्षित देश और अधीनस्थ या मातहत देश। इनमेंसे अन्तिम कोटिकी कोई ठीक ठीक परिभाषा नहीं दी जा सकती। इसमें विशेषतः एशियामें अनेक ऐसे देश हैं, जिन पर प्रत्यक्ष रूपसे अँगरेजोंका शासन नहीं है अथवा जो नियमानुसार संरक्षित देशोंमें सम्मिलित नहीं किये गये हैं; तो भी वे हर तरहसे अँगरेजोंके दबावमें ही हैं। इसलिए दूसरी शक्तियोंको सदा उन प्रदेशोंके बाहर रहना चाहिए।

भारत सरकार धीरे धीरे स्वतन्त्र और स्वराज्यभोगी होती जा रही है; क्योंकि उसके कार्यों और नीतियों आदि पर इंगलैण्डका उतना अधिक प्रत्यक्ष अधिकार नहीं है। बल्कि कभी कभी तो किसी बातमें भारत सरकार और ब्रिटिश परराष्ट्र विभागमें कुछ विरोध भी हो जाता है। स्वयं भारत सरकार तो बहुत सी बातोंमें

स्वतन्त्र है, पर उसकी स्वतन्त्रतामेंसे कोई अंश भारतवासियोंके पल्ले नहीं पड़ता; क्योंकि देशके शासन-कार्योंमें उसका कोई विशेष अधिकार नहीं है। यदि आप चाहें तो कह सकते हैं कि भारतमें देशी राजाओंकी सहायतासे थोड़ेसे विदेशी राजकर्मचारी और अधिकारी ही मनमाना राज्य करते हैं। भारतके बाहर बरमा, अण्डमन और नीकोबार भी भारतके ही प्रदेश हैं। बलूचिस्तानका कुछ अंश संरक्षित देशके रूपमें और कुछ अधीनस्थ देशके रूपमें भारत सरकारके ही अधिकारमें है। अदन पर बम्बईका और लखदीप तथा मालदीप पर मदरास प्रान्तका अधिकार है। इसके अतिरिक्त बेहरिन टापू, अफगानिस्तान और सिक्कम आदि भी भारतके ही संरक्षित देश हैं। लंका, मालदीप टापू, साइप्रस, हांगकांग, वेई हई वेई और स्ट्रेट्स सेटिल्मेण्ट्स आदि उपनिवेश हैं और उन पर ग्रेट ब्रिटेनका प्रत्यक्ष अधिकार है। मलय स्टेट्स, ब्रिटिश उत्तरी बोर्नियो, ब्रूनेई और सरवक संरक्षित प्रदेश हैं; और नेपाल, भूटान, तिब्बत और चीनकी यांग्सी घाटी अधीनस्थ, पर स्वतन्त्र प्रदेश हैं; और इन सबका भी प्रत्यक्ष ग्रेट ब्रिटेनसे ही सम्बन्ध है।

ब्रिटिश भारतके सम्बन्धकी बातें पिछले प्रकरणमें दी जा चुकी हैं। इस प्रकरणमें हम संक्षेपमें यह बतलानेका प्रयत्न करेंगे कि एशियामें ग्रेट ब्रिटेनने अन्यान्य स्थानों पर किस प्रकार अधिकार किया है और उनके शासनसे सम्बन्ध रखनेवाली मुख्य मुख्य बातें क्या हैं।

नेपोलियनके युद्धोंके समय अँगरेजोंने डचोंसे लंका ली थी और उसे उन्नीसवीं शताब्दीके आरम्भमें उपनिवेश बनाया था। डचोंका वहाँकी प्रजा आदि पर कोई विशेष अधिकार नहीं था। पर अँगरेजोंने कुछ तो स्वयं विजय प्राप्त करके और कुछ वहाँके राजाओंको विप्लवकारियोंके विरुद्ध सहायता देकर देशको अपने

हाथमें किया था। इन सौ वर्षोंमें अँगरेजोंको वहाँके शासनमें प्रायः कुछ भी कठिनता नहीं हुई है। वहाँ प्रायः पैंतालीस लाख आदमी बसते हैं, जिनमेंसे अधिकांश सिंहाली और तामील हैं। ये लोग भारतसे आये थे और इन्होंने वहाँके आदिम निवासियोंको मार भगाया था। यह उपनिवेश अनेक दृष्टियोंसे बहुत ही सम्पन्न है और इसे किसी बातके लिए दूसरोंका आसरा नहीं देखना पड़ता। यह अपनी सब आवश्यकताएँ आप ही पूरी कर लेता है। इसका अधिकांश व्यापार भारत और ग्रेट ब्रिटेनके साथ है और इसकी सेना आदिका व्यय वहींके राजकरसे निकल आता है। अँगरेजोंने यहाँका आर्थिक प्रबन्ध बहुत ही उत्तमतापूर्वक किया है। इस पर ऋण बहुत ही कम है; और जो है भी, वह केवल रेलों, सड़कों, बन्दरों तथा दूसरे उपयोगी और लाभदायक कामोंके लिए ही लिया गया है। हाँ, शिक्षाके लिए वहाँ कोई विशेष उद्योग नहीं किया गया। यद्यपि वहाँ अँगरेजोंकी बस्ती दस हजारसे भी कम है, तो भी शिक्षाके लिए निश्चित राजकरके एक पंचमांशका आधा केवल विदेशियोंकी शिक्षाके लिए ही व्यय होता है। गत युरोपीय युद्धके समय तक वहाँके निवासियों पर भारतके राजनीतिक आन्दोलनका प्रायः कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा था। जून १९१५ में कुछ उपद्रव उठनेके कारण वहाँ मार्शल ला जारी किया गया था और तबसे अधिकारियोंने वहाँके राजनीतिक आन्दोलनको दबा रखा है।

१८७८ में कुस्तुन्तुनियामें एक गुप्त सन्धि हुई थी जिसके अनुसार साइप्रस अँगरेजोंके अधिकारमें आया था। तुर्कीके सुलतानने यह टापू बिलकुल दान नहीं कर दिया था, बल्कि इस शर्त पर अँगरेजोंको दे दिया था कि वे वहाँका शासन-प्रबन्ध करें और उसके बदलेमें प्रति वर्ष कुछ धन दिया करें; और यथा साध्य

तुर्की सामाज्यका अंगभंग न होने दें। इसके पाँच वर्ष बाद अँग-रेजोंने मिस्र पर अपना अड्डा जमा लिया। गत महायुद्धके समय तक साइप्रस और मिस्रकी दशा एक ही सी थी। दोनों ही तुर्की साम्राज्यके अंग थे। पर युद्धमें जब तुर्कोंने जरमनीका साथ दिया, तब ५ नवम्बर १९१४ को अँगरेजोंने साइप्रसको पूर्ण रूपसे अपने अधिकारमें कर लिया। वहाँकी आबादी प्राय: तीन लाख है, जिसमेंसे चार पंचमांश यूनानी हैं। वे यूनानी बहुत दिनोंसे इस बातका आन्दोलन कर रहे हैं कि साइप्रसको यूनानके साथ मिला दिया जाय। १९१५ में ही ब्रिटिश सरकारने कहा था कि यदि युद्धमें यूनान हम लोगोंकी ओरसे लड़ने लगे, तो हम उसे साइप्रस दे सकते हैं। पर यूनानके राजा कान्स्टेन्टाइनने यह बात मंजूर नहीं की। पीछेसे जब यूनानी लोग मित्र राष्ट्रोंका पक्ष लेकर लड़ने लगे, तब उनको यह आशा थी कि साइप्रस हमको मिल जायगा; क्योंकि वहाँकी अधिकांश प्रजा यूनानी ही है।

हांगकांग टापू केन्टन नदीके मुहान पर है। इसे अँगरेजोंने १८४१ वाले अफीम-सम्बन्धी लज्जाजनक युद्धके उपरान्त चीनियोंसे छीन लिया था। बीस वर्ष बाद उसके सामनेवाले काउलुंग प्रायद्वीप पर अधिकार करके अँगरेजोंने अपने उस उपनिवेशका और भी विस्तार कर लिया था। जब जापानके साथ युद्ध करके चीन कमजोर हो गया, तब अँगरेजोंने उसकी कमजोरीसे फायदा उठाकर चीनकी तीन सौ वर्ग मील भूमि ठीके पर लेकर अपने उपनिवेशका विस्तार पँचगुना कर लिया। आजकल हांगकांग उपनिवेश तथा ठीकेवाले प्रदेशमें पाँच लाख चीनी ब्रिटिश शासनमें रहते हैं। सन् १९०० के बादसे अँगरेज लोग चीन देशमें राजनीतिक तथा आर्थिक अधिकार प्राप्त करनेके लिए बेतरह हाथ-पैर मार रहे हैं। १९०१ में वाग्लन-का प्रकाशगृह औपनिवेशिक सरकारने अपने अधिकारमें ले लिया

था। १९०४ में एक बड़ा प्रदेश केवल युरोपियनोंके रहनेके लिए अलग करा लिया गया। १९०५ में वूचैंगके वाइसरायको कुछ रुपया उधार देकर अँगरेजोंने अपना प्रभुत्व और भी बढ़ा लिया। यह रुपया उन अमेरिकनोंको चुकाया गया था जिनको पहलेसे रेल्वे लाइनों पर कुछ विशेष अधिकार प्राप्त थे। १९१६ में जब चीनी लोग अपने व्ययसे कैन्टनमें, ब्रिटिश उपनिवेशके बाहर, एक रेल बनाना चाहते थे, तब अँगरेजोंने उनका घोर विरोध किया था। जबसे चीनमें प्रजातंत्रका भाव फैलने लगा, तबसे चीनी लोग अँगरेजोंके विरुद्ध आन्दोलन करने लगे। वे हांगकांग पर फिरसे अधिकार करना चाहते थे; क्योंकि उसे वे लोग अपने देशका एक बहुत ही महत्वपूर्ण बन्दर समझते हैं। जब चीनियोंने यह देखा कि क्रान्तिकारक आन्दोलन सफल हो गया, तब हांग-कांगके चीनियोंमें राष्ट्रीयताका खूब जोश फैला और वे लोग अपने अपने घर पर प्रजातंत्रके झण्डे फहराने लगे और वही झण्डे लेकर जलूस निकालने लगे। अँगरेजोंने बहुत कड़ाईके साथ वह आन्दोलन दबाया और शान्ति-रक्षाके नाम पर एक खास कानून बनाया। जुलाई १९१२ में जब उपनिवेशका एक नया गवर्नर वहाँ पहुँचा था, तब वहाँके लोगोंने उसको मार डालनेका उद्योग किया था। अपराधीने अदालतमें कहा था कि मैंने किसीके बहकानेसे यह काम नहीं किया था, बल्कि देशप्रेमके भावसे प्रेरित होकर किया था। उसे आजन्म कारावासका दण्ड दिया गया था। इसके एक ही महीने बाद समुद्र किनारेके चुंगीघरों और हांगकांगके आस-पासके पुलिस स्टेशनों पर आक्रमण किये गये थे। दिसम्बर १९१२ में जब अँगरेजोंने ट्रामके भाड़ेमें चीनी सिक्के लेनेसे इनकार कर दिया, तब चीनियोंने ट्रामोंका ही बहिष्कार कर दिया था। इस बहिष्कारके कारण अँगरेजोंकी जो हानि होने लगी, उसकी

वहाँ भी अँगरेज लोग समुद्री मार्गों पर अधिकार प्राप्त करनेके लिए निरन्तर अविरत परिश्रम करते रहे हैं, और उस परिश्रममें भी बहुत कुछ सफलता हुई है। बरमाके दक्षिणसे चलकर पश्चिमी तट पर अँगरेज लोग बराबर स्याम देशके दक्षिण भाग पर अपना अधिकार बढ़ाते जा रहे हैं और प्रायद्वीप पर बहुत कुछ अधिकार कर चुके हैं। उधर दक्षिणी प्रायद्वीप पर भी उनका पूरा पूरा अधिकार है। केवल बीचका थोड़ा सा भाग स्यामके अधिकारमें रह गया है। इसके अतिरिक्त दक्षिणके बोर्नियो टापूके उत्तरी भाग पर तथा बोर्नियोके सामने पड़नेवाले चीन-समुद्रके तट पर भी अँगरेजोंका ही अधिकार है।

मलय प्रायद्वीपकी अन्तिम सीमा या नोकके पास ही सिंगापुर नामका छोटा टापू है जो मलक्का जलडमरूमध्यके एक सिरे पर पड़ता है। उस जलडमरूमध्यके दूसरे सिरे पर पेनांग टापू है। चीन समुद्रमें ब्रिटिश उत्तर बोर्नियोके पास ही लाबुआन टापू है। भारतसे हांगकांगका जो समुद्री तार जाता है, वह इन्हीं तीनों टापुओंसे होकर जाता है और ये तीनों टापू अँगरेजोंके अधिकारमें हैं। तीनों टापू तथा मलय प्रायद्वीपका दक्षिणी भाग ये चारों मिलकर स्ट्रेट्स सेटिलमेन्ट्स उपनिवेश कहलाते हैं। पहले ये सब भी भारत सरकारके ही अधीन थे, पर १८६७ में ये प्रत्यक्ष ग्रेट ब्रिटेनके अधिकारमें कर दिये गये। १९०१ में क्रिस्मस, कोकोस और लाबुआन ये तीनों टापू सिंगापुरके शासनके अन्तर्गत कर लिये गये। स्टेट्स सेटिलमेन्ट्सवाले प्रदेशों पर पहले वहींके शासकोंका अधिकार था, पर पीछेसे वे प्रदेश उन लोगोंसे ले लिये गये और उन पर ब्रिटिश संरक्षण हो गया। अब इस उपनिवेशमें आदिम निवासी मलय लोग बहुत ही कम रह गये हैं। वहाँ कुछ तो चीनी और कुछ भारतवासी जा बसे हैं। यह उपनिवेश मानों आसपासके

प्रदेशोंके लिए बहुत बड़े हाटका काम देता है। सब चीजें यहांसे होकर आती और जाती हैं। एशियाके इस भागमें अँगरेजोंके जितने प्रदेश हैं, उन सबका शासन सिंगापुरसे ही होता है। यहाँ एक गवर्नर रहता है जो मलय आदि देशोंका हाई कमिश्नर और उत्तर बोर्नियोका एजेण्ट है।

इधर १९११ से वहाँ प्रायः एक लाख आदमी और जा बसे हैं। अँगरेजोंको उपनिवेशोंसे कितना अधिक लाभ होता है, इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण स्ट्रेट्स सेटिलमेन्ट्स हैं। १९१६ में युद्ध आदिके लिए सहायता देनेके उपरान्त इस उपनिवेशने एक करोड़से ऊपर रुपये दिये थे। अक्तूबर १९१४ में पहलेपहल जरमनोंका एमडन जहाज अचानक पेनांगमें ही प्रकट हुआ था और वहाँ उसने एक रूसी और एक फ्रान्सीसी जहाज डुबाया था। फरवरी १९१५ में सिंगापुरमें वहाँके प्रायः एक हजार हिन्दुस्तानी सिपाहियोंने बलवा किया था और अपने कई अफसरोंको मार डाला था। उस समय फ्रान्सीसी, रूसी और जापानी जहाजोंने वहाँ पहुँचकर अँगरेजोंकी मदद की थी और वह विद्रोह शान्त किया था। कुछ विद्रोही भागकर जंगलोंमें जा छिपे थे। उन्हें अधिकारियोंने वहाँके क्रूर और नृशंस जंगलियोंकी सहायतासे पकड़वा मँगाया अथवा मरवा डाला था। उस विद्रोहमें प्रायः सत्तर गोरे मारे गये थे।

सिंगापुरके उत्तरमें जोहोरका देशी राज्य है, जिसमें अधिकांश चीनी बसते हैं। १९१० में वहाँके राजाके कहने पर अँगरेजोंने इसे भी अपने संरक्षणमें ले लिया था। जोहोरके उत्तरमें चार और देशी राज्य थे, जिन्होंने १८९६ में मिलकर अपना एक संघ बनाया था और अँगरेजोंका संरक्षण स्वीकृत किया था। यह अँगरेज सलाहकारोंके बीस वर्षके अविरत परिश्रमका परिणाम था। इसके अतिरिक्त और बहुतसे देशी राज्य थे, जो इसी प्रकार संरक्षणमें

लिये गये थे और अन्तमें जिन सबका एक संघ बन गया था। इन देशी राज्योंका वर्गफल सत्ताइस हजार मील है और इनमें दस लाख आदमी बसते हैं, जिनमेंसे आधे चीनी और आधे मलय हैं। टीन और सोनेकी खानोंके कारण वहाँ भी खूब आमदनी होती है। १९१६ में वहाँकी आमदनी भी खर्चसे ड्योढ़ीसे भी कुछ अधिक थी; और सब खर्च आदि करनेके उपरान्त भी चार पाँच करोड़ रुपये बच रहे थे। भारतसे भी वहाँ बहुत से लोग जाते हैं और उनके लिए कुछ सुभीता भी किया जाता है। अब वहाँ प्रायः एक पंचमांश भारतवासी ही हैं। युद्धके समय ब्रिटिश उपनिवेशके आस पासके देशोंकी रक्षा करनेके लिए ये संरक्षित राज्य अँगरेजोंको सैनिक सहायता देनेके लिए बाध्य हैं।

इन संघटित राज्योंके उत्तरमें अँगरेजोंने स्याम देशकी भूमि दबाकर अपना विस्तार किया है। मार्च १९०९ में स्यामने अपने आधीनस्थ चार राज्य अँगरेजोंको दे दिये थे। उनमें दस लाख मलय मुसलमान बसते हैं। रेलें बन जानेके कारण इन राज्योंका व्यापार भी बढ़ रहा है।

१८४२ में सर जेम्स ब्रूकने ब्रूनेईके राजासे बोर्नियोके उत्तर-पश्चिमकी खाड़ी, तट तथा एक नदी पर कुछ अधिकार प्राप्त किये थे। धीरे धीरे उन अधिकारों और अधिकृत भूमिका विस्तार होने लगा और १८९० में ब्रूक वंशके लोगोंके पास प्रायः चार सौ वर्ग मील भूमि हो गई और ब्रूनेईके राजाके पास बहुत ही थोड़ा प्रदेश बच गया। सर जेम्स ब्रूक अब राजाकी उपाधि धारण करके अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर बैठे और उसका नाम उन्होंने सरवक रखा। इसके बाद सरवक और ब्रूनेईका बचा खुचा राज्य अँगरेजोंने अपने संरक्षणमें ले लिया। १९१२ में संस्थापकके पुत्र राजा ब्रूकने अपने राज्यको दूसरे युरोपियन राष्ट्रोंके आक्रमकसे बचानेके लिए

एक काउन्सिल बनाई जिसका प्रधान कार्यालय लन्दनमें है। अब ग्रेट ब्रिटेन उसके संरक्षक और सलाहकारका काम करता है। सरवकका व्यापार सिंगापुरके साथ है। उस पर कोई ऋण नहीं है और खर्चसे आमदनी अधिक है। वहाँ कोयले, तेल और सोनेकी कई खानें हैं जिनसे अभी आमदनीके और भी बढ़नेकी आशा है।

ब्रिटिश उत्तर बोर्नियोका कुछ अंश तो सुलूके सुलतानसे और कुछ ब्रूनेई सुलतानसे लिया गया है। पहले वह प्रदेश डाली व्यवसायके कामके लिए लिया गया था और अँगरेज लोग वहाँकी खानों, जंगलों और खेतोंसे ही लाभ उठाते थे। पर १८८८ में ब्रिटिश सरकारने उसके संरक्षित देश होनेकी घोषणा कर दी और १८९८ में ब्रूनेईके राज्यकी कुछ और जमीन दबाकर अपनी सीमा सम कर ली। यहाँसे भी अभी अँगरेजोंको बहुत कुछ लाभकी आशा है।

जब अँगरेज लोग हर तरफसे ब्रूनेईका राज्य दबा दबाकर अपना राज्य बढ़ाने लगे, तब लाचार होकर १८८२ में उसे अँगरेजोंका संरक्षण ग्रहण करना पड़ा और १९०६ में उसने सन्धि करके अपना राज्य शासन-कार्योंके लिए अँगरेजोंको सौंप दिया। सरवक, ब्रिटिश उत्तर बोर्नियो और ब्रूनेईके इस इतिहाससे पाठक स्वयं ही इस बातका अनुमान कर सकते हैं कि युरोपियन लोग पहले किस प्रकार ठीके आदि लेकर अधिकार प्राप्त करते और अन्तमें किस प्रकार देशोंको अपने संरक्षणमें लेकर हजम कर जाते हैं। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। वह यह कि सरवक और ब्रिटिश उत्तर बोर्नियो पर तो कोई ऋण नहीं है, पर ब्रूनेई पर पचास हजार पाउण्ड ऋण है। पहले ये तीनों प्रदेश ब्रूनेईके ही अन्तर्गत थे। पहले दोनों प्रदेशों पर अँगरेजोंका पूरा अधिकार हो गया है, इसलिए उन पर ऋण कैसे चढ़ सकता है?

हाँ, भूनेई अभी पूरी तरहसे उनके हाथमें नहीं आया है, इसलिए उस पर ऋण होना स्वाभाविक है। आज यदि भूनेई भी उनके हाथमें आ जाय, तो फिर सब ओर लाभ ही लाभ दिखाई देने लगे। बस यही गोरी जातियोंका बोझ है जो दूसरोंको मारे डालता है।

(५)

स्यामका भक्षण

गत महायुद्धमें जब स्यामने भी जर्मनीके साथ युद्ध-घोषणा कर दी, तब उसके कुछ ही दिनों बाद स्याम राजवंशका एक राजकुमार पुस्तकके मूल लेखकके पास एक हस्तलिखित निबन्ध ले गया था। उस निबन्धमें एक स्थान पर लिखा था—

"हम लोग राष्ट्रीय स्वतंत्रताको ही सबसे बढ़कर समझते हैं और उसके लिए अपना सर्वस्व न्यौछार कर सकते हैं। हम किसी प्रकार विदेशियोंकी अधीनतामें नहीं रह सकते। हम लोगोंमें राष्ट्रीय जाग्रति हो चुकी है और हम लोग एक स्वतंत्र राष्ट्र बनानेके योग्य हो गये हैं। यदि सभी राष्ट्र एक दूसरेकी पूर्ण स्वतन्त्रता स्वीकृत न करेंगे, तो सार्वराष्ट्रिक नियमोंका कभी अच्छी तरह संघटन या पालन नहीं हो सकेगा। आजकल बलवान् राष्ट्र अपनेसे दुर्बल राष्ट्रों पर हुकूमत करते हैं और स्वयं ही उनके लिए कानून बनाते हैं; और इसका कारण यह बतलाते हैं कि हम तुमसे अधिक सभ्य हैं। पर यह कोरा बहाना है। नैतिक और मानसिक गुणों-का तो कहीं खयाल ही नहीं किया जाता। असल बात उसमें बलकी होती है। बड़े बड़े राष्ट्रोंको इस प्रकारका भ्रम होना स्वाभा-

विक ही है; क्योंकि जब किसी मजबूत आदमीको कोई दुबला-पतला और कमजोर आदमी दिखाई पड़ता है, तब वह मजबूत आदमी स्वभावतः ही यह समझने लगता है कि यदि हम शारीरिक दृष्टिसे बड़े हैं, तो फिर नैतिक दृष्टिसे भी अवश्य ही बड़े होंगे।"

इस पर लेखक महाशयने पूछा कि क्या आपका यह आक्षेप जर्मनीके सम्बन्धमें है ? उत्तरमें उस राजकुमारने मुस्कराकर कहा कि—"हम लोग जर्मनीके बारेमें कोई विशेष बात नहीं जानते। हम तो एक सीधी-सादी बातके लिए युद्धमें सम्मिलित हुए हैं। चीनकी तरह हमने भी अमेरिकाके संयुक्त राज्योंका ही अनुकरण किया है। राष्ट्रपति विल्सनने अपने चौदह सिद्धान्त स्थिर किये और कहा कि अमेरिका इन्हीं सिद्धान्तोंके लिए लड़ रहा है। बस उन्हीं सिद्धान्तोंसे लाभ उठानेके लिए हम भी लड़ने लग गये। यदि आप यह जानना चाहते हों कि हम लोग शान्ति महासभामें क्यों सम्मिलित होना चाहते हैं, तो आप स्यामका पिछले बीस वर्षोंका इतिहास पढ़ जाइये।"

लेखक महाशय यह बात जानना चाहते थे, इसलिए उन्होंने राजकुमारकी सलाह मान ली; और उसके अनुसार इतिहास देखने पर उनको जो कुछ मालूम हुआ, वही इस प्रकरणमें दिया जाता है।

दक्षिण एशियाका स्याम नामक पूर्वी प्रायद्वीप ही एक ऐसा देश है, जिसने अब तक युरोपियनोंके आक्रमणसे बचकर अपनी स्वाधीनता मात्रकी रक्षा की है। एक ओरसे अँगरेज और दूसरी ओरसे फ्रान्सीसी उसे दबाते थे। लेकिन फिर भी अब तक उसने अपना जो थोड़ा बहुत राज्य बचा रखा है, इसका कारण यही है कि उसके आस पासके देश आपसमें ईर्ष्या-द्वेष रखते हैं। १९०४ में अँगरेजों और फ्रान्सीसियोंमें जो सन्धि हुई थी, उसमें स्यामका

विस्तार जितना संकुचित किया जा सकता था, उतना कर दिया गया था। लेकिन फिर भी उसकी थोड़ी बहुत स्वतंत्रता केवल इसी कारण बची हुई थी कि अँगरेज और फ्रान्सीसी आपसमें यह निश्चय नहीं कर सकते थे कि हममेंसे कौन वहाँकी राजधानी बैंकाक पर राज्य करे। फ्रान्स और ग्रेट ब्रिटेनने अपना औपनिवेशिक साम्राज्य बढ़ानेके लिए यह बहाना ढूँढ़ा था कि हम लोग बरमा, कम्बोडिया और अनामके निवासियोंको स्यामवालोंकी अधीनतासे छुड़ाना चाहते हैं। गत तीस वर्षोंमें स्यामसे उसका समुद्र-तट तथा चीनकी ओरकी मेकांगकी बड़ी तराई छीन ली गई है। अपना वर्तमान थोड़ा सा राज्य बचानेके लिए स्यामको बहुत कुछ लड़ना झगड़ना पड़ा था और बहुत अधिक आर्थिक हानि उठाकर भी आस पासका बहुत सा प्रदेश छोड़ देना पड़ा था। स्याममें अँगरेजों और फ्रान्सीसियोंने जो जो कार्रवाइयाँ की हैं, उनसे इस बातका पता चलता है कि एशियामें युरोपवालोंकी औपनिवेशिक नीति कैसी है। इससे यह भी मालूम होता है कि जिन राजनीतिज्ञों और सेनापतियोंने स्यामके आस पासके प्रदेश हड़प लिये थे, उनके मनमें कभी स्वत्व और न्यायका विचार छू भी नहीं गया था। वहाँ सदा केवल शारीरिक बलसे ही काम लिया गया था।

जब तक फ्रान्सने इण्डो-चाइनाके भीतरी प्रदेशमें प्रवेश करना आरम्भ नहीं किया था, तब तक स्याम और फ्रान्समें खूब मित्रता थी। जब कम्बोडिया, अनाम और टांगकिंगमें फ्रान्सीसियोंको यथेष्ट शासनाधिकार प्राप्त हो गये, तब फ्रान्सीसियोंके अधिकारमें वे जंगल और खानें आ गईं जिनसे वे लाभ उठाना चाहते थे। जहाँ जहाँ स्याम बाधक होता था, वहाँ वहाँ फ्रान्स यही कहता था कि हम पहले इन प्रदेशोंको जीत चुके हैं और इसलिए इन

पर हमारा अधिकार है। पर स्याम उसके इन अधिकारोंको मानता ही न था। इस पर एक फ्रान्सीसी बेड़ेने बैंकाक पर घेरा डाला और गोलेबारीकी धमकी देकर स्यामसे एक सन्धि पर हस्ताक्षर करा लिये। फ्रान्स अपनी जो मनमानी सीमाएँ निर्धारित करना चाहता था, उनको विवश होकर स्यामने मान लिया। यदि स्याम चाहता, तो इस अन्यायके विरुद्ध अड़ जाता। पर फ्रान्स ऐसे अवसरको हाथसे नहीं जाने देना चाहता था जिसमें वह स्याम पर पूरा पूरा अधिकार जमा सकता था।

३ अक्तूबर १८९३ को जो सन्धि हुई थी, उसकी सातवीं धारा इस प्रकार थी:—"फ्रान्सीसी सरकार अपनी प्रजाके हितोंकी रक्षाके लिए जहाँ जहाँ अपने राजदूत रखना उचित समझेगी, वहाँ वहाँ वह अपने राजदूत रख सकेगी।"

अब तक केवल बैंकाकमें ही फ्रान्सका राजदूत रहता था। स्याममें युरोपियनोंको कुछ ऐसे विशेष अधिकार प्राप्त थे जिनके अनुसार बैंकाकमें रहनेवाले उनके राजदूत अपनी अपनी प्रजाकी अदालतें और न्याय आप ही किया करते थे। एशिया और युरोपवालोंके कानूनों, रवाजों और धर्मों आदिमें बहुत कुछ अन्तर था, इसलिए वहाँ बसनेवाले विदेशी व्यापारियों आदिके सुभीतेके विचारसे उनके देशके राजदूतोंको ही अपने जाति-भाइयोंके फैसले करनेका अधिकार मिल जाता था। एशियाके राज्यों-को ये अधिकार दे देनेमें इसलिए आपत्ति न होती थी कि विदेशियोंके आ रहनेके कारण उनका सारे संसारके साथ व्यापारिक सम्बन्ध हो जाता था। पर जब सुदूर पूर्वमें फ्रान्सके उपनिवेश बहुत बढ़ गये, तब वह अपने इन अधिकारोंका दुरुपयोग करने लगा। वह इन अधिकारोंको उन चीनियोंके सम्बन्धमें भी काममें लाना चाहता था जो स्याममें आकर बस जाते थे। उन चीनियोंके

कहा जाता था कि तुम आकर हमारे राजदूतके दफ़रमें अपना नाम लिखा लो, जिसमें तुमको भी फ्रान्सका संरक्षण प्राप्त हो सके। पर चीनवाले कोई युरोपियन तो थे ही नहीं, जिनको स्यामके अधिकारसे निकालनेकी आवश्यकता होती। इसी लिए हमने कहा है कि फ्रान्स अपने उन अधिकारोंका दुरुपयोग करने लगा था। इस दुरुपयोगमें उसका उद्देश्य यह था कि स्यामका प्रभुत्व घटे और सीमा परके उन प्रदेशोंमें स्यामका अधिकार कम हो जाय, जिनको वह आगे चलकर हजम करना चाहता था। १८९३ में फ्रान्सके संरक्षणमें रहनेवाले मनुष्योंकी संख्या केवल दो सौ थी। पर तीन ही वर्षोंमें वह बढ़कर तीस हजार हो गई और उन तीस हजारमें चीनियोंकी संख्या अँगरेजोंकी संख्यासे बीस गुनी थी।

जब यह बात सब लोग समझने लग गये कि स्यामको फ्रान्स अपने संरक्षणमें लेना चाहता है, तब स्यामने कहा कि फ्रान्सको इस बातका कोई अधिकार नहीं है कि वह हमारे देशमें बसनेवाले एशियावालोंको भी अपने संरक्षणमें ले। फ्रान्सने उत्तर दिया कि हम तो स्यामको युरोपियन साँचेमें ढालकर छोड़ेंगे। इस पर स्यामने अपने देशके लिए नये कानून बनवाना आरम्भ किया और बैंकाकमें कानूनका एक विद्यालय भी खोल दिया। इसके सिवा उसने अपनी जान बचानेके लिए अँगरेजोंसे भी सहायता माँगी। अँगरेज तो पहलेसे ही स्यामका कुछ प्रदेश लेना चाहते थे और उनको फ्रान्सका प्रसार अच्छा नहीं लगता था; इसलिए लन्दनमें रहनेवाले स्यामी राजदूतसे कहा गया कि स्याममें अपनी प्रजाके सम्बन्धमें हमको जो अधिकार प्राप्त हैं, उनमें हम भी अब कुछ सुधार करना चाहते हैं। १८९९ में ग्रेट ब्रिटेन और स्याममें एक सन्धि हुई जिसके अनुसार ग्रेट ब्रिटेनके संरक्षणके अधिकार निश्चित हो गये। इस सन्धिमें संरक्षणके अधिकारोंके सम्बन्धमें

स्यामके साथ कुछ रिआयत की गई थी। उस समय फ्रान्सीसी भी ग्रेट ब्रिटेनके साथ मित्रता स्थापित करना चाहते थे, इसलिए स्याममें रहनेवाले उसके तत्कालीन राजदूतने भी ग्रेट ब्रिटेनके अधिकारोंके ढंग पर अपने अधिकारोंमें परिवर्तन करना चाहा और स्यामके साथ कुछ रिआयत करनेका विचार किया। पर फ्रान्सकी सरकारने यह बात मंजूर नहीं की और इसलिए उसके अधिकारोंमें कोई परिवर्तन न हो सका।

इसी बीचमें फ्रान्सीसियोंके सम्बन्धमें और भी कई शिकायत-की बातें उठ खड़ी हुईं। १८९३ वाली सन्धिके अनुसार स्यामका जो कुछ कर्त्तव्य था, उसका तो उसने पूरी तरहसे पालन कर दिया, पर फ्रान्सने अपने कर्त्तव्योंका ठीक ठीक पालन नहीं किया। १९०१ में स्यामने कहा कि पूर्व निश्चयके अनुसार फ्रान्स कुछ विशिष्ट प्रदेश खाली कर दे। पर खाली करना तो दूर रहा, फ्रान्स अपने लिए और भी नये अधिकार माँगने लगा और साथ ही यह भी कहने लगा कि स्याम सरकार फ्रान्सीसियोंको भी अपने यहाँ नौकरी दे। अक्तूबर १९०२ में स्यामके साथ समझौता करनेके बहानेसे फ्रान्स कुछ और अधिकार प्राप्त करना चाहता था, पर वे अधिकार थोड़े ही थे। फ्रान्सने उस समय अधिक अधिकार प्राप्त करनेके लिए इस वास्ते जोर नहीं दिया था कि वह ग्रेट ब्रिटेनसे झगड़ा मोल लेना नहीं चाहता था; और इसलिए उसने स्यामको अपने संरक्षणमें लेनेका विचार छोड़ना चाहा था। पर वहाँका औपनिवेशिक विभाग किसी तरह मानता ही न था और स्यामको अपने हाथसे जाने देना नहीं चाहता था। इसलिए १९०३ में स्यामने फिर अँगरेजोंसे सहायता माँगी। अँगरेजोंने इस बार उसकी खूब पीठ ठोंकी। इसमें अँगरेजोंका यह स्वार्थ था कि वे खुद ही पश्चिम और दक्षिणसे स्याममें बढ़ रहे थे और चाहते थे

कि हम स्यामकी ओटमें ही फ्रान्सके साथ उपनिवेशोंके सम्बन्धका झगड़ा निपटा डालें।

१९०४ में अँगरेजों और फ्रान्सीसियोंमें एक सन्धि हुई थी जिसके अनुसार उन दोनोंके सारे संसारके झगड़ोंका निपटारा हो गया था। उसी सन्धिने स्यामका झगड़ा भी खतम कर दिया। इस सन्धिके समय मिस्र और मरक्कोकी भाँति स्यामसे भी परामर्श करनेकी आवश्यकता नहीं समझी गई थी। जब दो बलवान् मिलकर किसी दुर्बल देशके भाग्यका निर्णय करते हों, तब उस अभागे दुर्बल देशसे परामर्श करनेकी आवश्यकता ही क्या है? दोनोंको अपने अपने राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थका ध्यान था। यह निश्चय हो गया कि पूर्वकी ओरसे फ्रान्स जहाँ तक चाहे, वहाँ तक बढ़ता जाय; और दक्षिण-पश्चिमकी ओरसे अँगरेज बढ़ते चलें। कोई किसीके लिए बाधक न हो। बेचारे इससे बढ़कर और क्या न्याय कर सकते थे!

इस सन्धि पर हस्ताक्षर होनेसे पहले ही जब सब बात-चीत पक्की हो गई, और फ्रान्सने समझ लिया कि अब पूर्वकी ओर इङ्गलैण्ड बाधक न होगा, तब १३ फरवरी १९०४ को स्यामको दबाकर उसने एक सन्धि करा ली और उस सन्धिमें उससे जहाँ तक स्यामको निचोड़ते बना, वहाँ तक उसने उसको खूब निचोड़ा। उसने आठ हजार वर्ग मील भूमि भी ले ली, एक बन्दर भी ले लिया, स्वयं स्यामके स्वतन्त्र राज्यमें रेल बनानेका अधिकार भी ले लिया, और कुछ और अधिकार भी ले लिये। लेकिन मजा यह कि इतने पर भी फ्रान्सके औपनिवेशिक और राष्ट्रीय दल सन्तुष्ट नहीं होते थे। वे कहते थे कि सारे स्याम पर हमारा पूरा पूरा अधिकार होना चाहिए। इसके बाद जब उनको मालूम हुआ कि सारे स्याम पर अधिकार करनेमें इङ्गलैण्ड बाधक होगा, तब वे कुछ दबे तो

सही, पर फिर भी बिलकुल चुप नहीं हुए। वे अपहरणकी परा-काष्ठा तक जा पहुँचे। १९०७ में फ्रान्सने फिर एक संशोधित सन्धि स्यामके सामने पेश की और कहा कि इसे बिना वादविवादके तुम्हें मानना पड़ेगा। १९०४ वाली सन्धिके अनुसार स्याममें कुछ ऐसा प्रदेश छोड़ दिया गया था, जिस पर किसी विदेशीका अधिकार या प्रभुत्व न हो सकता था और जो स्वयं स्याम सरकारके अधीन रहने-को था। उस समय विवश होकर स्यामको वह प्रदेश और अपने चार बन्दर दे देने पड़े। इस बार और बारह हजार वर्ग मील भूमि देने पर स्यामको बदलेमें एक बन्दर वापस मिला और इस बातका अधिकार प्राप्त हुआ कि दस वर्ष बाद वह अपने देशमें बसनेवाले एशियाइयोंके मुकद्मोंका फैसला आप कर सके।

बीसवीं शताब्दीके पहले दशकमें ग्रेट ब्रिटेनसे सम्बन्ध स्थापित करनेके कारण स्यामको ही विशेष लाभ हुआ था और फ्रान्सी-सियोंकी हानि ही हुई थी। उस समय अँगरेजोंने कुछ उदारता और न्यायप्रियताका परिचय दिया था और स्यामको फ्रान्सी-सियोंके हाथमें जानेसे बचा लिया था। पर उनका यह काम कुछ स्यामके हितकी दृष्टिसे नहीं हुआ था। अँगरेजोंने स्यामके अधि-कारोंकी रक्षा करके उसके बदलेमें स्वयं खूब ही लाभ उठाया। बहुत दिनोंसे अँगरेज लोग मलय प्रायद्वीप पर अधिकार करनेके लिए चुपचाप उत्तरकी ओर बढ़ रहे थे। उनको डर था कि कहीं वहाँ फ्रान्सीसियोंका अधिकार न हो जाय। पर जब १९०४ में अँगरेजों और फ्रान्सीसियोंमें सन्धि हो गई, तब अँगरेज लोग स्यामके चार करद राज्योंको स्वयं अपना ही समझने लगे। पर यह अनुचित हस्तक्षेप स्यामको कब अच्छा लग सकता था? इसलिए फिर वहाँ "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली कहावत चरितार्थ की जाने लगी और मार्च १९०९ में अँगरेजोंने इन चारों

राज्योंको अपने अधिकारमें करके ही छोड़ा। इस बार फिर स्याम-के हाथसे पन्द्रह हजार वर्ग मील भूमि निकल गई और समुद्र तटसे उसका केवल दक्षिण ओरसे ही थोड़ा सा सम्बन्ध रह गया। स्यामको इससे केवल यही लाभ हुआ कि विदेशी प्रजाके मुकद्मोंके कुछ अधिकार और मिल गये।

जब ये लोग इस प्रकार स्यामको नोच नोचकर खानेमें लगे थे, तब स्याम यथासाध्य यह प्रमाणित करनेकी चेष्टा करता जाता था कि हम भी युरोपियन सभ्यताकी नई परिस्थितिके अनु-कूल बन सकते हैं। जब फ्रान्सने उसके प्रदेशोंका अपहरण आरम्भ किया, तब वह अनेक प्रकारसे अपने देशको उन्नत करने तथा शासनमें नये नये सुधार करनेके लिए बहुत कुछ धन व्यय करने लगा। उसने दो नई रेलें अँगरेज ठीकेदारोंसे बनवाईं, जिन्होंने ठीकेकी रकमसे दूना वसूल कर लिया। पर फिर भी स्याम-ने उसके लिए अपनी प्रजा पर कोई नया कर नहीं लगाया और सब रुपया अपने खजानेसे ही दिया। उस पर कोई ऋण नहीं था और १८९६ से १९०४ तकके समयमें उसने अपनी आमदनी दूनी कर ली थी; और रेल बनवानेके बाद भी खजानेमें बहुत कुछ रकम बचा ली थी। यद्यपि पहले जूएखानोंसे उसको बहुत बड़ी आय होती थी, तथापि उसने सब जूएखाने उठवा दिये। १९०४ के बाद उसने प्रायः पन्द्रह करोड़ रुपया उधार लिया था जिसमेंसे चार करोड़के लगभग चुका दिया गया। अब वहाँ रेलों, तारों, स्कूलों और कालेजों आदिकी कमी नहीं है और एक विश्व-विद्यालय भी स्थापित हो गया है। उसने युरोपियनों और अमे-रिकनोंकी सम्मति और सहायतासे बहुत कुछ लाभ उठाया है। विवश होकर उसने अपने अनेक प्रान्त तो दूसरोंको दे दिये हैं, पर अपने बचे हुए देशके शासनमें किसीको हस्तक्षेप नहीं करने दिया

है और अपने यहाँके कृषि तथा व्यापार आदिकी खूब उन्नति की है। सेनामें भी थोड़ा बहुत सुधार हुआ है; और यदि फ्रान्सीसियोंकी नीयत राजनीतिक दृष्टिसे खराब न होती, तो वह उनकी सहायता लेकर और भी सुधार करता।

सन् १९०० से पहले स्यामके व्यापारका चार पंचमांश अँगरेजोंके ही हाथमें था; पर इसके बाद वह धीरे धीरे निकलकर जर्मनोंके हाथमें जाने लगा। युद्धके पहले वहाँका प्रायः सारा व्यापार जर्मनोंके हाथमें ही चला गया था और वहाँके बंकों तथा रेलों आदि पर भी उसीका अधिकार हो गया था। इसका कारण यह था कि वहाँ बहुत से ऐसे जर्मन जा बसे थे, जो बहुत सी बातोंमें स्यामकी सहायता करते थे और उसके सुख-दुःखके शरीक थे। पर युद्ध आरम्भ होनेके उपरान्त स्याममें रहनेवाले जर्मनोंने भारत आदिके विरुद्ध तरह तरहके षड़यंत्र रचने आरम्भ कर दिये और चीनमें आन्तरिक कलह उत्पन्न करनेका उद्योग किया। इन तथा और अनेक कारणोंसे जूलाई १९१७ में स्यामने जर्मनीके साथ युद्धकी घोषणा कर दी। अब वहाँ जरमनोंकी कोई कदर नहीं है और भविष्यमें भी जब तक वे लोग अपना पुराना रंग-ढंग और व्यवहार न बदलेंगे, तब तक उनको वहाँ कोई न पूछेगा। पर हाँ, यदि अँगरेज या फ्रान्सीसी अपने मनमें यह समझते हों कि हमने स्यामके साथ अब तक जो अनुचित व्यवहार किये हैं, उनको वह भूल गया है, तो यह उन लोगोंकी बड़ी भारी गलती है। जिस समय स्याम हर तरहसे अपने देशकी उन्नति कर रहा था, उस समय इन लोगोंको यह कहकर उसके प्रदेश छीननेका कोई अधिकार नहीं था कि स्याम अपने देशका ठीक ठीक प्रबन्ध नहीं कर सकता और उन्नतिमें बाधक होता है। पर क्या किया

जाय, यह युरोपियन सभ्यता ही ऐसी है जो दूसरोंका भला करनेके बहाने उनका सर्वस्व लूटना सिखाती है।

फ्रांसने स्यामके भावोंकी उपेक्षा करके उसका बहुत सा प्रदेश ले लिया है, इसलिए स्याम उसका भयंकर शत्रु हो रहा है। फ्रान्स तो वहाँ अपनी जड़ जमाना चाहता था, पर लक्षणोंसे यह सन्देह होता है कि किसी दिन उसे वहाँसे अपना डेरा कूच न कर देना पड़े। यदि वह आपसे आप वहाँसे न हटेगा, तो स्याम उसे किसी न किसी प्रकार हटा देगा। पर अँगरेजोंकी बात और है। स्यामकी वर्तमान उन्नति और वैभव बहुत कुछ अँगरेजोंकी कृपा पर ही निर्भर है। पर हाँ, जिस समय सभी एशियानिवासी इन युरोपियनोंका विरोध करने उठ खड़े होंगे, उस समय स्याम भी किसी युरोपियनको अपना मित्र न समझेगा।

अब हम हालकी एक घटनाका वर्णन करके यह प्रकरण समाप्त करते हैं। शान्ति महासभामें स्यामका यह कहना था कि हमारी पुरानी सन्धियोंका सुधार किया जाय। यह सुधार दो भागोंमें विभक्त था। एक तो वह यह चाहता था कि हमारे देशमें किसी प्रकारके न्यायका कार्य विदेशियोंके हाथमें न रह जाय; क्योंकि इसमें हमारा अपमान है, इसमें व्यय बहुत अधिक होता है, इससे देशमें वैमनस्य बढ़ता है, इससे अन्याय होता है और यह नितान्त निरर्थक है। दूसरी बात वह यह चाहता था कि हमें पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त हो; क्योंकि इससे हमारे अधिकारोंमें बाधा पड़ती है, हमारी आय कम होती है जिससे हमें चण्डूखानों और जूएखानोंसे आय करनी पड़ती है, और हमारी उन्नतिमें अनेक प्रकारसे बाधा होती है। यद्यपि उसका कहना बहुत ही उचित और न्यायसंगत था, तथापि वार्सेलसकी सन्धिके अनुसार केवल यही निश्चित हुआ है कि स्याममें जर्मनीको अब किसी

प्रकारका अधिकार न रह जाय। पर विजयी मित्र राष्ट्र अपना कोई अधिकार वापस करनेके लिए तैयार नहीं है; क्योंकि अपने हाथमें आया हुआ शिकार वे किसी दूसरेको देना पसन्द नहीं करते।

(६)

एशियामें फ्रान्स

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दीमें स्पेन, पुर्तगाल, हालैण्ड और इंगलैण्डके साथ, औपनिवेशिक विस्तारके सम्बन्धमें, फ्रान्सकी खूब प्रतिद्वन्द्विता चलती थी और उसे अनेक उपनिवेश मिले भी थे। पर अठारहवीं शताब्दीमें नेपोलियनके युद्धोंके कारण उसके हाथसे प्रायः सभी उपनिवेश निकलकर अँगरेजोंके हाथमें चले गये। एशियामें तो भारतके दो चार छोटे छोटे जिलोंको छोड़कर उसके पास और कुछ भी न बच गया था; और यही दशा अमेरिका तथा अफ्रिकामें भी थी। पर १८३० के बाद फिर फ्रान्सने अपना औनिवेशिक विस्तार आरम्भ किया। अमेरिकन संयुक्त राज्योंके पाँचवें राष्ट्रपति जेम्स मनरोने यह सिद्धान्त स्थिर कर दिया था कि न तो अमेरिकावाले युरोपकी किसी बातमें हस्तक्षेप करें, और न युरोप आदि दूसरे देशोंके लोग अमेरिकाकी बातोंमें हाथ डालें। कोई विदेशी अमेरिकामें कोई नया राज्य भी स्थापित नहीं कर सकता था। इसलिए अमेरिका तो सब तरहसे अपहरणके लिए बन्द ही हो चुका था। लाचार होकर फ्रान्सने एशिया और

अफ्रिका पर दाँत गड़ाना शुरू किया और नेपोलियनके सौ ही वर्ष बाद फिर उसने इतने उपनिवेश प्राप्त कर लिये, जितने अँगरेजोंको छोड़कर और किसीके पास नहीं थे। प्रायः ये सारे उपनिवेश फ्रान्स-जर्मन युद्धके समय ही प्राप्त किये गये थे। यदि उस समय जर्मनी चाहता, तो वह भी अनेक उपनिवेश अपने अधिकारमें कर सकता था। पर बिस्मार्क तो उपनिवेशोंको बिलकुल निरर्थक ही समझता था; इसलिए जर्मनी तो चुपचाप बैठा रहा और फ्रान्स-ने खूब हाथ साफ किये। जर्मनीको तो उपनिवेशोंकी चिन्ता इसी शताब्दीके आरम्भमें होने लगी थी।

भारतमें फ्रान्सके भिन्न भिन्न स्थानोंमें पाँच छोटे उपनिवेश हैं जिनका क्षेत्र फल दो हजार वर्ग मील है और जिनमें प्रायः तीन लाख आदमी बसते हैं। मालाबार तट पर माही, मद्रासमें समुद्र-तट पर कारीकल, पाण्डीचेरी और यनाओं तथा कलकत्तेके पास चन्द्रनगर नामका एक छोटा सा कस्बा, बस यही फ्रान्सीसियोंके हाथमें है। इन सबका शासन पाण्डीचेरीसे होता है। भारत सरकारने कई बार चाहा कि फ्रान्स अपने ये स्थान हमें दे दे और इनके बदलेमें कुछ और प्रदेश दूसरे स्थानोंमें ले ले। पर फ्रान्स किसी तरह राजी नहीं होता; क्योंकि ये स्थान एक प्रकारसे उसके प्राचीन इतिहासके स्मृति-चिह्न हैं। इसके अतिरिक्त इन उपनिवेशों-में जो भारतवासी रहते हैं, वे भी अँगरेजोंकी अधीनतामें नहीं आना चाहते। जब जब इस प्रकारका कोई प्रस्ताव उठता है, तब तब वे उसका घोर विरोध करते हैं। इसका कारण यह है कि वहाँ उन लोगोंको बहुतसे अंशोंमें स्वराज्य प्राप्त है। ब्रिटिश भारत-में आकर तो उनके पल्ले गुलामी ही पड़ेगी।

नेपोलियन तृतीयके समय फ्रान्सने कोचीन-चाइना और कम्बोडियामें कुछ अधिकार प्राप्त किये थे। १८७० में जर्मनीसे

पराक्त होने पर उसने एशियाके दक्षिण-पश्चिममें अपने उपनिवेश स्थापित करनेका विचार किया और कोचीन-चाइनासे लेकर कम्बोडियाके पूर्वी भाग तक अधिकार कर लिया। १८८४ में अनाम और टॉगकिंगको उसने अपने संरक्षणमें ले लिया और तबसे वह बराबर आगे बढ़ता जाता है। १८९३ में उसने स्यामसे लाओस और कम्बोडिया लेकर पूरी तरहसे अपने अधिकारमें कर लिया। यदि फ्रान्स और जर्मनीके बीचकी स्वाभाविक सीमा राइन नदी हो सकती है, तो स्याम और इण्डो-चाइनाके बीचकी स्वाभाविक सीमा मेकांग नदी भी अवश्य होनी चाहिए। पर फ्रान्सको इस बातका विचार करनेकी क्या आवश्यकता थी? उसने स्यामको दबाकर सारा कम्बोडिया और इसके अतिरिक्त और भी बहुत सा प्रान्त ले लिया। इन प्रान्तों पर उसने किस प्रकार अधिकार किया था, इसका विवरण पिछले प्रकरणमें दिया जा चुका है। अनाम, टांगकिंग और कम्बोडियाकी भी ठीक वही दशा समझिये। यदि युरोपवालोंको दूसरों पर शासन करनेका स्वाभाविक अधिकार हो और युरोपियन सभ्यता तथा व्यापारसे अफ्रिका और एशियावालोंको लाभ पहुँचता हो, और फिर वह लाभ बिना शासन-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त किये पहुँचाया ही न जा सकता हो, तब तो फ्रान्सके इन कामोंके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी टीका-टिप्पणी करनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। जो काम और युरोपियन करते हैं, ठीक वही काम फ्रान्सने भी किया था। अनाम, टांगकिंग और कम्बोडिया आदिके लोगोंने जब जब फ्रान्सीसियोंकी इस लूटका विरोध किया, तब तब वे विद्रोही समझे गये। इसका मुख्य कारण यही था कि वे गोरे नहीं, काले थे। चाहे उन लोगोंको फ्रान्सीसियोंके कारण कितना ही आर्थिक तथा और प्रकारका लाभ क्यों न पहुँचा हो, पर फिर भी यह प्रश्न बना

ही रहता है कि क्या उनकी स्वतंत्रताका अपहरण नहीं हुआ और वे लोग जबरदस्ती गुलाम नहीं बनाये गये? पर हाँ, यदि इस बातको छोड़ दिया जाय, तो इसमें सन्देह नहीं कि फ्रान्सने अपने न इन उपनिवेशोंकी जितनी अधिक उन्नति की है, उतनी अधिक उन्नति तो स्वयं फ्रान्सके द्वारा और न दूसरी शक्तियोंके द्वारा किसी और उपनिवेशकी हुई है। इन देशोंकी उन्नतिके विचारसे फ्रान्सका काम अवश्य प्रशंसनीय है। इन देशोंमें कृषि और व्यापार आदिकी बहुत अधिक उन्नति हुई है, और उस उन्नतिसे स्वयं फ्रान्सको बहुत अधिक आर्थिक लाभ होता है; और आगे अभी बहुत कुछ लाभ होनेकी सम्भावना है। इसके अतिरिक्त वहाँसे उसको बहुत कुछ सैनिक सहायता भी मिलती है। वहींके एक प्रदेशकी सेनासे वह आसपासके दूसरे देशोंको भी अपने अधिकारमें लाता है। एक देशके गुलाम अपने पड़ोसी देशके लोगोंको गुलाम बनानेमें यथेष्ट सहायता देते हैं। गत महायुद्धमें जिस प्रकार अँगरेजोंने भारतसे अपनी सहायताके लिए सैनिक लिये थे, उसी प्रकार फ्रान्सने भी अपने अधीनस्थ इन तथा दूसरे अनेक प्रदेशोंसे सैनिक मँगवाये थे। कई बार तो ऐसा भी हुआ कि इन देशोंकी रक्षाके लिए फ्रान्ससे सेना भेजी गई और इन देशोंकी सेना युरोपमें बुलवाई गई! इसका कारण यही है कि उन लोगोंका स्वयं उनके देशमें तो विश्वास किया नहीं गया; पर हाँ लड़नेमें बिना उनकी सहायताके काम नहीं चल सकता था, इसलिए उनको युद्ध-क्षेत्रमें बुलवाया भी अवश्य गया।

जो हो, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि कम्बोडिया, अनाम और टांगकिंगके निवासियोंने कभी खुशीसे फ्रान्सीसियोंकी अधीनता स्वीकृत नहीं की। यदि फ्रान्सीसियोंको एशियावालोंके द्वारा शासित होना नापसन्द है, तो क्या कारण है कि एशियावाले

फ्रान्सके द्वारा शासित होना पसन्द करें ? हम यह मानते हैं कि फ्रान्सवालोंमें यह गुण है कि वे एशिया और अफ्रिकामें सेना तैयार कर सकते हैं और उस सेनाके मनमें अपने लिए स्नेह भी उत्पन्न कर सकते हैं, पर यह स्नेह और भक्ति उन थोड़ेसे नवयुवक सैनिकोंके मनमें ही रहती है। वहाँके सर्व-साधारणके मनमें अपने विदेशी शासकोंके लिए किसी प्रकारका स्नेह या भक्ति नहीं होती। इसका एक कारण है। बहुत ही उच्च कुलके और प्रतिष्ठित फ्रान्सीसी अपने उपनिवेशोंकी सिविल सर्विसमें बहुत ही कम जाते हैं। उसमें अधिकतर निम्न श्रेणीके ही लोग जाते हैं। फ्रान्सीसी तो अपने उपनिवेशोंकी नौकरीको एक प्रकारका दण्ड ही समझते हैं। बहुत बड़े और उच्च पदों पर कुछ फ्रान्सीसी अवश्य जाते हैं; पर उनको विदेशका रहना ज्यादा अच्छा ही नहीं लगता। अँगरेजोंमें यह गुण है कि वे अपने उपनिवेशोंकी नौकरियोंको बहुत प्रतिष्ठित समझते हैं और विदेशमें रहनेसे घबराते भी नहीं। यही कारण है कि फ्रान्सका इण्डो-चाइनाका शासन उतना अच्छा और सन्तोषजनक नहीं है। वहाँ रहनेवाले स्वयं फ्रान्सीसी भी अपने देशके शासनकी शिकायत करते हैं; क्योंकि उनको भी उससे कष्ट होता है। वहाँके फ्रान्सीसी शासक अपनी प्रजाकी भाषा नहीं जानते और न उनके साथ पूरी सहानुभूति रखते हैं। इसी लिए वहाँके लोगोंको इन गोरोंका बोझ और भी खटकता है।

अनाम और टांगकिंगके लोग स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हैं। फ्रान्सीसी उन पर मनमाने कर लगाते हैं और उनको दूसरे देशोंके साथ व्यापार नहीं करने देते। तात्पर्य यह कि उन्होंने ऐसे उपाय कर रखे हैं कि आप तो उनको खूब लूटें; और स्वयं उनको या दूसरोंको विशेष लाभ न पहुँचने दें। वहाँवाले न तो फ्रान्सकी सेनामें भरती होना चाहते हैं और न उसके शासनका व्यय देना चाहते हैं; क्योंकि

लाओसकी खानों और जंगलोंसे केवल फ्रान्सीसियोंको ही लाभ होता है, स्वयं उनको कुछ भी नहीं। जबसे जापानने रूस पर विजय प्राप्त की, तबसे फ्रान्सीसियोंको भी वहाँ राजद्रोहका मुकाबला करना पड़ा है। १९०८ में क्रान्तिकारक आन्दोलनोंके कारण फ्रान्सको वहाँ अपनी सेना बढ़ानी पड़ी थी और १९१० में बहुत कुछ लड़-झगड़कर उसे वहाँके अनेक विद्रोहियोंको द्वीपान्तरित करके गायना भेजना पड़ा था। १९११ और १९१३ में भी वहाँ खूब उपद्रव हुए थे। अप्रैल १९१३ में वहाँके अनाम नगरमें एक बम फेंका गया था, जिससे दो फ्रान्सीसी तथा कई युरोपियन मर गये थे। मुकदमा चलाने पर पता लगा कि फ्रान्सीसियोंका शासन नष्ट करनेके लिए एक षडयंत्र भी रचा गया था।

इराडो-चाइनाके फ्रान्सीसी शासनके लिए सबसे बड़े कलंककी यह बात है कि वहाँके निवासियोंके लिए शिक्षा आदिकी कोई सन्तोषजनक व्यवस्था नहीं है। यद्यपि पैंतीस वर्षोंसे वहाँ फ्रान्सीसियोंका राज्य है, तथापि अब तक वहाँके केवल आठ हजार विद्यार्थियोंके लिए ही शिक्षाका प्रबन्ध है। कम्बोडियामें चार हजारसे भी कम और अनाममें साढ़े तीन हजारसे भी कम विद्यार्थी इस समय शिक्षा पाते हैं। पर इसमें फ्रान्सका ही दोष है, इराडो-चाइनामें शासन करनेवाले फ्रान्सीसियोंका नहीं। वहाँके फ्रान्सीसी शासक तो बराबर इस बातकी सिफारिश किया करते हैं कि इन लोगोंकी शिक्षाका यथेष्ट प्रबन्ध किया जाय और इनको कुछ राजनीतिक अधिकार भी दिये जायँ; पर कोई सुनता ही नहीं। वहाँके विद्यार्थियोंको फ्रान्सके विश्वविद्यालयोंमें शिक्षा पानेकी आज्ञा अभी हालमें ही मिली है। इधर कुछ दिनोंसे वहाँके निवासियोंको शासन-विभागमें कुछ बड़े बड़े पद भी मिलने लगे हैं।

यदि इराडो-चाइनाको शीघ्र ही स्वराज्य न दिया जायगा और

साम्राज्यवादका भूत अन्यान्य युरोपियन शक्तियोंकी तरह फ्रान्सके सिर पर भी बराबर चढ़ा रहेगा, तो बहुत सम्भव है कि जापान आगे बढ़कर इराडो-चाइनासे फ्रान्सको निकाल बाहर करेगा और टांगकिंग तथा उत्तर अनामवाले या तो चीनी प्रजातन्त्रसे मिल जायँगे, या स्वयं स्वतन्त्र हो जायँगे। और उस दशामें लाओसका भाग्य स्याम और टांगकिंगके हाथमें चला जायगा। फिर फ्रान्सकी शायद कुछ भी न चलेगी।

---

(७)

एशियामें पुर्तगाली और डच

युरोपवालोंमेंसे सबसे पहले स्पेन और पुर्तगालने ही युरोपके बाहरके देशोंका पता लगाया था और वहाँ अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। एक वह भी समय था जब कि पोपको इस बातका पूरा अधिकार था कि वह युरोपके बाहर प्राप्त किये हुए प्रदेशोंको जिस प्रकार चाहे इन दोनों देशोंमें बाँट सकता था। उन दिनों युरोपमें कोई ऐसी तीसरी शक्ति थी ही नहीं, जो इस सम्बन्धमें किसी प्रकारका विरोध कर सकती। पहले दक्षिण और मध्य अमेरिका स्पेन और पुर्तगालके ही हाथमें थे। पर पीछेसे वहाँवालोंने विद्रोह करके स्वाधीन प्रजातन्त्र राज्य स्थापित किये थे। युरोपियन साम्राज्यवादसे इन प्रजातंत्र राज्योंकी रक्षा केवल इसी कारण हो सकी थी कि मनरोने निश्चित कर दिया था कि न हम दूसरोंके देश लेंगे और न कोई हमारे देशों पर अधिकार करने आवे। उन्नीसवीं शताब्दीमें यदि युरोपकी

बड़ी बड़ी शक्तियोंमें मतभेद न हो जाता, तो अफ्रिकासे स्पेन और पुर्तगाल अवश्य निकाल दिये जाते। पर अमेरिकावालोंने स्पेनकी जल-शक्तिका नाश कर दिया था; इसलिए एशियामें उसका कुछ भी अधिकार न रह गया। उसके अधिकांश राज्य अमेरिकाके संयुक्त राज्योंने ले लिये और जो टापू बच रहे थे, उनको उसने जर्मनीके हाथ बेच दिया।

सत्रहवीं शताब्दीके मध्यमें हालैण्डने पुर्तगालको लंकासे निकाल दिया और अठारहवीं शताब्दीके अन्तमें हालैण्डको हटाकर अँगरेजोंने उस पर अधिकार कर लिया। पर एशियाके अन्य भागोंमें पुर्तगालियोंके अब भी थोड़े बहुत ऐसे स्थान बचे हैं, जो विशेष महत्वके नहीं हैं। इन सब स्थानोंका क्षेत्रफल सब मिलाकर एक हजार वर्ग मीलसे भी कम है और उनमें प्रायः दस लाख आदमी बसते हैं। इनसे पुर्तगालको कोई विशेष लाभ भी नहीं है। ग्रेट ब्रिटेन ये सब स्थान उससे छीन लेता, पर उसको इनकी कोई आवश्यकता ही नहीं है और न इनसे कोई खटका है। इधर दो सौ वर्षोंसे न तो पुर्तगालका ब्रिटेनके साथ कभी कोई झगड़ा हुआ है और न उसने कभी ब्रिटेनके किसी शत्रुका साथ ही दिया है।

पर एशियामें हालैण्डकी अवस्था कुछ और ही है। उसके अधिकारमें डच-ईस्ट इण्डीज है जिसमें जावा, सुमात्रा, बोर्नियोका बहुत बड़ा अंश तथा दूसरे अनेक टापू हैं। ये स्थान बहुत धन-धान्य पूर्ण भी हैं और भारतीय महासागरमें सैनिक दृष्टिसे बहुत उपयोगी भी हैं। उनका क्षेत्रफल साढ़े सात लाख वर्ग मील है और उसमें अधिकांश मुसलमान ही बसते हैं, इसलिए मुसलमानी उपनिवेशोंकी दृष्टिसे हालैण्ड भी एक महत्वपूर्ण शक्ति है।

एशियामें ब्रिटेनने हालैण्डसे अनेक स्थान छीने हैं। सत्रहवीं शताब्दीके मध्यमें डचोंके पास अँगरेजोंके मुकाबलेकी जल-शक्ति

थी। पर पीछे जब अँगरेज प्रबल होने लगे, तब वे धीरे धीरे उसके प्रदेश छीनने लगे और यहाँ तक कि केप कालोनी और लंका भी उनके हाथ आ गई। १३ अगस्त १८१४ को लन्दनमें जो सन्धि हुई थी, उसके अनुसार अङ्गरेजोंने यह बात मंजूर कर ली थी कि ईस्ट इराडीज डचोंके ही पास रहे। यही बात वेस्ट इराडीजके कुरेको टापूके सम्बन्धमें भी निश्चित हुई थी। अमेरिकाके स्थानोंके सम्बन्धमें युरोपियनोंका आपसमें यही अन्तिम समझौता हुआ था। इसके उपरान्त मनरो सिद्धान्तके अनुसार यह निश्चय हो गया कि अब कोई युरोपियन शक्ति अमेरिकाका कोई और स्थान न ले सके।

लन्दनमें ईस्ट इराडीजके सम्बन्धमें जो सन्धि हुई थी, उसको प्रायः अङ्गरेज लेखक अनुचित बतलाया करते हैं। डचोंने नेपा-लियनका साथ अवश्य दिया था, पर इसके लिए यह कभी मुनासिब नहीं कहा जा सकता कि डचोंके सब प्रदेश अङ्गरेज ले लें। कई अवसरों पर यह सिद्ध हो चुका है कि डचोंको ईस्ट इराडीज दे देनेसे अङ्गरेजोंका लाभ ही हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि ईस्ट इराडीजको छोड़ते समय अङ्गरेजोंकी समझमें ये लाभ बिलकुल नहीं आये थे, पर फिर भी उनको अनायास लाभ हो ही गया। गत महायुद्धमें हालैण्ड यदि जर्मनीका साथ देता, तो सम्भव था कि अङ्गरेजोंकी बहुत बड़ी हानि होती। पर उसके तटस्थ रहनेके कारण मित्र राष्ट्रोंका बहुत कुछ लाभ ही हुआ।

विस्तार और जन-संख्याके विचारसे एशियाके उपनिवेशोंमें डच ईस्ट इराडीजका महत्व बहुत अधिक है; बल्कि वे सारे संसारमें महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। भारतीय महासागरसे प्रशान्त महासागर तक, मलक्का जलडमरूमध्यसे न्यू गायना तक जितने टापू हैं, प्रायः उन सबमें डचोंका ही अधिकार है।

केवल बोर्नियोका थोड़ा सा उत्तरी भाग अङ्गरेजोंके हाथमें है और टिमूरका पूर्वी भाग पुर्तगालके हाथमें। डचोंके पास औपनिवेशिक कार्योंके लिए यहाँ इतनी अधिक भूमि है कि बहुत दिनों तक उनको किसी नये प्रदेशकी आवश्यकता ही नहीं हो सकती। डचोंने वहाँ शिक्षाका खूब प्रचार किया है और कृषि आदिकी यथेष्ट उन्नति की है। १९१४ में वहाँसे बेगारकी प्रथा भी उठा दी गई है। इसके अतिरिक्त डच लोग सभीके साथ मुक्तद्वारके सिद्धान्तोंका पालन करते हैं।

पर इतना होने पर भी डच लोग वहाँ सुखपूर्वक राज्य नहीं कर सकते। वहाँके मूल निवासी, विशेषतः सुमात्रावाले, प्रायः कुछ न कुछ उपद्रव किया ही करते हैं और उनको शान्त करना पड़ता है। डचोंको वहाँ छोटे मोटे युद्ध भी करने पड़ते हैं जिनमें धन और जनका बहुत कुछ नाश हुआ करता है। साम्यवादी और उदार दलवाले भी वहाँकी सरकारको प्रायः तंग किया करते हैं। १९०२ से १९०९ तक सुमात्राके उत्तरमें अचीनियोंने उपद्रव मचा रखा था। जब लगातार तीन वर्षों तक लड़-भिड़कर भी डच सरकार उनका विद्रोह शान्त न कर सकी, तब पार्लामेण्टमें साम्यवादियों तथा उदार दलवालोंने सरकार पर खूब आक्षेप किये। वे कहने लगे कि डच सरकार अचीनमें हूणोंका सा व्यवहार कर रही है और वहाँकी खानोंसे लाभ उठानेके लिए वहाँकी स्त्रियों और बच्चोंकी हत्या कर रही है। उन्होंने यह भी सलाह दी कि यदि यह युद्ध किसी प्रकार समाप्त ही न हो सकता हो, तो इनमेंसे कुछ उपनिवेश बेच ही दिये जायँ। ऐसी खून-खराबीसे तो उपनिवेशोंको छोड़ ही देना अच्छा है, और नहीं तो यदि इसी बीचमें कोई और प्रबल शक्ति चढ़ाई करके हमसे वे उपनिवेश छीन लेगी, तो हम क्या करेंगे?

१९०५ में बोर्नियो, सुमात्रा और सेलिबीसमें भयंकर मार-काट मची जो १९०७ तक जारी रही। उस समय हेगकी पार्लमेण्टमें फिर यह कहा गया कि सरकार वहाँ बहुत अन्याय करती है। इस प्रकारके नित्यके आक्रमणोंसे दुखी होकर वहाँकी रानी विल्हेमिला-ने १९०९ में यह घोषणा कर दी कि नया शाही कमीशन ईस्ट इण्डीजकी अवस्थाका निरीक्षण करने और शासन-सुधारके उपाय बतलानेके लिए भेजा जायगा। उस समय तक हालैण्ड वहाँ बहुत कुछ काम कर भी चुका था। उसने वहाँके अत्याचारी सरदारोंका बल बहुत घटा दिया था, जनताकी रक्षाका बहुत कुछ प्रबन्ध किया था, सैकड़ों मीलोंकी नई सड़कें बनवाई थीं, नये नये हाट और बाजार खोले थे और अनेक विद्रोह शान्त किये थे। कोई सौ वर्ष पहले वहाँकी देशी रियासतोंके साथ यह निश्चित किया गया था कि उनकी प्रजा अपना माल मनमाना दाम लेकर बेच सके; पर अब यह निश्चय भी तोड़ दिया गया था। पहले उन देशी रियासतोंके लोगों पर किसी प्रकारका कर नहीं लगता था; पर अब उन पर कर भी लगा दिया गया। इन सुधारोंके कारण वहाँके निवासियोंका बहुत लाभ हुआ और वहाँके व्यापार आदिकी खूब उन्नति हुई। यह देखकर बहुतसे देशी राजाओं तथा सरदारोंने विद्रोह या उपद्रव करना छोड़ दिया और चुपचाप हालैण्डका शासन शिरोधार्य कर लिया। इस प्रकार सुधारोंके कारण वहाँ बहुत कुछ शान्ति स्थापित हो गई और डच सरकारके सिरकी आफत भी टल गई।

१९१३ में एक कमिशनने यह सिफारिश की कि हालैण्डके उपनिवेशोंकी रक्षाके लिए एक नया जहाजी बेड़ा खड़ा किया जाय। यह बेड़ा बननेको ही था कि इतनेमें महायुद्ध आरम्भ हो गया और डच ईस्ट इण्डीज अभी तक प्रायः अरक्षित ही है। अभी आवश्य-कता पड़ने पर हालैण्ड उसकी रक्षा नहीं कर सकता। यही कारण

है कि और देशोंकी अपेक्षा हालैण्ड ही इसी बातके लिए सबसे अधिक उत्सुक है कि राष्ट्र संघ दृढ़ हो और सब राष्ट्रोंके उपनिवेशोंकी रक्षाका भार उसी पर चला जाय। यदि हालैण्ड किसी प्रकार ईस्ट इण्डीजकी रक्षाकी चिन्ता और भारसे बच जाय, तो ईस्ट इण्डीजकी बहुत अधिक उन्नति हो सकती है। अभी तक हालैण्डको वहाँके शासनमें हर साल कुछ न कुछ घाटा ही सहना पड़ता है। यदि सारे संसारमें शान्ति हो जाय और दूसरे देशोंकी प्रजाके हाथ हथियार बेचनेकी प्रथा उठ जाय, तो ईस्ट इण्डीजकी भी खूब उन्नति हो और हालैण्डको भी बहुत लाभ हो। वहाँ कहवे, चाय, कोको, टीन, कोयले और तेल आदिसे बहुत अधिक आय हो सकती है। पर हाँ, शर्त यह है कि सरकारको अपनी आमदनीसे ज्यादा सेनाके लिए ही न खर्च कर देना पड़े।

(८)

फिलिपाइन्समें अमेरिका

उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तमें एशियामें स्पेनका कोई उपनिवेश न रह गया था। प्रशान्त महासागरमें उसका स्थान जर्मनी और अमेरिकाके संयुक्त राज्योंने ले लिया था। ११ अप्रैल १८९९ की सन्धिके अनुसार फिलिपाइन्सका द्वीपपुंज प्रायः छः करोड़ रुपये पर स्पेनने अमेरिकाके संयुक्त राज्योंके हाथ बेच दिया था। अगस्त १८९८ में संयुक्त राज्योंने हवाई टापुओं पर अधिकार करके प्रशान्त महासागरमें अपना विस्तार आरम्भ कर दिया था। इसके उपरान्त फरवरी १९०० में ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी और अमेरिकाके संयुक्त राज्योंमें एक इकरार-

नामा हो गया, जिसके अनुसार यह निश्चय हो गया कि समोअन टापू जर्मनी और संयुक्त राज्योंमें बँट जायँ।

हवाई टापुओं पर अधिकार करते ही अमेरिकाने उसे स्वराज्य-के अनेक अधिकार दे दिये और अपनी कांग्रेसमें उसके प्रतिनिधि भी ले लिये। पर समोअन टापुओंका शासन बहुत कुछ पहलेकी ही भाँति होता रहा। वहाँके निवासी अमेरिकाके शासनसे कभी असन्तुष्ट नहीं हुए। ग्वाम बहुत छोटा सा टापू है और उसमें केवल चौदह हजार आदमी बसते हैं। उसका कोई पुराना इति-हास नहीं है। वहाँके सब निवासी अमेरिकन रंगमें रँग गये हैं और वहाँ सबको अनिवार्य रूपसे शिक्षा दी जाती है। वह जल-सेनाका एक स्टेशन मात्र है और वहाँका शासन अमेरिकन जल-सेनाका एक सेनापति करता है।

समोआ, हवाई और ग्वाम पर तो अमेरिकाने वहाँकी प्रजाकी स्वीकृतिसे अधिकार किया था, पर फिलिपाइन्स पर अधिकार करते समय वहाँकी प्रजाको स्वीकृति नहीं ली गई थी। जब संयुक्त राज्योंने फिलिपाइन्समें स्पेन पर आक्रमण किया था, उससे पहले ही वहाँके निवासियोंने स्पेनके विरुद्ध विद्रोह मचा रखा था और वे स्वतन्त्र होना चाहते थे। उनको यह भी विश्वास था कि स्पेनके शत्रु स्वाधीनताके इस युद्धमें हमारा पक्ष लेंगे और स्पेनको दबावेंगे। इस पर अमेरिकन लोग केवल स्पेनवालोंको फिलिपाइन्ससे निकालनेके लिए ही वहाँ गये थे, स्वयं अपने अधिकारमें उसे लानेके लिए नहीं गये थे। ठीक यही दशा मनिला-निवासियोंकी भी थी। पहले तो विद्रोहियोंने अमेरिकनोंका स्वागत किया; पर अन्तमें जब उनको यह मालूम हुआ कि हम बेवकूफ बनाये गये हैं, तब उन्होंने अमेरिकनोंके भी विरुद्ध हथि-यार उठाये।

अमेरिकामें कुछ लोगोंने यह भी आन्दोलन किया था कि फिलिपाइन्स पर अधिकार न किया जाय। पर इस विरोधका कारण कुछ और ही था, इसलिए उसमें उनको सफलता नहीं हुई। अधिकांश राजकर्मचारियों तथा प्रजाने यही सम्मति दी कि फिलिपाइन्स हस्तगत कर लिया जाय। अमेरिका कभी उपनिवेश स्थापित करना नहीं चाहता था, पर संयोगवश ही उपनिवेश उसके हाथ आ गये थे। फिलिपाइन्स द्वीपपुंजमें छोटे बड़े सब मिलाकर कोई तीन हजार टापू हैं और उनमें एक करोड़से कुछ कम आदमी बसते हैं जो प्रायः मलय देशोंसे आये हुए हैं। उनमेंसे बहुतसे स्पेनकी कृपासे ईसाई हो चुके हैं और स्पेनी भाषा बोलते हैं। इसके अतिरिक्त वहाँ अनेक जातियाँ हैं जिन सबकी अलग अलग भाषाएँ हैं। दस लाख मुसलमान भी हैं। बिलकुल जंगलियोंकी आबादी भी कम नहीं है। स्पेनके शासन-कालमें वहाँ चीनी, जापानी या हिन्दू बहुत ही कम गये थे। अमेरिकाने वहाँ पहुँचते ही एक ऐसा कानून बना दिया, जिससे अब वहाँ एशियावाले जा ही नहीं सकते।

अमेरिकाने फिलिपाइन्स पर अधिकार करते ही यह वादा किया था कि यहाँसे शीघ्र ही सैनिक शासन उठा लिया जायगा और सिविल शासन स्थापित होगा। पर वहाँके क्रान्तिकारी कहने लगे कि यदि अमेरिकाने हस्तक्षेप न किया होता, तो हम लोग स्पेनकी अधीनतासे निकलकर अवश्य स्वतन्त्र हो जाते। और इसी आधार पर वे पूर्ण स्वतन्त्र होनेके लिए आन्दोलन करने लगे। जब अमेरिकाने द्वीपों पर अधिकार करना आरम्भ किया, तब वहाँके लोग अमेरिकन सेनासे लड़ने लगे। कुछ प्रभावशाली अमेरिकन भी उन लोगोंकी पीठ ठोंकने लगे और कहने लगे कि तुम लोग अवश्य पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करो। अमेरिका वहाँ शान्ति

स्थापित करना चाहता था; पर कुछ लोग ऐसी शान्तिका विरोध करके वहाँ पूर्ण स्वराज्य स्थापित कराना चाहते थे। यह विरोध बड़ा ही भयंकर था और उस समय तक बराबर जारी रहा, जब तक फिलिपाइन्स बहुतसे अंशोंमें बिलकुल स्वतन्त्र नहीं हो गया। १९०० से अमेरिकाने वहाँ सिविल शासन स्थापित करनेका उद्योग आरम्भ किया। उस समय कुछ स्थानोंमें विद्रोह भी मचा हुआ था। उन विद्रोहियोंमेंसे अनेक ऐसे भी थे जो कभी तो अमेरिकन सीमाके बाहर जाकर अमेरिकन सेनासे लड़ने लगते थे और कभी लौटकर फिर शान्त नागरिक बन जाते थे। १८९९ के बाद एक ही वर्षमें वहाँ अमेरिकाको अपनी सैनिक छावनियोंकी संख्या बढ़ाकर ५३ से ४१३ करनी पड़ी थी और उनके प्रायः एक हजार आदमी मरे और घायल हुए थे। अमेरिकन सेनापति कहते थे कि यहाँ प्रजातन्त्र राज्य स्थापित करना बहुत ही कठिन होगा; क्योंकि अभी बहुत दिनों तक यहाँ बहुत बड़ी सेना रखनी पड़ेगी। सारा अधिकार अमेरिकन सेनापति मैक आर्थरको ही दे दिया गया। यद्यपि १९०१ में भी विशेष शान्ति नहीं हुई, तथापि वहाँ सिविल शासन स्थापित कर दिया गया और बड़े बड़े द्वीपोंमें गवर्नर नियुक्त कर दिये गये और उनको पूरा पूरा अधिकार दे दिया गया। न्यायालय और पाठशालाएँ आदि स्थापित होने लगीं और सड़कें बनने लगीं। पर फिर भी वहाँ पचास हजार सैनिक रखनेकी आवश्यकता बनी ही रही।

विद्रोह और दो बरस तक चलता रहा। १९०२ में वहाँसे एक सेनापतिने लौटकर रिपोर्ट प्रकाशित की कि अमेरिकन अफसर वहाँके निवासियोंके साथ निर्दयताका व्यवहार करते हैं। इस पर सारे अमेरिकामें बड़ा कोलाहल मचा। यद्यपि जाँच करने पर मालूम हुआ कि इन अभियोगोंमें कोई विशेष तथ्य नहीं है, तथापि फिलिपाइन्सवालों-

के साथ सबकी सहानुभूति बढ़ने लगी। अमेरिकाकी कांग्रेसमें लोग कहने लगे कि हमें उपनिवेश नहीं स्थापित करने चाहिएँ और सबको स्वतंत्र होनेमें सहायता देनी चाहिए। इस पर राष्ट्रपति रूसवेल्टने घोषणा कर दी कि जितने राजनीतिक कैदी हैं, वे सब छोड़ दिये जायँ; सैनिक शासन हटा लिया जाय; और जब पूर्ण शान्ति स्थापित हो जाय, तब उसके दो वर्ष बाद वहाँ एक प्रतिनिधि सभा स्थापित कर दी जाय और वहाँके कानून बनानेके लिए भी वहीं एक काउन्सिल बना दी जाय। पर फिर भी फिलिपाइन्स कमिशनको सब बातों पर पूरा पूरा अधिकार दिया गया था और उस कमीशनमें वहाँके गवर्नर जनरल आदि उच्च पदाधिकारी ही थे। अर्थात् फिलिपाइन्सको कुछ अधिकार अवश्य दिये गये थे, पर सर्वोच्च अधिकार फिर भी अमेरिकन राजकर्मचारियोंके ही हाथमें रखे गये थे। राष्ट्रपति रूसवेल्टने दिसम्बर १९०४ में इसका कारण यह बतलाया था कि फिलिपाइन्सवाले अभी तक अपने देशका ठीक ठीक शासन करनेके योग्य नहीं हुए हैं और न वे अपनी सभ्यता स्थापित कर सकते हैं। हम उन सबके साथ उपकार करना चाहते हैं और उनको सभ्य तथा सुशिक्षित बनाना चाहते हैं। उनको इस समय पूर्ण स्वतन्त्रताकी आवश्यकता नहीं है, बल्कि अच्छे कानूनों, अच्छे शासकों और व्यापारिक उन्नतिकी आवश्यकता है; और व्यापारिक उन्नति तभी हो सकती है, जब वहाँ अमेरिकनोंकी पूँजी लगे।

राष्ट्रपति रूसवेल्टके ऐसा कहनेका मुख्य कारण यह था कि वे भी यही मानते थे कि गोरोंके बोझसे लोगोंका उपकार होता है। संयुक्त राज्य तो कभी उपनिवेश स्थापित करना नहीं चाहते थे, पर उन पर जो भार आ पड़ा था, उसे वे लोग उठानेसे इन्कार भी नहीं कर सकते थे। इसमें सन्देह नहीं कि अमेरिकावाले आप भी स्वतंत्र

रहना चाहते हैं और दूसरोंको भी स्वतंत्र रखना चाहते हैं। वे ऐसे लोगोंको कभी विद्रोही नहीं समझते जो स्वतंत्र होनेके लिए प्राण तक देनेको तैयार हों। पर राष्ट्रपति रूसवेल्टके विचार कुछ और ही थे। अतः अमेरिकन इसके लिए विशेष दोषी नहीं कहे जा सकते थे। रूसवेल्टका भी इसमें इस दृष्टिसे कोई विशेष दोष नहीं था कि वे जो कुछ उचित समझते थे, वही कहते थे। वे फिलिपाइन्सके धनका अपहरण नहीं करना चाहते थे; बल्कि उसको सभ्य और सुशिक्षित बनाकर स्वतंत्र करना चाहते थे। पर स्वराज्यके सिद्धान्तके अतिरिक्त अमेरिकनोंके सामने फिलिपाइन्सके सम्बन्धमें तीन और विकट प्रश्न थे। एक तो यह कि वहाँके मुसलमानोंमें दासत्वकी प्रथा प्रचलित थी; दूसरे यह कि सभी जगह स्पेनियोंके पास बहुत बड़ी बड़ी जमीनें थीं; और तीसरे यह कि स्पेनके साथ सम्बन्ध छूट जानेके कारण वे लोग चाहते थे कि हमारे यहाँका बना हुआ माल उन्हीं शर्त्तों पर अमेरिकाके बाजारोंमें भी बिके, जिन शर्त्तों पर स्पेनके हाथ बिकता था।

मुसलमानी देशोंमें शासन करनेवाली सभी पाश्चात्य जातियों- को इस दासत्ववाले कठिन प्रश्नका सामना करना पड़ा है। अफ्रि- कामें बरसोंसे ग्रेट ब्रिटेन और फ्रान्स इसीके फेरमें पड़े हुए हैं। दासत्वको प्रचलित रहने देना तो उनके सिद्धान्त और नीतिके विरुद्ध है। पर यदि वे इस प्रथाको तोड़ना चाहें, तो कठिनता यह होती है कि लोगोंकी जायदाद जब्त करनी पड़ती है और कड़ा शासन आरम्भ करना पड़ता है। यह इसलिए कि जहाँ जहाँ दासत्वकी प्रथा होती है, वहाँ वहाँ थोड़ेसे आदमियोंके पास ही बहुत अधिक सम्पत्ति होती है। किसी देशके निवासियोंके लिए यही बहुत है कि वे विदेशी शासकोंका शासन स्वीकृत कर लें। उनसे यह आशा रखना बहुत ही कठिन है कि वे अपने यहाँकी

पुरानी परिपाटियोंको बिलकुल बदल दें और ऐसे परिवर्तन स्वीकृत कर लें जिनसे उनको बहुत कुछ आर्थिक हानि हो। जब मेजर जनरल वुड सुलू द्वीपपुंजके गवर्नर नियत हुए थे, तब उन्होंने दासत्व प्रथा नष्ट करनेकी घोषणा कर दी थी। इससे मोरो लोग और भी भीषणतासे अमेरिकन शासनका विरोध करने लग गये और अमेरिकाको वहाँ कड़ा सैनिक प्रबन्ध करना पड़ा।

१९०२ में वहाँके गवर्नर जनरल टैफ्ट स्वयं रोम गये और वहाँ उन्होंने पोपसे स्पेनी जमींदार साधुओंकी फिलिपाइन्सकी सम्पत्तिके सम्बन्धमें बातचीत की। उन्होंने कहा कि हम लोग वहाँसे स्पेनी जमींदार साधुओंको धार्मिक कारणोंसे नहीं निकालना चाहते, बल्कि राजनीतिक तथा आर्थिक कारणोंसे निकालना चाहते हैं। अन्तमें उन स्पेनी साधुओंने यही निश्चय किया कि हम अपनी अपनी जमींदारी अमेरिकन सरकारके हाथ बेच देंगे। पहले तो वे बहुत अधिक दाम माँगते थे, पर पीछे आधे दाम पर ही देनेके लिए तैयार हो गये। अमेरिकाने वह जमीनें खरीदकर धीरे धीरे फिलिपाइन्सवालोंके हाथ बेच दीं और इस प्रकार जमीनोंके सम्बन्धका यह झगड़ा तै हो गया।

व्यापार सम्बन्धी झगड़ा भी कुछ कम नहीं था। यह सिद्ध करनेके लिए कि अमेरिका कभी फिलिपाइन्सके धनका अपहरण नहीं करना चाहता, यह आवश्यक था कि दोनों देशोंको व्यापार सम्बन्धी समान अधिकार और समान सुभीते प्राप्त हों। अमेरिका-वाले यह तो चाहते थे कि हमारा माल बिना किसी रोक टोक या महसूलके फिलिपाइन्समें जाय; पर वे यह नहीं चाहते थे कि फिलिपाइन्सके मालका महसूल उठा दिया जाय या उसमें कोई विशेष सुधार अथवा रिआयत की जाय। फिलिपाइन्समें तमाखू

और चीनी खूब होती है, इसलिए यह प्रश्न और भी विकट हो गया था। अन्तमें यह निश्चित हुआ कि जब तक कांग्रेस इस सम्बन्धमें कोई विशेष निश्चय न करे, तब तक दोनों देशोंमें परस्पर मुक्तद्वार व्यापारका सिद्धान्त ही काम करे। हवाई टापू संयुक्त राज्योंका अंग समझे जाते थे। इसलिए फिलिपाइन्सवाले भी वही अधिकार माँगने लगे; क्योंकि वे कहते थे कि हमारे देश पर जबरदस्ती अधिकार प्राप्त किया गया है। पहले तो ऐसे ही नियम बनाये गये थे जिनसे अमेरिकनोंको विशेष लाभ होता था; पर धीरे धीरे उन नियमोंमें सुधार होने लगे और फिलिपाइन्सवालोंके साथ समानताका व्यवहार होने लगा।

इस बातमें किसीको सन्देह नहीं हो सकता कि अमेरिकाके शासनसे आरम्भमें पन्द्रह वर्षों तक फिलिपाइन्सवालोंको बहुत कुछ लाभ हुआ। पर साथ ही इसमें भी सन्देह नहीं कि अमेरिकाने फिलिपाइन्स पर अपने सिद्धान्तोंके भी विरुद्ध और वहाँके निवासियोंकी इच्छाके भी विरुद्ध अधिकार जमाया था। अमेरिकन सबको समान समझते हैं और बिना प्रतिनिधित्वका अधिकार दिये किसीसे कर लेना अनुचित समझते हैं। ऐसी दशामें उनको फिलिपाइन्स सम्बन्धी अपनी कार्रवाइयोंका समर्थन उन्हीं दलीलोंसे करना पड़ा था, जिन दलीलोंसे युरोपियन अपने कामोंका समर्थन किया करते हैं और जिन दलीलोंमें न्यायतःकोई विशेष तथ्य नहीं होता। १९०४ में तो राष्ट्रपति रूसवेल्टने फिलिपाइन्सवालोंको स्वराज्यके अयोग्य बतला ही दिया था; पर दो ही वर्ष बाद उनको यह भी कहना पड़ा था कि धीरे धीरे लोगोंको स्वतंत्रता दी जा रही है और ज्यों ज्यों अवस्था सुधरती जायगी, त्यों त्यों उनको और भी अधिकार मिलते जायँगे। १९०७ में वहाँकी काउन्सिलमें चुनावकी प्रथा प्रचलित की गई, पर मतदाताओंका क्षेत्र बहुत ही संकुचित रखा गया था। इस

समय वहाँ एक लाखसे कुछ कम ही लोगोंको मत देनेका अधिकार प्राप्त था।

१९१० में प्रायः सारे एशियामें राष्ट्रीयताके भाव फैल चले थे। उस समय इन टापुओंमें भी कुछ उपद्रव आरम्भ हुआ था, जिसे दबानेके लिए सैनिकोंकी आवश्यकता पड़ी थी। १९१२ में अमेरिकामें फिर इस बातका आन्दोलन होने लगा कि फिलिपाइन्सको पूर्ण स्वतन्त्र कर दिया जाय। एक बिल भी तैयार किया गया था, जिसमें कहा गया था कि शीघ्र ही फिलिपाइन्सको स्वराज्य दे दिया जाय। और अन्तमें २९ अगस्तको उसे स्वतन्त्रता दे भी दी गई। अब वहाँकी काउन्सिलोंका चुनाव वहींके लोग करते हैं। अब वहाँ अमेरिकनोंके हाथमें बहुत ही कम अधिकार रह गये हैं और प्रायः सभी अधिकार वहाँके निवासियोंको मिल गये हैं। यहाँ तक कि नौ सौ नगरोंमें म्यूनिसिपेल्टियाँ भी स्थापित हो चुकी हैं।

अमेरिकन शासनके लिए सबसे अधिक गौरवकी बात यह है कि गत बीस वर्षोंमें वहाँ शिक्षा-प्रचारका बहुत ही अधिक काम हुआ है। वहाँ प्रायः पाँच हजार पाठशालाएँ हैं, जिनमें लगभग सात लाख विद्यार्थी पढ़ते हैं। अँगरेजी सभी पाठशालाओंमें पढ़ाई जाती है। इसके अतिरिक्त दो सौके लगभग प्राइवेट विद्यालय भी हैं जिनमें तीस हजार विद्यार्थी हैं। इस शिक्षा-प्रचारका ठीक ठीक महत्व हमें तभी मालूम होता है, जब हम यह देखते हैं कि उसके आस पासके इण्डो-चाइना और डच ईस्ट इण्डीज आदि उपनिवेशोंमें फ्रान्सीसियों और डचोंने इस सम्बन्धमें क्या किया है। फिलिपाइन्सकी अपेक्षा मिस्र अधिक सम्पन्न देश है और वहाँकी राजकीय आय भी अधिक है। आबादी भी फिलिपाइन्ससे कम नहीं है। लेकिन फिर भी आजकल वहाँके अँगरेजी स्कूलोंमें केवल तीस हजार विद्यार्थी हैं और प्रारम्भिक शिक्षा पानेवाले विद्यार्थियों-

की संख्या ढाई लाखसे अधिक नहीं है। मिस्रमें अँगरेजी शासनके विरुद्ध सबसे बड़ी शिकायत यही है। ऐसी दशामें हम कह सकते हैं कि शिक्षा-प्रचारके लिए अमेरिकाने फिलिपाइन्समें जितना काम किया है, उतना एशिया और अफ्रिकाके उपनिवेशोंमें और किसीने नहीं किया।

युरोपकी औपनिवेशिक प्रथाके पक्षपाती कहा करते हैं कि अधीनस्थ देशोंके लोगोंको शिक्षा देनेका परिणाम अच्छा नहीं होता; क्योंकि जो लोग स्वराज्य आदिके लिए आन्दोलन करते हैं, वे निस्सन्देह इन्हीं शिक्षित लोगोंमेंसे होते हैं। ऐसी दशामें तो सबसे अच्छी बात यही थी कि कोई ऐसा उपाय होता जिससे अधीनस्थ देशके लोग किसी प्रकार यह बात जान ही न सकते कि युरोपके देशोंमें लोगोंने किस प्रकार अधिकार प्राप्त किये हैं और अमेरिका तथा फ्रान्स आदिने किस प्रकार प्रजातन्त्र राज्य स्थापित किये हैं। लेकिन दुःख इसी बातका है कि ऐसी कोई अवस्था हो ही नहीं सकती। भारत आदि देशोंके लोगोंने इन गोरी जातियोंको इतना अनुभव करा दिया है कि वे और देशोंको शिक्षा देनेसे डरते हैं। इसका मतलब यही है कि वे लोगोंको अशिक्षित रखकर उनके धनका अपहरण करना चाहते हैं। स्वार्थ जो न करावे, वही थोड़ा है।

अमेरिकाने फिलिपाइन्समें शिक्षा-प्रचारका जो प्रशंसनीय कार्य किया है, उसका परिणाम यह हुआ है कि अब वहाँके लोग पूर्ण स्वतन्त्र होनेका उद्योग कर रहे हैं। अमेरिकाके लिए यह और भी प्रशंसाकी बात है कि शान्ति महासभामें सम्मिलित होनेसे पहले ही १९१६ में उसने फिलिपाइन्सको स्वराज्य सम्बन्धी यथेष्ट अधिकार दे दिये। फिलिपाइन्सवाले स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके लिए जो उद्योग करते हैं, उसका अमेरिकन कभी विरोध नहीं करते। शान्ति महासभाके समय फिलिपाइन्सवालोंका एक डेपुटेशन पूर्ण

स्वराज्य माँगनेके लिए अमेरिका गया था। वहाँ उसे समाचारपत्रों और अधिकारियों दोनोंकी ओरसे यथेष्ट प्रोत्साहन मिला था। वहाँवालोंने उसको अँगरेजी पत्रों और अँगरेज अधिकारियोंकी तरह गालियाँ नहीं सुनाई थीं। इस सम्बन्धमें अमेरिकावालोंके भाव कितने अच्छे हैं, इसका पता केवल इसी एक बातसे लग सकता है कि उस डेपुटेशनसे अमेरिकाके युद्ध-सचिव बेकरने कहा था कि अमेरिकन लोग स्वतन्त्रताके इतने प्रेमी हैं, कि वे कभी किसी दूसरेको स्वतन्त्रता देनेसे इनकार कर ही नहीं सकते।

(६)

तुर्क साम्राज्यका अंगच्छेद

अठारहवीं शताब्दीके तीसरे चरणके अन्तमें तुर्कोंका आस्ट्रिया और रूसके साथ युद्ध हुआ था, जिसमें आस्ट्रियाने तुर्कोंको हंगरीसे निकाल दिया था और रूसने उसका बहुत सा प्रदेश छीन लिया था। उस समय आस्ट्रिया बराबर बालकनमें आगे बढ़ता जाता था और कृष्ण सागरके आस पास रूस बढ़ता जाता था। तुर्क बिलकुल निर्बल हो गये थे और उनमें लड़नेके लिए कुछ भी दम न रह गया था। कई युरोपियन शक्तियाँ मिलकर तुर्कीको हजम कर जाना चाहती थीं। पर कठिनता यह थी कि उन सबमें बहुत कुछ मतभेद था; और इसी मतभेदके कारण अठारहवीं शताब्दीके अन्तमें तुर्कीका सर्वनाश होनेसे बच गया था। सब लोग अपना अपना मतलब देखते थे। मिस्र और शाम देश पर नेपोलियनका आक्रमण देखकर अँगरेज चौकन्ने हो गये थे और दूसरी शक्तियोंके हाथसे भारतको बचाने-

के लिए उन्होंने यह सिद्धान्त निकाला था कि इस समय तुर्कों के पास जितना साम्राज्य है, वह अखण्ड बना रहे, उसका अंगच्छेद न होने पावे। उन्नीसवीं शताब्दी तक अँगरेज लोग बराबर इसी सिद्धान्तका मण्डन और पालन करते रहे। क्रीमियाका युद्ध इसी लिए हुआ था। दो बार फ्रान्स और रूसने इसमें कुछ बाधा उत्पन्न करनेका विचार किया था, पर अँगरेजोंके दबानेसे उनको शान्त होना पड़ा। यदि उस समय वे लोग न मानते तो अँगरेजों-को उनके साथ युद्ध करना पड़ता। तुर्क साम्राज्यकी ईसाई प्रजा जब जब मुसलमानोंके अधिकारसे निकलनेका उद्योग करती थी, तब तब युरोपकी बड़ी बड़ी शक्तियाँ उसका विरोध करती थीं। पर इन बड़ी बड़ी शक्तियोंके विरोधके कारण कुछ और ही थे। वे समझती थीं कि यदि बालकनवालोंकी राष्ट्रीय आकांक्षाएँ पूरी हो गईं, तो फिर सारे युरोपमें प्रजातन्त्रके भावोंका प्रचार हो जायगा और हमारा राज्य हमारे हाथसे निकलकर प्रजाके हाथमें चला जायगा। दूसरी बात यह थी कि हर एक शक्तिको इस बातका भय था कि यदि तुर्कीका अंगच्छेद होगा, तो दूसरी शक्तियोंको उसके नये नये प्रदेश मिल जायँगे जिससे उनका बल बढ़ जायगा। और तीसरे यह कि प्रत्येक बड़ी शक्तिको यह आशा थी कि हम तुर्कीको ऋण देकर और उससे थोड़े थोड़े अधिकार प्राप्त करके अन्तमें उसके पूरे मालिक बन जायँगे और किसी दूसरी शक्तिकी दाल न गलने देंगे। बस यही तीन कारण थे, जिनसे इधर कुछ दिनों तक तुर्क साम्राज्यका अंगच्छेद न हो सका था।

१८९५ से १९१९ तक तुर्कीके सम्बन्धमें युरोपवालोंकी नीतिमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। हृदयहीनता और स्वार्थ यही दोनों बराबर काम करते थे। न तो तुर्क सम्राज्यकी मुसलमान प्रजाके

हितका विचार किया जाता था और न ईसाई प्रजाके हित पर ध्यान दिया जाता था। सब लोग अपना ही अपना लाभ देखते थे। एकत्र होनेवाले युरोपियन राजनीतिज्ञोंके मनमें कभी भूलकर भी यह भाव नहीं आया कि जिन लोगोंका भाग्य हमारे हाथमें है, उनकी कुछ रक्षा या सहायता करना भी हमरा कर्तव्य है। और यदि आज इस बीसवीं शताब्दीमें भी कोई यह समझता हो कि उनके भावोंमें कुछ परिवर्तन हुआ है, तो वह भूल करता है। बालकन युद्ध छिड़नेसे पहले ८ अक्तूबर १९१२ को युरोपकी छहों बड़ी शक्तियोंने बालकन राज्योंको नीचे लिखी तीन सूचनाएँ दी थीं:—

(१) हम लोग उन सब कार्योंकी घोर निन्दा करते हैं जिनसे शान्ति-भंग होता हो।

(२) बर्लिनकी सन्धिकी तेइसवीं धाराके आधार पर युरोपीय तुर्कीकी प्रजाके हितकी दृष्टिसे हम लोग वहाँके शासन-सुधारोंका काम अपने हाथमें लेंगे और इस बातका ध्यान रखेंगे कि तुर्कीके सुलतानके अधिकार किसी प्रकार कम न होने पावें और तुर्क साम्राज्यका अंगच्छेद न हो सके।

(३) यदि इस सूचनाके निकल चुकने पर भी युद्ध छिड़ गया, तो उस युद्धके अन्तमें हम किसी ऐसे परिवर्तनको स्वीकृत न करेंगे जिसके अनुसार युरोपियन तुर्कीकी सीमामें किसी प्रकारकी कमी-बेशी हो।

यह तो बालकन युद्धके समयकी दशा थी। अब जरा गत महायुद्धके समयकी बात सुनिये। गत महायुद्धके समय इन्हीं बड़ी बड़ी शक्तियोंने गुप्त रूपसे आपसमें समझौता कर लिया था कि तुर्क साम्राज्यको हम लोग इस प्रकार आपसमें बाँट लेंगे और अमुक अमुक प्रान्तोंको अपने अधिकार अथवा प्रभावमें रखेंगे। इस समझौतेमें भी सदाकी भाँति इस बातका कोई ध्यान नहीं रखा

गया था कि तुर्की प्रजाका हित किस बातमें है और उसकी इच्छा क्या है। १८७८ की बर्लिनवाली कान्फरेन्सकी भाँति १९१९ की पेरिसवाली कान्फरेन्समें भी तुर्क साम्राज्यमें बसनेवाली जातियोंके प्रतिनिधियोंको घुसने नहीं दिया गया था और उन्हें उस वाद-विवादमें सम्मिलित होनेका अधिकार नहीं दिया गया था जो उनके भाग्यके निर्णयके सम्बन्धमें हुआ था।

अब तक युरोपियन शक्तियोंने तुर्क-साम्राज्यके प्रान्त अपने अधिकारमें लानेके लिए जितने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उद्योग किये थे, उनमें उनको कोई सफलता नहीं हुई थी। पर उनकी इस नीतिसे तुर्क साम्राज्यमें बसनेवाली जातियोंकी यह हानि अवश्य हुई थी कि उनका स्वतंत्रता-प्राप्तिका कार्य और भी कठिन हो गया था और तुर्क साम्राज्यमें बसनेवाले सभी लोगोंको बहुत कष्ट हुआ था। युरोपके राष्ट्रोंने तरह तरहके षडयंत्र रचकर और निरपराधोंका रक्त बहाकर एक ऐसी विकट परिस्थिति खड़ी कर दी थी, जो अब उनके वशकी नहीं रह गई थी। उन्नीसवीं शताब्दीमें तुर्क साम्राज्य अखण्ड न रह सका। दो युद्धोंमें रूसने तुर्कीसे कृष्ण सागरके पूर्वका बहुतसा प्रदेश ले लिया। इधर यूनान, सरविया, मान्टीनीग्रो, रूमानिया और बलगेरिया अपने अपने उद्योगसे स्वतंत्र हो गये और यहाँ तक बढ़े कि तुर्कोंको युरोपके बाहर निकल जाना पड़ा। और गत महायुद्धने तो ऐसी भीषण परिस्थिति उत्पन्न कर दी, जिसे प्रायः सौ वर्षसे युरोपियन शक्तियाँ रोकना चाहती थीं।

युरोपियन राष्ट्रोंके बहुत कुछ सहायता करने पर भी तुर्क लोग अपने साम्राज्यकी रक्षा न कर सके। उनकी आँखें खुलनेसे पहले ही उनका नाश हो गया। अपने साम्राज्यकी रक्षाका भाव उनके मनमें गत महायुद्धसे दस वर्ष पहले ही उठा था। सुलतान अब्दुल-

हमीदके शासन-कालके आरम्भमें मिदहत पाशा तथा कुछ और सुधारकोंने तरुण तुर्कोंका आन्दोलन आरम्भ किया था और उसे उस समय क्षणिक सफलता भी हुई थी। उस आन्दोलनके कारण अब्दुलहमीदने वैध शासन संघटन किया था। पर जब ग्रेट ब्रिटेनने रूसके विरुद्ध तुर्कोंकी सहायता की, तब अब्दुलहमीदने समझ लिया कि अब हमारा साम्राज्य बच गया और उसने नया शासन संघटन तोड़ दिया। तीस वर्ष तक उसने खूब ही अनियन्त्रित शासन किया। पर जब पीछेसे तुर्कोंने फिर यह समझा कि हमारे साम्राज्य पर विपत्ति आनेवाली है, तब फिर तरुण तुर्कोंका घोर आन्दोलन आरम्भ हुआ। इस बार तुर्कीकी ईसाई प्रजाने भी उनका साथ दिया। अब फिर वैध शासन संघटनकी माँग होने लगी। जब इन आन्दोलनकारियोंने लोगोंको अच्छी तरह यह बात समझा दी कि तुर्क साम्राज्यकी रक्षाके लिए अनियन्त्रित शासनका अन्त करना और वैध शासन स्थापित करना परम आवश्यक है, तब पुराने पुराने राजनीतिज्ञ और बड़े बड़े राजकर्मचारी भी उस आन्दोलनके पक्षमें आ गये। बस, इसी लिए १९०८ में तुर्कीमें राज्यक्रान्ति हुई थी।

तुर्कीका १९०८ के पहलेका इतिहास बहुत ही पेचीला है। अतः हम यहाँ पर उसकी दो एक मुख्य बातोंका वर्णन कर देना ही पर्याप्त समझते हैं। बालकन पर आस्ट्रिया और रूसकी पहलेसे ही नजर थी। १९०३ में इन दोनों शक्तियोंने निश्चित किया कि सब महाशक्तियोंसे यह प्रस्ताव किया जाय कि मेसिडोनियामें कुछ सुधार हो। इस प्रस्तावको और सब शक्तियोंने भी मंजूर कर लिया। मेसिडोनिया था तो तुर्कोंके अधीन, पर सब शक्तियोंने मिलकर अपनी ओरसे वहाँ एक सेना रख दी। बालकन राज्योंने समझ लिया कि इन महाशक्तियोंकी नीयत ठीक नहीं है, इसलिए

उन्होंने भी मेसिडोनियामें अपना षडयंत्र आरम्भ कर दिया।
इसी परिस्थितिसे भयभीत होकर लोगोंने तरुण तुर्कोंका आन्दोलन जोरोंसे आरम्भ किया था। वे लोग चाहते थे कि इसी समय यहाँके शासन संघटनमें अनुकूल परिवर्तन हो जाय, जिसमें युरोपमें तुर्कोंका साम्राज्य बचा रहे। अब एशियावालोंने समझ लिया कि रूसियोंकी कुछ भी न चलेगी। रूस-जापान युद्धमें जापानके विजयी होनेके कारण एशियावालोंका साहस और भी बढ़ गया था और वे युरोपियनोंके अधिकारसे निकलनेका उद्योग करने लगे थे। मिस्र, तुर्की, फारस, भारत और चीनके लोग समझने लगे कि जब जापान युरोपियन शक्तियोंकी बराबरी कर सकता है, तब फिर हम लोग उनसे क्यों कम रहें? लगातार तीन वर्षों तक तरुण तुर्कोंका आन्दोलन जोरोंसे जारी रहा और वे बराबर सेना तथा सैनिक अधिकारियोंको अपनी ओर मिलाते रहे। वे सबसे यही कहते थे कि अब्दुलहमीदके शासनके कारण हमारा देश रसातलको जा रहा है। यदि हम लोग उनके सब अधिकार स्वयं ले लें, तो हम लोग सेना तथा शासनका ठीक ठीक प्रबन्ध कर सकते हैं। जब हम शासन-सुधार कर लेंगे, तब युरोपियन शक्तियोंको हमारा सर्वनाश करनेका अवसर न मिलेगा। उस समय हम उनकी गुलामीसे भी बच जायँगे और बालकन राज्योंकी अनुचित आकांक्षाओं तथा षडयंत्रोंका भी नाश कर सकेंगे। जब हम अपने देशके आप ही मालिक बन जायँगे और हमारे पास यथेष्ट सेना रहेगी, तब बड़ी बड़ी शक्तियाँ हमारा आदर करने लगेंगी।

१९०८ के मध्यमें तुर्की सेनाने विद्रोह किया। अब्दुलहमीद जिस सैनिक अधिकारीको वह विद्रोह शान्त करनेकी आज्ञा देता था, उससे उसे यही उत्तर मिलता था कि इस समय सारी सेना शासनमें सुधार चाहती है। इन विद्रोहियोंका किसीने विरोध

नहीं किया था, इसलिए इस विद्रोहमें रक्तपात भी बिलकुल नहीं हुआ था। बस तुरन्त ही सारे संसारमें यह समाचार फैल गया कि तुर्कीमें वैध शासन संघटन हो गया। पर बहुत से लोग कहते थे कि यह नया शासन कभी सफल नहीं होगा; और यह बात अभी तक कही जाती है। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि तरुण तुर्कोंको कभी काम करनेका अवसर नहीं दिया गया और आरम्भसे ही महाशक्तियाँ उनका विरोध करती हैं। यह बात बहुतसे अंशोंमें ठीक भी है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि तुर्क साम्राज्यमें मुसलमानोंके अतिरिक्त और जो जातियाँ बसती हैं, वे भी इस शासन-सुधारके विरुद्ध हैं। पर उनका यह कहना ठीक नहीं है।

रूस और आस्ट्रिया शुरूसे ही इस शासन-सुधारके घोर विरोधी थे। इसका कारण यह था कि उनके साम्राज्योंमें अनेक जातियाँ बसती थीं जिनको उन लोगोंने जबरदस्ती अपने अधिकार-में कर रखा था। इन दोनों महाशक्तियोंको इस बातका भय था कि कहीं इस राज्य-क्रान्तिके कारण हमारे यहाँ भी राज्यक्रान्ति न हो जाय। उनको यह भी डर था कि यदि तुर्क बलवान् हो जायँगे, तो हम लोग कुस्तुन्तुनिया और सेलोनिका पर अधिकार न कर सकेंगे। इटली भी बहुत दिनोंसे तुर्कोंके ट्रिपोली तथा और सूबों पर दाँत गड़ाये हुए था। जर्मनी भी मेसोपोटामिया तक अपना आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था; इस-लिए वह भी इस शासन-सुधारका शत्रु था। अँगरेजोंको इस बातका डर था कि तुर्क लोग बलवान् होकर कहीं हमसे मिस्र और साइप्रस न वापस ले लें। उनको यह भी डर था कि तुर्कोंको अपने देशका आप शासन करते देखकर कहीं भारतके मुसलमान तथा और लोग भी न बिगड़ खड़े हों और हमसे स्वराज्य न माँगने लग

जायँ। फ्रान्स यह समझता था कि कहीं हमारे उत्तर अफ्रिकावाले प्रदेशोंमें कोई हलचल न मचे और पूर्वी युरोपमें ईसाइयोंके संरक्षककी हैसियतसे हमें जो अधिकार मिले हैं, कहीं वे भी हमसे न छिन जायँ। तुर्क साम्राज्यमें जो युरोपियन प्रजाएँ बसती थीं, वे भी इस शासन-सुधारसे बहुत नाराज थीं; क्योंकि पहले तो उन पर किसी प्रकारका टैक्स आदि न लगता था, पर अब उन पर भी टैक्स लगनेको था। यूनान बहुत दिनोंसे क्रीट पर अधिकार करनेकी चिन्तामें था और बालकन राज्य मेसिडोनिया और थ्रेस पर अधिकार करना चाहते थे। इस शासन-सुधारसे उनके वे शिकार भी उनके हाथसे निकलना चाहते थे। यों तो युरोपके समाचारपत्रोंने इस नये प्रजातंत्र राज्यकी स्थापना पर बहुत प्रसन्नता प्रकट की थी, पर वहाँके राजनीतिज्ञ बहुत ही चिन्तित हो रहे थे। जिस समय आस्ट्रिया-हंगरीने यह घोषणा की कि बोस्निया और हरजीगोविना प्रान्तों पर हमने अपना अधिकार कर लिया, अथवा जब इटलीने बिना युद्धकी घोषना किये ही ट्रिपोली पर अधिकार कर लिया, उस समय सभी शक्तियाँ चुपचाप बैठी तमाशा देखती रहीं। किसीने चूँ तक करनेकी आवश्यकता नहीं समझी।

तुर्कीमें रहनेवाले युरोपियन राजनीतिज्ञ और अधिकारी आदि बहुत दिनोंसे यह शोर मचाते रहे हैं कि तरुण तुर्क अपने यहाँके आरमीनियनों, यूनानियों और अरबों आदि पर अत्याचार तो अवश्य करते हैं, पर उनके इस अत्याचारका मुख्य कारण यह है कि इन लोगोंसे उनको अपनी नवीन शासन-प्रणालीके संचालनमें यथेष्ट सहायता नहीं मिलती। अर्थात् यूनानी और अरब आदि नये प्रजातंत्र राज्यके कामोंमें बाधक होते हैं और इसलिए तरुण तुर्कोंको उन पर अत्याचार करना पड़ता है। इस प्रकार वे लोग एक ओर तो तरुण तुर्कोंको अत्याचारी प्रमाणित करना

चाहते थे और आगे चलकर उनकी इस बदनामीसे लाभ उठाना चाहते थे; और दूसरी ओर उनकी प्रशंसा भी करते चलते थे। पर वास्तवमें यह बात नहीं थी। जिस समय तुर्कीमें नवीन शासन संघटन हुआ था, उस समय आरमीनियन, यूनानी, एल्बेनियन और अरब आदि सभी सन्तुष्ट थे। सब लोग मिलकर नये शासनको सफल बनाना चाहते थे और सदा तुर्क साम्राज्यके अन्दर ही रहना चाहते थे। यहाँ तक कि जिन आरमीनियनोंका कतल हुआ था और जिनके साथ सबसे अधिक अत्याचार हुआ था, वे भी यही कहते थे कि पुरानी बातोंको भूल जाना चाहिए और नये शासनमें मिलकर रहना और काम करना चाहिए। तुर्कोंके कुछ शत्रु यह भी कहते थे कि तरुण तुर्कोंको नये शासनमें इसलिए सफलता नहीं होगी कि प्रजातंत्रकी शासन प्रणाली मुसलमानोंकी धार्मिक शासन प्रणालीके सिद्धान्तोंके बिलकुल विरुद्ध है। इस बातका असल मतलब यह था कि आफ्रिका और एशियाके निवासी स्वतंत्र होनेके योग्य नहीं हैं और उनको सदा युरोपियनोंके अधीन रहना चाहिए। ऐसे लोग यह सिद्ध करना चाहते थे कि तरुण तुर्कोंका आन्दोलन केवल धार्मिक आन्दोलन है और वे बलवान् होकर अपनी ईसाई प्रजाको तंग करेंगे। पर यह बात बिलकुल गलत है। तुर्कोंमें धार्मिक कट्टरपन बहुत ही कम है। चौदहवींसे सोलहवीं शताब्दी तक युरोपके ईसाई राज्योंने धार्मिक द्वेषके कारण जितने युद्ध किये थे और विधर्मियों पर जितने अत्याचार किये थे, उनको देखते हुए तुर्कोंका धार्मिक कट्टरपन कोई चीज ही नहीं है। तुर्क साम्राज्यमें ईसाई भी हैं और मुसलमान भी; और वहाँ दोनोंके साथ समान व्यवहार होता आया है। यदि कभी ईसाइयोंको मुसलमान बनानेका उद्योग भी किया गया है, तो केवल इसी विचारसे कि सब लोग एक ही मतके हो जायँ।

इसमें उद्देश्य सदा राष्ट्रीय रहा है, न कि धार्मिक। ईसाइयों पर अनेक प्रकारके अत्याचार तो केवल उसी समय आरम्भ हुए, जब बालकन राज्य स्वतंत्र होकर अनेक प्रकारके षड्यंत्र रचने लगे; जब रूसने आरमीनियाका कुछ अंश तो दबा लिया और बाकी पर दाँत गड़ाया; और जब सीरियामें फ्रान्सके तथा मिस्रमें अँगरेजोंके हस्तक्षेपके कारण तुर्कोंको इस बातका खटका होने लगा कि हमारा साम्राज्य ही नष्ट होना चाहता है। अर्थात् जब तुर्क लोग यह समझने लगे कि हमारे यहाँकी ईसाई प्रजाएँ युरोपियन राज्योंसे मिलकर हमारे प्रदेशों पर अधिकार करना चाहती हैं, तब उन्होंने ईसाइयों पर अत्याचार आरम्भ किये। और नहीं तो अधिकांश तरुण तुर्क बड़े ही उदार और शुद्ध हृदयके थे और सब कुछ अपने देशकी रक्षाकी दृष्टिसे ही करते थे। विशेषतः धर्मको तो वे राज-नीतिसे बिलकुल अलग ही रखना चाहते थे। जिस प्रकार वे ईसाई देशद्रोहियों पर अत्याचार करते थे, उसी प्रकार वे मुसलमान देशद्रोहियों पर भी अत्याचार करते थे। उनमें धर्मान्धता बिल-कुल नहीं थी, इस बातके अनेक प्रमाण हैं। तरुण तुर्कोंके विरुद्ध जो दो भीषण विद्रोह हुए थे और जिनसे उनको बहुत हानि पहुँची थी, वे दोनों विद्रोह मुसलमानोंके ही खड़े किये हुए थे।

तरुण तुर्कोंका प्रभुत्व १९०८ से १९१४ तक था। इस बीचमें तुर्कोंको इटलीके साथ भी लड़ना पड़ा था और बालकन राज्योंके साथ भी। इन युद्धोंमें उसके हाथसे अफ्रिकाके सब प्रान्त, ईजियन सागरके टापू, थ्रेसका कुछ अंश और कुस्तुन्तुनियाके अतिरिक्त युरोपका बाकी सारा प्रदेश निकल गया था। इस प्रकार इन पाँच बरसोंमें उसकी बहुत अधिक हानि हुई थी। तुर्कीने पहले भी अनेक युद्धोंमें अपना बहुत सा प्रदेश खोया था; पर इन पाँच बरसोंमें उसकी जितनी हानि हुई थी, उतनी पहले कभी नहीं हुई थी।

कहाँ तो तरुण तुर्क अनेक प्रकारके सुधार करके अपने देशकी रक्षा करना चाहते थे, और कहाँ उलटे उनका बहुत सा प्रदेश छिन गया। वे लोग अपने पूर्वजोंके जीते हुए ट्रिपोली, बोस्निया, हरजीगोविना, एलबानिया, मेसिडोनिया और क्रीट आदि प्रदेशोंको अपने हाथमें रखना चाहते थे और साइप्रस तथा मिस्र वापस लेना चाहते थे। इसीके लिए उन्होंने सुलतान अब्दुलहमीदके विरुद्ध विद्रोह किया था और जान-जोखिम सहकर भी बड़ी कठिनतासे नवीन शासन स्थापित किया था। पर परिणाम सबका उलटा ही हुआ।

हम पहले ही कह चुके हैं कि तुर्कोंकी विफलताका कारण यह नहीं था कि विधर्मी प्रजा उनका विरोध करती थी; और न यही कारण था कि उन तरुण तुर्कोंमें किसी प्रकारकी धर्मान्धता थी। उनकी विफलताके दो और ही कारण थे, जिनमेंसे एक तो उनके वशके बाहर था और दूसरेके लिए वे स्वयं ही उत्तरदायी थे। बात यह है कि नवीन प्रजातंत्र शासनमें तरुण तुर्कोंके मार्गमें एक बड़ी बाधा यह थी कि सुलतानके पक्षके लोग उनके विरोधी थे। इसके अतिरिक्त वे तरुण तुर्क शासन-कार्योंका कोई अनुभव नहीं रखते थे। बाल्शेविक नेताओंकी तरह उनके अधिकांश नेता भी ऐसे ही थे, जिन्होंने अपना अधिकांश जीवन या तो जेलोंमें बिताया था और या निर्वासित होनेके कारण दूसरे देशोंमें। वे स्वयं तो शासन-कार्योंके योग्य थे ही नहीं, इसलिए उनको लाचार होकर पुराने अधिकारियोंसे ही काम लेना पड़ता था; और वे पुराने अधिकारी इस नये शासनके विरोधी थे। नये शासनके पहले ही वर्ष जब अब्दुलहमीदने फिर अपने सिंहासन पर बैठना चाहा, तब तरुण तुर्कोंने समझ लिया कि पुराने कर्मचारियोंके हाथमें शासनाधिकार रहने देना ठीक नहीं है। सेना विभागके कर्मचारियों पर तो

निगाह रखी जा सकती थी, पर शासन विभागके कर्मचारियोंको अपने अधिकारमें रखना उनके लिए बहुत ही कठिन था। इसके अतिरिक्त वहाँकी प्रजामें भी बहुत से ऐसे लोग थे जो प्रजातंत्र शासनका महत्व बिलकुल नहीं समझते थे और उसी पुराने एक-तंत्री शासनको अच्छा समझते थे। इसी लिए तरुण तुर्क अनेक उद्योग करने पर भी अपने देशका भला न कर सके।

नवीन शासन स्थापित करते समय तरुण तुर्कोंने समझा था कि हम सारी प्रजामें तुर्क राष्ट्रीयताका भाव उत्पन्न कर सकेंगे। यदि वहाँकी अधिकांश प्रजा तुर्क और समझदार होती, तो वहाँ राष्ट्र-निर्माणमें किसी प्रकारकी कठिनता न होती। तरुण तुर्कोंने फ्रान्स, जरमनी तथा इटली आदिके विप्लवोंका बहुत कुछ अध्ययन किया था और वे उन्हीं देशोंके ढंग पर अपने यहाँ भी राज्य-क्रान्ति करके नवीन राष्ट्रका संघटन करना चाहते थे। पर कठिनता यह थी कि इन देशों और तुर्कीकी परिस्थितिमें किसी प्रकारका साम्य नहीं था। तुर्कीमें न तो तुर्कोंकी संख्या ही अधिक थी और न तरुण तुर्कोंकी बात ही सारे देशमें मानी जाती थी। इसी लिए उनको विफलता हुई।

विफलताका दूसरा कारण यह था कि तुर्क साम्राज्यमें पुराने शासनके अनेक कुफल और दोष विद्यमान थे। वहाँके किसान तो अनेक युद्धोंके कारण बरबाद हो चुके थे और उनका बल बहुत कुछ नष्ट हो चुका था; और जो जमींदार, राजकर्मचारी या सैनिक अधिकारी आदि बड़े आदमी थे, उनका वैभव और प्रभुत्व पुराने शासनमें ही बना रह सकता था; इसलिए वे नये शासनके शत्रु हो रहे थे। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी थी कि बहुत दिनोंसे वहाँ राज्यके बड़े बड़े पद विदेशियोंके ही हाथमें थे और वहाँवालोंको शासन-कार्य्योंका कोई विशेष अनुभव नहीं था। वहाँ विदेशियोंके

हमारा तात्पर्य उन देशोंके निवासियोंसे है, जिन्हें तुर्कोंने जीतकर अपने अधिकारमें कर लिया था और जो तुर्क नहीं थे। पुराने शासनमें किसी प्रकारका जाति-भेद नहीं माना जाता था और सभी जातियोंके लोगोंको बड़े बड़े पद दिये जाते थे। प्राय: ऐसा भी होता था कि जीते हुए प्रदेशमें उसी देशके लोग शासक बना दिये जाते थे। यों कहनेके लिए तो तुर्क साम्राज्यके अधीन अनेक प्रदेश थे, पर उन प्रदेशोंके आन्तरिक शासनमें तुर्कोंको हस्तक्षेप करनेका जल्दी साहस नहीं होता था। उन विजित देशोंके लोग भी सोचते थे कि दुनियाँ हमें तुर्कोंके अधीन समझा करे, पर तुर्क हमारे कामोंमें हस्तक्षेप तो नहीं करते।

उधर अब्दुलहमीदको सिंहासनसे नीचे उतारकर तरुण तुर्क समझने लगे कि अब पुरानी शासन-प्रणाली नष्ट हो गई; सब लोगोंको उचित है कि वे इस नवीन परिस्थितिका सदुपयोग करें; नागरिकताके उत्तरदायित्वको समझते हुए हमारी सहायता करें और कुस्तुन्तुनियाके अधिकारियोंकी आज्ञाका पालन करें। तरुण तुर्कोंने अधिकारारूढ़ होते ही अनेक पुरानी प्रथाओं आदिको नष्ट करना चाहा और प्रजासे कर तथा सैनिक आदि माँगना आरम्भ किया। अनेक अधीनस्थ प्रदेश ऐसे थे जो पहले न तो किसी प्रकारका कर दिया करते थे और न सेनाके लिए सैनिक। जब उन लोगोंने कर या सैनिक देनेसे इन्कार किया, तब उन पर चढ़ाई कर दी गई। बस एल्बानिया, मेसोपोटामिया और अरब आदिमें विद्रोह मच गया। इन युद्धोंमें धन और जनका व्यर्थ ही बहुत कुछ नाश हुआ। एल्बानियाके विद्रोहसे मेसिडोनियामें तुर्क सेना इतनी निर्बल हो गई कि समझदारोंने पहलेसे ही समझ लिया कि अब बालकन राज्योंकी अवश्य विजय हो जायगी। उधर बल्गेरियाने अपनी पूर्ण स्वतंत्रताकी घोषणा कर दी और क्रीट

आप ही यूनानसे जा मिला। जब तुर्कोंने अपने अधिकारका प्रश्न उठाया, तब आस्ट्रिया-हंगरीने बोस्निया और हरजीगोविना पर अधिकार कर लिया और इटलीने ट्रिपोलीको दबा लिया। प्रायः लोग यह कहा करते हैं कि इन अवसरों पर अन्याय होते हुए देखकर भी ग्रेट ब्रिटेन और फ्रान्स केवल इसी लिए चुपचाप बैठे रहे थे कि वे जरमनीके साथ व्यर्थ झगड़ा करना नहीं चाहते थे और केवल शान्ति-रक्षाके लिए ही उन्होंने इतनी सहनशीलताका परिचय दिया था। पर इस कथनमें कोई सार नहीं है। असल बात यह है कि यदि ये लोग उस समय कुछ भी बोलते, तो आखिर किस मुँहसे बोलते? अँगरेजोंने भी तो मिस्र पर उसी प्रकार अधिकार किया था, जिस प्रकार बोस्निया और हरजीगोविना पर आस्ट्रिया-हंगरीने किया था। इसी प्रकार ट्यूनिस पर जबरदस्ती अधिकार करनेवाला फ्रान्स यह कैसे कह सकता था कि ट्रिपोली पर इटली अधिकार न करे? जो काम उस समय इटली और आस्ट्रियाने किया था, वही काम इंगलैण्ड और फ्रान्स पहले ही कर चुके थे; और इसी लिए उनको उस समय चुप रहना पड़ा था।

अन्यान्य सुलतानोंकी तरह अब्दुलहमीदको भी यह बात बहुत अच्छी तरह मालूम थी कि राजनीतिक क्षेत्रमें हम जिस शक्तिको चाहें, उसे अपने प्रदेशमें कोई विशेष अधिकार अथवा कुछ रिश्वत देकर अपनी ओर मिला सकते हैं। वह यह भी समझता था कि नैतिक दृष्टिसे युरोपियन शक्तियाँ जितनी भ्रष्ट हैं, शारीरिक दृष्टिसे वे उतनी ही सबल भी हैं। इसलिए वह सदा उनकी नैतिक दुर्बलतासे ही अपना काम निकाला करता था और कभी किसीको अपने विरुद्ध बलप्रयोग करनेका अवसर नहीं देता था। युरोपके साथ बरतनेमें अब्दुलहमीद और उसके साथियोंने

सदा अपने व्यावहारिक ज्ञानका बहुत ही अच्छा परिचय दिया था। पर तरुण तुर्कोंमें इस व्यावहारिकताका बहुत अभाव था और इसी लिए उनको विफलता भी हुई।

तरुण तुर्कोंने अधिकार प्राप्त करते ही एक दम सब बातोंको बदल डालना चाहा। उन्होंने निश्चय किया कि सारे देशमें सभी कार्योंमें तुर्की भाषाका व्यवहार हो, सब लोग नियमित रूपसे कर दें और सबको अनिवार्य रूपसे सैनिक सेवा करनी पड़े। पर साथ ही वे लोग अपने विजित प्रदेशोंको प्रतिनिधित्व आदिका अधिकार नहीं देना चाहते थे और न उनको शासन-कार्योंमें किसी प्रकारका अधिकार देना चाहते थे। नई पार्लिमेण्टमें तरुण तुर्कोंके अतिरिक्त और लोगोंको बहुत ही कम स्थान मिले थे। बड़े बड़े पदोंके सम्बन्धमें भी यही बात थी। दूसरे चुनावमें भी यही बात हुई। यदि देशमें उन्हींकी संख्या अधिक होती और उनमें अनुभवी तथा योग्य नेताओंका अभाव न होता, तो उनको कभी विफलता न होती। पर ये दोनों ही बातें नहीं थीं, इसलिए उनका प्रभुत्व बराबर अप्रिय ही होता गया और उनके हाथके अधिकार निकलने लगे। यहाँ तक कि युरोपियन शक्तियाँ भी उनकी रक्षा न कर सकीं।

बालकन राज्योंकी विजयके कारण जो नई परिस्थिति उत्पन्न हुई थी, उसके अनुसार पूर्वी युरोप सँभलने भी न पाया था कि युरोपीय महायुद्ध आरम्भ हो गया। तुर्की किसी प्रकार तटस्थ नहीं रह सकता था। तरुण तुर्कोंने जर्मनीका साथ देना ही मुनासिब समझा। यदि युद्धमें जर्मनी और आस्ट्रियाकी जीत हो जाती, तो तुर्क साम्राज्य उसी दशामें बना रहता जिसमें वह १९१४ में था। लेकिन फिर भी कई बातोंमें उसे जर्मनीका ही मुँह ताकना पड़ता और कदाचित् उस विजयके कारण ही अपने प्रदेश परसे

तुर्कोंका प्रभुत्व उठ जाता। पर वह बात नहीं हुई। युद्धमें मित्र राष्ट्रोंकी जीत हुई। इस जीतका तुर्की पर क्या प्रभाव पड़ा, यह आगेके प्रकरणमें बतलाया जाता है।

(१०)

तुर्क साम्राज्य और महायुद्ध

इटली और बालकन राज्योंके साथ तुर्कोंके जो युद्ध हुए थे, उनके परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होनेवाले प्रश्नोंका अभी कोई निराकरण होने ही नहीं पाया था कि १९१४ के मध्यमें युरोपीय महायुद्ध छिड़ गया। तुर्कोंके हाथसे युरोपीय तुर्कीका बहुत बड़ा अंश और ईजियन सागरके टापू निकल चुके थे। सीमा और ऋण आदिके सम्बन्धमें अभी अनेक झगड़े बाकी थे, जिनके निपटारेके लिए कुछ समय चाहिए था। उधर तुर्कोंके कुछ प्रदेश पर अधिकार करनेके सम्बन्धमें इटली और यूनानमें भी कुछ मनमोटाव था। इधर यूनानके साथ तुर्कोंका भी झगड़ा चल रहा था। युरोपीय तुर्कीसे भागे हुए अनेक मुसलमान कुछ स्थानों पर यूनानी प्रजाको हटाकर उनकी जमीनें प्राप्त कर रहे थे। तुर्की और यूनानमें युद्ध छिड़नेमें अधिक विलम्ब नहीं था। पिछले जल-युद्धमें तुर्कोंको अपनी दुर्बलताका अनुभव हो चुका था और उन्होंने एक अँगरेजी कम्पनीको लड़ाईके दो बहुत बड़े और बढ़िया जहाज बनानेका ठीका दे दिया था। इन जहाजोंका दाम चुकानेके लिए सारे साम्राज्यमें घर घर घूमकर चन्दा जमा किया गया था। यह देखकर यूनानने पहले ही अमेरिकासे

दो क्रूजर खरीद लिये थे। कुछ राज्योंने आपसका यह वैमनस्य दूर करनेके लिए यह भी उपाय किया था कि यूनान और तुर्कीके प्रधान मन्त्री बेलजियमके ब्रूसेल्स नगरमें मिलकर बातचीत करें; और यदि हो सके तो सब झगड़ोंका कुछ निपटारा कर लें। यूनानके प्रसिद्ध प्रधान मन्त्री वेनेजोलास इस कामके लिए जिस समय बेल्जियम आ रहे थे, उसी समय आस्ट्रिया-हंगरीने सरवियाको लिख भेजा कि या तो हमारी यह यह शर्तें मंजूर करो और या हम तुमसे लड़ेंगे। चाहे तुर्क प्रधान मन्त्रीने पहलेसे ही समझ लिया हो कि अब युद्ध होगा, और चाहे उनको पहलेसे ही सब हाल मालूम हो, पर इतना अवश्य हुआ कि वे ब्रूसेल्स जानेके लिए कुस्तुन्तुनियासे निकले ही नहीं।

ग्रेट ब्रिटेनने जरमनीके साथ युद्धकी घोषणा करनेसे एक दिन पहले तुर्कीको यह सूचना दे दी कि तुम्हारे जो दो जहाज हमारे देशमें बन रहे हैं, उनको हम ले लेंगे। हाँ, उनका हरजाना तुमको दे दिया जायगा; और यदि तुम युद्धमें तटस्थ रहोगे, तो मिस्रके सम्बन्धमें हम अपनी नीति परिवर्तित न करेंगे। पर ग्रेट ब्रिटेनने तुर्कीके दोनों जहाज रोककर बड़ी भारी गलती की। तुर्कीको यूनानसे बड़ा डर था और सारे देशकी आँखें उन्हीं दोनों जहाजों पर लगी हुई थीं; क्योंकि उनके लिए झोंपड़ियों तकमें घूम घूमकर चन्दा लिया गया था। जरमनीको यही एक अच्छा मौका मिल गया। उसके गोबेन और ब्रेस्ला नामक दो जहाज किसी प्रकार भूमध्य सागरके जालोंको पार करके १० अगस्त १९१४ को डार्डेनिलीसमें पहुँच गये और दूसरे ही दिन तुर्कीने घोषणा कर दी कि हमने ये दोनों जहाज खरीद लिये। मित्र राष्ट्रोंने इसका विरोध किया और कहा कि तुर्कीको यूनान या इटलीसे डरनेकी कोई वजह नहीं है। यदि तुर्की बिलकुल तटस्थ

रहे, तो हम लोग इस बातका जिम्मा लेते हैं कि वर्तमान युद्धमें उसके प्रदेश पर कोई आक्रमण न कर सकेगा। पर तुर्कीने इसका जो जवाब दिया, उसे सुनकर सब लोग चकित हो गये। उसने कहा—"यदि हमें आप लोग तटस्थ रखना चाहते हैं, तो यह निश्चित कर दीजिये कि आप लोगोंकी प्रजाको हमारे राज्यमें कोई विशिष्ट अधिकार प्राप्त न होगा, ग्रेट ब्रिटेन हमें दोनों जहाज दे दे, हमारे आन्तरिक प्रबन्धमें आगे कोई हस्तक्षेप न कर सके, बलगेरिया यदि जरमनीसे मिल जाय, तो हमें थ्रेसका पश्चिमी प्रदेश वापस दिला दिया जाय, और ईजियन टापुओं परसे इटली तथा यूनानका अधिकार हटाकर उन पर हमारा अधिकार करा दिया जाय।" उस समय मित्र राष्ट्र इतने घबराये हुए थे कि वे किसी प्रकार तुर्कीको शान्त करनेके लिए राजी हो गये। उन्होंने कहा कि यदि जरमनीके दोनों जहाज और उन परके सैनिक हमें दे दिये जायँ और बासफोरस तथा डार्डनिलीसमें हमारे व्यापारी जहाजोंके आने जानेका सुभीता कर दिया जाय, तो ग्रेट ब्रिटेन दोनों जहाज दे देगा; और यदि युद्धमें तुर्की तटस्थ रहेगा, तो हम लोग लिखकर इस बातकी प्रतिज्ञा कर देंगे कि तुर्कीकी स्वतंत्रता बनी रहेगी और उसका कोई प्रदेश छीना न जा सकेगा। इसके अतिरिक्त ग्रेट ब्रिटेन, फ्रान्स और रूस इस बातके लिए भी तैयार थे कि ज्यों ही न्याय-विभागकी वर्तमान स्कीम सारे साम्राज्यमें काम आने लग जायगी, त्यों ही हम लोग अपने वे अधिकार त्याग देंगे जो विशिष्ट प्रदेशोंमें हमारी प्रजाको प्राप्त हैं।

पर तुर्कीने इन बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया और घोषणा कर दी कि १ अक्तूबरसे विशिष्ट अधिकार नष्ट कर दिये जायँगे। इस बीचमें अनेक जरमन सैनिक तथा अधिकारी तुर्कीमें पहुँच गये और वहाँके मन्त्रि-मण्डलके थोड़ेसे जर्मन ही प्रबल होने

लग गये। इस पर २१ सितम्बरको एक अँगरेज राजदूत स्वयं सम्राट् जार्जका सँदेसा लेकर सुलतानके पास पहुँचा। उसने सम्राट्-की ओरसे कहा कि हमें इस बातका दुःख है कि हमें दोनों जहाज रोक रखनेके लिए विवश होना पड़ा है। पर फिर भी आपको उचित है कि गत सौ वर्षोंसे हम लोगोंमें जो मित्रता चली आ रही है, उसे आप इस समय न तोड़ें। पर उसके इस उद्योगका भी कोई फल नहीं हुआ। तो भी पाँच सप्ताह तक बराबर बात चीत होती रही और सुलतान तथा उनके मन्त्री बराबर यही कहते रहे कि आप लोगोंको किसी बातकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए; हम लोगोंकी मित्रता बनी रहेगी। पर २९ अक्तूबरको कुछ तुर्कोंने रूसी तट पर गोलेबारी की, जिस पर रूसी राजदूतको अपने देशसे आज्ञा मिली कि तुम तुर्कीसे वापस चले आओ। बहुत कुछ उद्योग करनेके उपरान्त अन्तमें लाचार होकर अँग्रेज और फ्रान्सीसी राजदूतोंको भी वहाँसे प्रस्थान करना पड़ा। इसके बाद तुर्की मन्त्रि-मण्डलने घोषणा कर दी कि कृष्ण सागरमें पहले रूसियोंकी ओरसे ही आक्रमण हुआ था; और इस प्रकार तुर्की भी जर्मनीकी ओर जा मिला।

तुर्कीके युद्धमें सम्मिलित होते ही युरोपीय युद्ध संसारव्यापी युद्ध हो गया। अब दोनों पक्षोंके लड़ाकोंको खूब अच्छी तरह लड़नेके अनेक अवसर मिल गये। साथ ही और भी कई दूसरे देश युद्धमें सम्मिलित होनेके लिए तैयार होने लगे। यह कहना बड़ी भूल है कि जरमनीसे वेतन पानेवाले थोड़ेसे जरमनोंने ही तुर्कीको युद्धमें अपनी ओर मिला लिया। उस समय वहाँ अँगरेजों और फ्रान्सीसियोंकी भी कमी नहीं थी। वे भी बड़े बड़े पदों पर थे और बहुत कुछ प्रभाव डाल सकते थे। बल्कि उनका तो जर-मनोंकी अपेक्षा आदर भी अधिक होता था। पर असल बात यह

थी कि जबसे तरुण तुर्कोंने नवीन शासन स्थापित किया था, तबसे अँगरेजों और फ्रान्सीसियोंने उनके प्रति बहुत ही थोड़ी सहानुभूति दिखलाई थी। वास्तवमें ये लोग यह चाहते ही नहीं थे कि तुर्कीमें प्रजातंत्र अथवा वैध शासन स्थापित हो। इन्हें इस बातका डर था कि तुर्कोंकी देखादेखी कहीं हमारी मुसलमान प्रजा भी अधिकार माँगनेके लिए न उठ खड़ी हो। एक और भी कारण था जिससे तुर्कोंने जरमनीका साथ दिया था। वह यह कि मित्र राष्ट्रोंमें रूस भी सम्मिलित था। तुर्क लोग यह बात बहुत अच्छी तरह जानते थे कि यदि इस युद्धमें रूस विजयी हुआ, तो फिर हमारी खैरियत नहीं। रूस सैकड़ों बरसोंसे तुर्कीको चौपट करनेकी चिन्तामें लगा हुआ था। जब बीसवीं शताब्दीके आरम्भमें रूसियों और अँगरेजोंमें मित्रता हो गई, तब तुर्क लोग अँगरेजोंको भी अपना शत्रु समझने लग गये। इसके अतिरिक्त १९०४ में अँगरेजों और फ्रान्सीसियोंने मिलकर ऐसा उपाय रचा था जिससे मिस्र तुर्कोंके हाथसे निकलकर अँगरेजोंके हाथमें चला जाय। फ्रान्स और इटलीमें भी एक गुप्त सन्धि हो चुकी थी जिसके अनुसार यह निश्चित हुआ था कि यदि इटली कभी तुर्कीका कोई अंश दबाना चाहेगा, तो फ्रान्स उसमें बाधक न होगा। इस गुप्त सन्धिका थोड़ा बहुत पता तुर्कोंको भी लग ही गया था। इन सब तथा दूसरे अनेक कारणोंसे तुर्क लोग बराबर यही समझते थे कि मित्र राष्ट्रोंकी अपेक्षा जरमन ही हमारा अधिक उपकार कर सकेंगे। वे यह भी समझते थे कि जिस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दीमें अँगरेज लोग अपनी औपनिवेशिक नीतिके कारण हमारे साम्राज्यकी रक्षा किया करते थे, उसी प्रकार बीसवीं शताब्दीमें जरमनीको हमारी रक्षा करनी पड़ेगी। अँगरेज लोग यह चाहते थे कि मिस्र पर हमारा रा पूरा अधिकार हो जाय और

दक्षिण एशियामें हमारे पैर और भी मजबूतीसे जम जायँ। इस कामके लिए वे तुर्कीको हर तरहसे रूसके हाथमें छोड़ देनेके लिए भी तैयार थे। इन सब बातोंसे यह स्पष्ट ही है कि तुर्की केवल आत्मरक्षाके विचारसे युद्धमें सम्मिलित हुआ था और इसी लिए उसने जरमनीका पक्ष लिया था। तुर्कोंका रूसके साथ सैकड़ों बरसोंसे जो झगड़ा चला आता था, उसीका अन्तिम निर्णय करनेके लिए तुर्की युद्धमें सम्मिलित हुआ था। और जरमनी भी रूसका शत्रु था, इसलिए उसे जरमनीका पक्ष लेना पड़ा था।

जिस समय तुर्कीमें राष्ट्रीयताके भाव बढ़ रहे थे और वहाँ वैध शासन स्थापित करनेका उद्योग हो रहा था, उस समय दूसरे युरोपीय राजदूतोंकी समझमें तो कुछ भी न आया; पर जरमन राजदूतने ताड़ लिया कि इस बार जो युद्ध होगा, उसमें तुर्की किसी प्रकार तटस्थ न रह सकेगा। जब तरुण तुर्कोंका जोर बढ़ने लगा, तब जरमन उनको उत्साहित करने लगे; क्योंकि वे जानते थे कि जब रूसके साथ युद्ध छिड़ेगा, तब केवल तुर्कीकी सहायतासे ही रूसका सारे संसारके साथ सम्बन्ध तोड़ा जा सकेगा; और जब हम काकेशस तथा फारसमें यथेष्ट सेना पहुँचा देंगे, तब हमारा सब काम आपसे आप हो जायगा। इसलिए जरमन राजदूतने तीन तुर्कोंसे मित्रता कर ली। शौकत पाशाको तो उसने तुर्की सेनाको अपने पक्षमें लानेके लिए चुना और अनवर बेको जरमनी भेजकर परिस्थिति आदिका निरीक्षण करनेके लिए; और तीसरे तलअत बेको उसने तुर्कीमें उच्च पद पर पहुँचानेके लिए उपयुक्त समझा। जब ट्रिपोली पर इटलीने आक्रमण किया, तब उसने अनवर बेको यह समझकर ट्रिपोली भेज दिया कि इसके वहाँ पहुँचते ही अँगरेज इसके शत्रु हो जायँगे। इसके अतिरिक्त उसने शौकत पाशा तथा और लोगोंको इस बातके भी समझा

दिखला दिये कि ट्रिपोलीके सम्बन्धमें फ्रान्स और इटलीमें पहलेसे ही गुप्त समझौता हो चुका है। उसने तुर्कोंके मनमें यह बात भी अच्छी तरह बैठा दी कि यदि जरमन अफसरोंसे तुर्क सैनिकोंको शिक्षा दिलाई जाय, तो भविष्यमें तुर्की पर इस प्रकारके संकट न आ सकेंगे।

जब सब बालकन राज्य मिलकर तुर्कीसे लड़ने लगे, तब तुर्कीके पूर्ण पराजयमें एक महीना भी न लगा। उसी समय युद्ध स्थगित करनेकी घोषणा हो गई। पर तुर्क लोग एड्रियानोपुल छोड़ना नहीं चाहते थे, इसलिए फिर लड़ाई होने लगी। पुराना वजीर पदच्युत कर दिया गया और उसका स्थान शौकत पाशाको मिला। अनवर पाशा अभी तक ट्रिपोलीसे नहीं लौटे थे, इसलिए वे दुर्दशासे बच गये। पर युद्धमें तुर्क किसी प्रकार विजय न पा सके और अन्तमें उन्हें अपने अधिकांश युरोपीय प्रदेश तथा ईजियन सागरके टापुओंसे हाथ धोना पड़ा। जून १९१३ में शौकत पाशा मार डाले गये। मिस्रके खदीव वंशके सैयद हलीम वजीर बनाये गये, अनवर पाशाको युद्ध सचिवका पद मिला और तल-अत पाशा स्वराष्ट्र विभागके मन्त्री नियुक्त हुए। एक वर्ष बाद जब तुर्की युरोपीय महायुद्धमें सम्मिलित हुआ, तब भी यही लोग अधिकारारूढ़ थे और घोर युद्धके समय तक ये लोग अपने अपने पद पर बने रहे।

जरमन राजदूत वेबरस्टीनने जो बीज बोया था, अब उसके फल निकलने लगे। इससे पहले ही जरमन लोग वहाँके सेना विभागमें बहुत कुछ अधिकार प्राप्त कर चुके थे। जब रूसने देखा कि तुर्की सेना और किलोंका सब अधिकार एक जरमनके हाथमें है, तब उसने इस बातका घोर विरोध किया। पर जरमन जनरल सैण्डर्सने किसीकी परवा न करते हुए अपना काम बराबर

जारी रखा और तुर्की सेनाको युद्धके लिए बहुत अच्छी तरह तैयार कर दिया। तुर्की उस समय जरमनीको आशातीत सहायता देनेके लिए तैयार हो गया था। उसके पास प्रायः दस लाख सैनिक तो पहलेसे ही मौजूद थे और पाँच लाख तैयार हो रहे थे। यदि जरमनी और आस्ट्रिया-हंगरीसे उसे अफसरों आदिकी यथेष्ट सहायता न मिलती, तो इसमें सन्देह नहीं कि वह युद्धमें कुछ भी न कर सकता। पर इन दोनोंकी सहायतासे वह अच्छी तरह तैयार हो गया था। और यदि बालकन युद्धमें उसकी बहुत अधिक जन-हानि न हुई होती, उसके देशोंमें रोग आदि न फैले होते और बहुत सा प्रदेश उसके हाथसे न निकल गया होता, तो वह युद्धके लिए और भी अधिक उपयोगी हो सकता था।

तुर्कोंने उस समय बहुत बड़ी जोखिम अपने सिर ली थी। उसके लिए सफल होनेके दो ही अवसर थे। एक तो यह कि वह मिस्रको उत्तेजित करके अपने पक्षमें कर ले; और दूसरे यह कि काकेशसमें रूसियोंको परास्त करके वह मध्य एशियाके तातारोंको अपनी ओर मिला ले। ये दोनों स्थान साम्राज्यके दो विरुद्ध कोनों पर थे और इन दोनों स्थानोंमें तुर्कोंको केवल उसी दशामें विजय प्राप्त हो सकती थी, जब कि वह दोनों पर तुरन्त आक्रमण कर देता। तुर्क यह भी जानते थे कि मेसोपोटामियामें हम आक्रमण नहीं कर सकेंगे, वहाँ तो हमें केवल आत्मरक्षा करनी पड़ेगी। एशिया माइनरके ईजियन सागरवाले तट पर भी कुछ सेना रखना आवश्यक था; क्योंकि यूनानियोंका विश्वास करना ठीक नहीं था। इसके अतिरिक्त यूनानियों और बल्गेरियनोंसे कुस्तुन्तुनियाकी भी रक्षा करनेकी आवश्यकता थी; क्योंकि ये दोनों ही तुर्कोंके घोर शत्रु थे और दोनों ही उन्हें युरोपसे निकाल देनेकी चिन्तामें थे। पर यह बात एक तरहसे निश्चित ही थी कि बालकन राज्य केवल तुर्कोंसे

शत्रुता रखनेके कारण ही युद्धमें सम्मिलित न होंगे। हाँ, यदि कोई और कारण उपस्थित होगा, तब वे युद्ध-क्षेत्रमें कूदेंगे। युद्धके पहले वर्षमें मित्र राष्ट्रोंने डार्डेनिलीस और कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार करनेके लिए ही अपना सारा जोर लगा दिया था। इसलिए जरमन और तुर्क लोग काकेशस तथा मिस्र पर आक्रमण न कर सके थे। यद्यपि यूनान बहुत दिनों तक तटस्थ रहा और बलगेरियाने जरमनी आदिका साथ दिया था, तथापि जब तक अँगरेजोंने गैलिपोलीको खाली नहीं कर दिया, तब तक मित्र राष्ट्रोंको तुर्कोंसे कोई डर नहीं था। जब गैलिपोलीमें अँगरेजोंका आंशिक पराजय हो गया, तब तुर्कोंने दो बार स्वेज नहरको पार करके मिस्र पर आक्रमण करने-का उद्योग किया। पर उनके पास यथेष्ट सेना और सामग्री नहीं थी, इसलिए उनको बुरी तरह परास्त होना पड़ा। १९१६ की ग्रीष्म ऋतुमें तो स्वयं तुर्क ही स्वेजके स्थलडमरूमध्य और मेसो-पोटामियासे निकाल दिये गये। जब अँगरेजोंने स्वेज स्थलडमरू-मध्यमें रेलों तथा जल आदिका यथेष्ट प्रबन्ध कर लिया, तब तुर्क लोग उनको जेरूसलम और सीरियाकी ओर बढ़नेसे न रोक सके। युद्धके आरम्भमें ही अँगरेजोंने मेसोपोटामियामें बसरे पर अधिकार कर लिया था। कुत-उल-उमरामें तुर्कोंको केवल इसी लिए विजय प्राप्त हुई थी कि अँगरेज लोग बहुत ही तेजीसे आगे बढ़ते जाते थे और अपने पिछले मार्गको सुरक्षित नहीं रख सके थे। अँगरेजोंने मेसोपोटामिया पर तुर्कोंको दबानेके लिए अधिकार नहीं किया था, बल्कि इसलिए अधिकार किया था कि जिसमें अरब लोग किसी प्रकारका उपद्रव न मचावें; और यदि हो सके तो हमारी सहायता करें। जब अँगरेजोंने हजाजको स्वतन्त्र कर दिया और मक्केके शरीफसे मित्रता कर ली, तब उन्होंने मानो अरबों परसे तुर्की साम्राज्यका अधिकार उठा दिया।

मेसोपोटामिया तथा अरब पर अँगरेजोंने केवल राजनीतिक कारणोंसे ही अधिकार किया था, आर्थिक आदि कारणोंसे नहीं। जर्मनोंको यह आशा थी कि जब तुर्की हमारी ओर मिल जायगा, तब सारे संसारके मुसलमान हमारी ओर हो जायँगे। उन्होंने सुलतानसे खलीफाकी हैसियतसे जहादकी घोषणा करनेके लिए भी कहा था। मित्र राष्ट्र यह चाहते थे कि एशिया और अफ्रिकाके मुसलमान किसी प्रकार तुर्कोंसे न मिलने पावें; और जब तक तुर्क लोग आक्रमण न करके केवल आत्मरक्षा करते रहें, तब तक सारे संसारके मुसलमानोंके मिलकर एक हो जानेकी कोई सम्भावना नहीं थी। यद्यपि युद्धके आरम्भके दो बरसोंमें मित्रोंको पश्चिमी एशियामें कोई विशेष सफलता नहीं हुई थी, तथापि केवल यही एक बात सोच और समझकर वे लोग अधिक चिन्तित या उद्विग्न नहीं हुए थे।

उधर अपने साम्राज्यके उत्तर-पश्चिममें कृष्ण सागर पर अधिकार न होनेके कारण तुर्क लोग लाचार थे। पश्चिमी एशिया माइनरसे काकेशसकी सीमा तक कोई रेल नहीं थी; इसलिए रूसियोंने तबरेज और एर्जरूम पर अधिकार कर लिया। एर्जरूम तुर्कोंका बहुत बड़ा किला था और वहाँसे रूसी लोग सहजमें एशिया माइनर पर आक्रमण कर सकते थे। अँगरेजोंके हाथसे गेलिपोली निकलनेके कारण मित्रोंको जो दुःख हुआ था, वह रूसियोंके हाथ एर्जरूम आ जानेसे जाता रहा।

जर्मन लोग आरम्भसे ही इस बातका उद्योग करते थे कि युद्धका सारा दारमदार तुर्की पर ही रहे। उसीकी हार-जीतसे सबकी हार-जीत हो। जब बल्गेरिया उनकी ओर मिल गया, तब उन्होंने तुर्कीको हर तरहसे सैनिक सहायता दी। सामानों

और रुपयोंकी मानों तुर्कीमें वर्षा होने लगी। बगदाद रेलवे बनानेके लिए उसे काफी इंजीनियर आदि मिले और साथमें बहुत से सैनिक और तोपखाने भी। तुर्कोंकी सहायतासे जर्मनीको सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि दक्षिणकी ओरसे रूसियोंका मार्ग बन्द हो गया और मित्र राष्ट्रोंको अपनी बहुत सी सेना काकेशस, फारस, मेसोपोटामिया और मिस्रमें लगा रखनी पड़ी। इससे मित्र राष्ट्र बहुत परेशान हुए। पर जब मिस्र और काकेशसमें तुर्कोंको विफलता हुई, तब जर्मनीने समझ लिया कि अब हम यदि पश्चिमी रणक्षेत्रमें विजय प्राप्त न करेंगे, तो तुर्कीकी किसी प्रकार रक्षा न हो सकेगी और पश्चिमी एशियामें फिर हमारी दाल न गल सकेगी। अन्तमें जर्मनोंने वर्डून पर जो अपना सारा जोर लगा दिया था, उसका मुख्य कारण यही था।

मार्च १९१७ में रूसमें राज्यक्रान्ति हो जानेके कारण जर्मनोंको एक बार फिर फ्रान्समें अपने भाग्यकी परीक्षा करनेका अवसर मिला। इधर इससे तुर्कोंकी भी जान बची। जब ब्रेस्ट लिटोस्क-वाली सन्धि हो गई, तब तुर्कोंकी जानमें जान आई और उन्होंने फिर एक बार सिर उठाना चाहा। मेसोपोटामिया और अरबकी उनको कोई चिन्ता न थी; क्योंकि इन प्रदेशोंसे उनको कोई लाभ न होता था, बल्कि उलटे वे साम्राज्यको और दुर्बल बनाते थे। वे तो असलमें काकेशस पर अधिकार करना चाहते थे; क्योंकि उस दशामें वे मध्य एशियाके अपने तूरानी भाइयोंसे सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। तरुण तुर्कोंके कैस्पियन सागर तक पहुँचनेमें आर-मीनियन लोग बाधक होते थे, इसलिए उन्होंने पहले उन्हींका अन्त करना विचारा। अरबोंके साथ तुर्कोंका केवल धार्मिक सम्बन्धके अतिरिक्त और किसी प्रकारका सम्बन्ध न था। पर क्या जर्मनोंके साथ अँगरेजों और फ्रान्सीसियोंका धार्मिक सम्बन्ध न था? हाँ,

तातरोंके साथ उनका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था; और इन्हीं तातारोंके लिए तुर्की और रूसमें सदा शत्रुता रही।

१९१८ के ग्रीष्ममें जब अँगरेज लोग पैलेस्टाइनमें आगे बढ़नेका उद्योग कर रहे थे और जर्मन लोग पश्चिममें निराश हो चुके थे, तब तुर्कोंको केवल यही एक आशा थी कि हम काकेशस पर पुनः अधिकार कर लेंगे। वे कृष्ण सागर और कैस्पियन सागरके बीचमें तेजीके साथ आगे बढ़ते जा रहे थे कि इतनेमें चार वर्षका बना हुआ संघ टूट गया। बल्गेरियाने हथियार रख दिये और तुर्की, आस्ट्रिया-हंगरी तथा जर्मनीने समझ लिया कि अब हमारे भाग्य फूट गये। तुर्की साम्राज्यका तो १९१८ में ही बहुत सहजमें पूर्ण नाश हो जाता, नकशेमें उसका कहीं नाम निशान भी न रह जाता। पर सबसे बड़ी कठिनता यह थी कि उसे लेता कौन? रूस तो पहले ही नष्ट हो चुका था।

(११)

पैलेस्टाइन और यहूदी

जिस बातको रोकनेके लिए युरोपियन राजनीतिज्ञ सौ वर्षोंसे कठिन परिश्रम कर रहे थे और जिस बातको बचानेके लिए युरोपमें कई बार भीषण युद्ध हुए थे, वही बात तरुण तुर्कोंके दस वर्षोंके शासनसे आपसे आप हो गई। सौ वर्षोंसे युरोपियन राजनीतिज्ञ चाहते थे कि तुर्क साम्राज्य ज्योंका त्यों बना रहे, उसका अंगच्छेद न हो। पर आज

तरुण तुर्कोंके शासनके परिणाम स्वरूप उसी तुर्क साम्राज्यके टुकड़े टुकड़े हो गये हैं; और लक्षणोंसे जान पड़ता है कि शीघ्र ही उसका अन्त भी हो जायगा। अफ्रिकामें तुर्कीका जो कुछ अवशिष्ट अंश था, अब वह भी नहीं रह गया। १९११ में इटलीने ट्रिपोली दबा लिया और १९१४ में अँगरेजोंने मिस्रको अपने संरक्षणमें ले लेनेकी घोषणा कर दी। युरोपमें उसके जो प्रदेश थे, उनमेंसे एक थ्रेसको छोड़कर बाकी और सब प्रदेशोंको १९१२ में बालकन राज्योंने छुड़ा लिया; गत महायुद्धमें मेसोपोटामिया तथा पैलेस्टाइनको अँगरेजोंने जीत लिया; और अरबने अपने ऊपरसे तुर्कोंका बोझ उतार फेंका।

युरोपीय महायुद्धके आरम्भमें, तरुण तुर्कोंके शासनके ग्यारहवें वर्ष, तुर्कोंने आरमीनिया पर पुनः अधिकार कर लिया और काकेशसमें भी वे कुछ दूर तक घुस गये थे। पर पीछेसे अँगरेजोंने उनको खूब परास्त किया और उनके बहुत से सैनिकोंको मारकर और उनकी बहुत सी युद्ध सामग्री छीनकर वे सीरिया तक जा पहुँचे।

अब यह बात एक प्रकारसे प्रायः बिलकुल निश्चित ही है कि तुर्कीके जिन प्रदेशोंमें तुर्कोंकी संख्या कम और दूसरी जातियोंकी संख्या अधिक है, वे प्रदेश अब फिर तुर्क साम्राज्यके अन्तर्गत न रहेंगे। इधर बहुत दिनोंसे युरोपवाले अपना कल्याण इसीमें समझते थे कि तुर्क साम्राज्य ज्योंका त्यों बना रहे, चाहे अनेक दूसरी जातियोंको तुर्कोंकी अधीनतामें ही क्यों न रहना पड़े। पर अब वह बात नहीं रह गई।

आज तक कभी किसीने यह विचार करनेकी आवश्यकता ही नहीं समझी थी कि पैलेस्टाइनमें यहूदियोंका एक स्वतन्त्र राज्य होना चाहिए। पर गत महायुद्धके अन्तमें इस विषय पर विचार

करनेकी भी आवश्यकता समझी जाने लगी और इसकी गिनती पश्चिमी एशियाके विकट प्रश्नोंमें होने लगी। अब जहाँ पश्चिमी एशियाके सम्बन्धकी और और बातें होती हैं, वहाँ पैलेस्टाइनमें एक यहूदी राज्य स्थापित करनेकी भी चर्चा होती है।

२ नवम्बर १९१७ को ग्रेट ब्रिटेनके पर-राष्ट्र सचिव मि० बालफोरने लार्ड राथसचाइल्डको एक पत्र भेजा था जिसे तुरन्त प्रकाशित करनेकी भी अनुमति दे दी गई थी। इस पत्रमें यहूदियोंकी आकांक्षाओंके साथ ब्रिटिश मन्त्रिमण्डलने सहानुभूति प्रकट की थी। इसमें कहा गया था कि—"यहूदी लोग पैलेस्टाइनमें अपना जो राज्य स्थापित करना चाहते हैं, उसे ब्रिटिश सरकार अच्छा समझती है और वह उनके इस उद्देश्यकी सिद्धिमें यथा-साध्य सुभीते उत्पन्न करनेका प्रयत्न करेगी। पर साथ ही लोगोंको यह भी विश्वास रखना चाहिए कि इस सम्बन्धमें यहूदियोंकी सहायता करते समय ब्रिटिश सरकार कोई ऐसा काम नहीं करेगी, जिससे पैलेस्टाइनमें बसनेवाली दूसरी जातियोंके धार्मिक अथवा नागरिक अधिकारोंमें किसी प्रकारकी बाधा पहुँचे; अथवा इस समय दूसरे देशोंमें जा बसनेवाले यहूदियोंको जो राजनीतिक आदि अधिकार प्राप्त हैं, उन अधिकारों पर भी इस बातका कोई प्रभाव न पड़ेगा।"

थोड़ा ध्यान देनेसे ही पाठक यह बात समझ लेंगे कि इस घोषणाकी सभी बातें बहुत ही नपी तुली थीं। इस घोषणाके सम्बन्धमें न तो दूसरोंको कुछ कहने सुननेकी जगह मिल सकती थी और न ब्रिटिश सरकार किसी बातके लिए बँधती ही थी। वह अपने हाथ पैर बचाकर बहुत ही चालाकीसे अपना काम निकालना चाहती थी। इस घोषणामें जो यह कहा गया था कि पैलेस्टाइनमें बसनेवाली दूसरी जातियोंके धार्मिक या नागरिक अधिकारों-

में किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचने पावेगी, वह केवल इसी लिए कहा गया था कि जो शक्तियाँ जर्मनीसे लड़ रही थीं, वे अपने युद्ध के उद्देश्य बतलाते समय इसी तरहके सिद्धान्त प्रतिपादित किया करती थीं। वे आरम्भसे ही उच्च आदर्शोंके गीत गाती आती थीं और उन्हीं गीतोंका सुर मिलाये रखनेके लिए ही मि० बालफोरको यह बात कहनी पड़ी थी। यदि ब्रिटिश सरकार यहूदियोंकी पीठ ठोंके और उसके पीठ ठोंकनेसे दूसरी जातियोंके अधिकारोंमें किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचे, तो यह स्पष्ट ही है कि यह कोई बुरी बात नहीं है और इससे किसीको कुछ हानि नहीं पहुँच सकती। पैलेस्टाइनमें यहूदी तो केवल एक ही लाख बसते हैं, पर दूसरे मतवालोंकी संख्या सवा छः लाखसे भी कुछ ऊपर ही है। और उनमेंसे भी साढ़े पाँच लाख केवल अरबी-भाषी मुसलमान हैं, जो सीरिया, मेसोपोटामिया, अरब और मिस्रके पड़ोसी मुसलमानों और अरबोंके साथ हर तरहसे सहानुभूति रखते हैं। अतः यह सिद्ध ही है कि थोड़ेसे यहूदी अपनेसे छः गुनेसे भी अधिक मुसलमानों आदिको किसी प्रकारकी हानि नहीं पहुँचा सकते।

पर यहूदियोंने ब्रिटिश सरकारकी इस घोषणाका ठीक ठीक अर्थ न लगाकर कुछ मनमाना ही अर्थ लगाया। जबसे उक्त घोषणा प्रकाशित हुई, तबसे यहूदी लोग यही समझने लगे कि अँगरेजोंने सरकारी तौर पर इस बातकी मंजूरी दे दी है कि संसार भरके यहूदी जाकर पैलेस्टाइनमें बस जायँ, वहाँ खूब जमीनें खरीदें और वहीं एक स्वतन्त्र यहूदी राज्य स्थापित कर लें। वे समझने लगे कि अब राष्ट्रीय दृष्टिसे यहूदियोंकी भी एक पृथक् राष्ट्रीयताकी सत्ता मान ली गई है। इस घोषणाके प्रकाशित होने पर लन्दनके एक प्रधान यहूदी पत्रने बहुत ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए लिखा था कि अब यहूदियोंको सारी दुनियामें मारे मारे न फिरना पड़ेगा;

और उनके प्राचीन देशमें ही उन्हें रहनेके लिए स्थान मिल जायगा। अब उनके निर्वासन-कालका अंत हो गया। अब हम लोगोंको इस बातका निमन्त्रण मिला है कि हम भी एक राष्ट्रके रूपमें सारे संसार राष्ट्रोंके परिवारमें सम्मिलित हों।

सारे संसारके यहूदी लोग धार्मिक तथा ऐतिहासिक कारणोंसे अपने आपको एक बिलकुल ही स्वतन्त्र जाति समझते हैं; और विशेषतः पूर्वी यूरोपमें जहाँ कि सारे संसारके आधेसे अधिक यहूदी रहते हैं, पार्थक्यका यह भाव और भी अधिक है। इसका कारण यह है कि पूर्वी यूरोप तथा पश्चिमी एशियामें धर्म और राष्ट्रीयताका ओतप्रोत सम्बन्ध है और इन्हीं दोनों पर उसकी राजनीतिक सत्ता अथवा स्थिति निर्भर करती है। संसारके और और भागोंमें तो केवल देश-भेदसे ही लोगोंमें राष्ट्रीयताका भाव होता है; पर यहाँ तो उसकी स्थिति केवल धार्मिक आधारों पर है, और इसी लिए पश्चिमी एशियाकी राजनीतिक समस्याएँ और भी विकट हो जाती हैं। उसमें भी यदि यहूदियोंकी महाविकट समस्या आकर सम्मिलित हो जाय तो फिर पूछना ही क्या है। यदि अरब, सीरिया, मिस्र और आरमिनियाके निवासियोंकी उच्चाकांक्षाओं के साथ यहूदियोंकी उच्चाकांक्षाएँ भी मिल जायँ, तो फिर मानो अनेक विरोधी आदर्शों और स्वार्थोंका एक बहुत ही निराशाजनक झगड़ा उठ खड़ा होता है। जबसे शान्ति महासभामें यहूदियोंके एक स्वतन्त्र राज्यकी स्थापनाका प्रश्न उपस्थित हुआ है, तबसे लोगोंने उसके पक्षमें भी सम्मति दी है और विपक्षमें भी। अङ्गरेज यहूदी उसके बहुत ही पक्षमें हैं और फ्रान्सीसी यहूदी उसके बहुत ही विरोधी हैं। अमेरिकाके यहूदियोंमेंसे कुछ उसके पक्षमें भी हैं और कुछ उसके विरोधी भी। कुछ लोगोंका तो यहाँ तक अनुमान है कि पैलेस्टाइनमें स्वतन्त्र यहूदी राज्य स्थापित करनेका विचार कभी कार्य

रूपमें परिणत हो ही नहीं सकता। पर फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि राजनीतिज्ञ लोग उस पर विचार करने लग गये हैं। इधर १९१८ के बाद जो घटनाएँ हुई हैं, उनसे तो यह भी सिद्ध होता है कि ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डलने इस सम्बन्धमें यहूदी नेताओंके साथ कोई गुप्त और भारी समझौता कर लिया है; पर इसमें किसीको कुछ आश्चर्य न करना चाहिए। अङ्गरेज लोग पैलेस्टाइनको अपने संरक्षणमें रखना चाहते थे और इस काममें यहूदियोंसे सहायता लेनेके लिए उन्होंने उनकी पीठ ठोंककर उनको अपनी ओर मिला लिया था। यही चाल चलकर वे मिस्र और स्वेज नहरकी रक्षा करना चाहते थे और इसीके द्वारा वे मक्केके शरीफ या हजाजके राजाको पैर पसारनेसे रोकना चाहते थे; क्योंकि उसका विचार था कि प्राचीन तुर्क साम्राज्यके भग्नावशेषसे एक नया स्वतन्त्र अरबी साम्राज्य स्थापित किया जाय।

फ्रान्समें अँगरेज लोग बहुत ही वीरतपूर्वक लड़े थे। फ्रान्सकी सहायताके लिये सारे संसारके ब्रिटिश साम्राज्यसे लाखों योद्धा आये थे और वहीं लड़ाईमें मारे गये थे। इस युद्धके कारण फ्रान्स और ग्रेट ब्रिटेनकी वह पुरानी शत्रुता नष्ट हो गई जो इधर सैकड़ों बरसोंसे दोनोंमें आर्थिक तथा औपनिवेशिक प्रतिद्वन्द्विताके कारण चली आ रही थी। यदि इस युद्धके कारण ग्रेट ब्रिटेन और फ्रान्समें स्थायी मित्रता हो जाती तो अनेक दृष्टियोंसे एक बहुत बड़ा काम होता और आगे संसारके शान्ति-भंगकी बहुत ही कम सम्भावना रह जाती। पर पीछेसे कई ऐसी बातें हो गई जिनसे इन दोनों महा-शक्तियोंमें परस्पर बहुत कुछ विरोध और मनोमालिन्य उत्पन्न हो गया। जिस समय अँगरेज लोग अपना स्वार्थ साधन करनेके लिए यहूदियोंकी इस प्रकार पीठ ठोंक रहे थे, उस समय वे यह बात बिलकुल नहीं जानते थे कि फ्रान्सवालों पर इस बातका कितना

बुरा प्रभाव पड़ेगा और इससे फ्रान्स और ग्रेट ब्रिटेनकी मित्रता-को कहाँ तक धक्का पहुँचेगा। वे बेचारे जानते कैसे ? स्वार्थने तो उनको अन्धा कर रखा था।

मिस्रमें युरोपियन राष्ट्रोंमेंसे सबसे पहले फ्रान्सने ही प्रवेश किया था। फ्रान्सीसियोंने ही आधुनिक मिस्रकी नींव डाली थी। स्वेजकी नहर उन्होंने खोदी थी। सबसे पहले १५३५ में फ्रान्सने ही तुर्कीके सुलतानके साथ सन्धि करके तुर्कीमें रहनेवाले ईसाइयोंके जान-मालकी रक्षाका भार अपने ऊपर लिया था और तबसे प्रायः चार सौ वर्षों तक वही बराबर यह काम करता रहा। इसके लिए उसे समय समय पर कई सन्धियाँ करनी पड़ी थीं और कई लड़ा-इयाँ भी लड़नी पड़ी थीं। यहाँ तक कि १९०६ और १९०७ के समझौतोंमें इटलीको भी यह मानना पड़ा था कि पैलेस्टाइन आदिकी देख-भालका भार मुख्यतः फ्रान्स पर ही है। और फिर पैलेस्टाइन-में यहूदियोंकी रक्षा और शिक्षा आदिका भी सबसे पहले फ्रान्सने ही प्रबन्ध किया था।

यदि एशियाई तुर्की केवल विजयी राष्ट्रोंमें ही बँटनेको हो, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि पैलेस्टाइन या तो उस शक्तिके संरक्षणमें जाना चाहिए जिसका सीरिया पर अधिकार हो, अथवा उस शक्तिको मिलना चाहिए जिसके हाथमें मिस्र हो। जब यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि मित्रोंमेंसे पैलेस्टाइन पर किसका अधिकार हो, तब अप्रैल १९१८ में जेरूसलममें एक अवसर पर प्रसिद्ध यहूदी नेता डा० वेजमनने कहा था कि यहूदी लोग यह नहीं चाहते कि पैलेस्टाइन पर दो, चार अथवा दस राष्ट्रोंका संयुक्त अधिकार हो। उसे तो केवल एक ही न्यायशाली संरक्षककी आवश्यकता है। और डा० वेजमनकी सम्मतिमें वह न्यायशाली संरक्षक ग्रेट ब्रिटेन था; क्योंकि वे

शब्द कहते समय उनकी दृष्टि अँगरेज सेनापति जेनरल एलेन्बीकी ओर चली गई थी।

इधर अँगरेज लोग तो पैलेस्टाइनमें यहूदियोंका राज्य स्थापित करनेके लिए उनकी पीठ ठोंकते थे, और उधर फ्रान्सके यहूदी इस बातका विरोध करते थे। वे कहते थे कि इतनी व्यवस्था तो अवश्य हो जानी चाहिए कि जिसमें पैलेस्टइनमें सभी धर्मोंके लोग सुखपूर्वक रह सकें। पर वे यह नहीं चाहते थे कि एक स्वतंत्र राज्य-का प्रश्न उठाकर कोई नया झगड़ा खड़ा किया जाय। सितम्बर १९१८में एक भाषण करते समय राष्ट्रपति विलसनने कहा था कि यह युद्ध जन साधारणका युद्ध हो गया है। इसमें राजनीतिज्ञोंको यह आशा न करनी चाहिए कि हम अपने अपने लाभका विचार करके किसी प्रकारका समझौता या सन्धि आदि कर लेंगे। स्थायी शान्ति तभी हो सकती है, जब सब लोगोंके उद्देश्य समान हों। परस्पर विरोधी उद्देश्य रखकर कभी शान्ति नहीं स्थापित की जा सकती। पर दुःखका विषय है कि अनेक बातोंमें अँगरेजों और फ्रान्सीसियों-के उद्देश्योंमें आकाश पातालका अन्तर है। यही कारण है कि जब १९१९ के आरम्भमें शान्ति महासभामें पैलेस्टाइन और सीरियाके सम्बन्धके प्रश्न उपस्थित हुए थे, तब ग्रेट ब्रिटेन और फ्रान्समें बहुत अधिक मतभेद देखनेमें आया था। उसी समय यह भी पता चला था कि अँगरेजोंने अरबोंके साथ एक गुप्त सन्धि करके उनको दमिश्क देनेका वचन दिया था! जब डा० वेजमन अपने भाषणमें इस बात पर बहुत जोर दे चुके कि पैलेस्टाइन अँगरेजोंके संरक्षणमें रहे, तब फ्रान्सीसियोंने कहा कि इस सम्बन्धमें सब राष्ट्रोंके प्रतिनिधि लोग प्रसिद्ध विद्वान् सिल्वेन लेवी महाशयका भी वक्तव्य सुन लें। लेवी महाशय स्वयं यहूदी हैं और अपनी विद्वत्ता आदिके लिए सारे संसारमें प्रसिद्ध हैं। लेवी महाशयने कहा था कि यह बहुत ही घातक

और हानिकारक आन्दोलन खड़ा दिया गया है और पैलेस्टाइनमें यहूदियोंको अधिकारारूढ़ करनेका कोई फल नहीं हो सकता। ठीक यही सम्मति फ्रान्सके और भी कई यहूदी नेताओंकी थी।

यहूदियोंके सम्बन्धमें यह जो प्रश्न खड़ा हुआ है, उससे ग्रेट ब्रिटेन और फ्रान्समें जो मनोमालिन्य बढ़ेगा वह तो बढ़ेगा ही, साथ ही उसके कारण और भी अनेक रूपोंमें संसारके शान्ति-भंगकी सम्भावना है। इस सम्बन्धमें मूल लेखकने जो कुछ कहा है, वह केवल सुनी सुनाई बातोंके आधार पर ही नहीं कहा है, बल्कि सब बातोंको स्वयं जाँच और समझकर कहा है। उनका अनुमान है कि यदि पैलेस्टाइनमें यहूदियोंका कोई स्वतंत्र राज्य स्थापित किया जायगा, तो सबसे पहली भयंकर बात यह होगी कि समस्त मुसलमानोंमें भारी असन्तोष और उपद्रव उठ खड़ा होगा। वे स्थान स्थान पर सेमेटिक जातियोंका विरोध और बहिष्कार करने लगेंगे और कदाचित् मारकाट भी आरम्भ कर देंगे। बात यह है कि जिन देशोंमें मुसलमानोंका प्रभुत्व है, उन देशोंमें दूसरे धर्मानुयायियोंको प्रायः कुछ भी अधिकार प्राप्त नहीं होते। मुसलमान लोग अपने राज्योंमें दूसरे धर्मवालोंको मानो कृपापूर्वक ही रहने देते हैं। वे दूसरे धर्मवालोंको अमन बख्श देते हैं जिसके कारण उनके जान-मालकी हिफाजत होती है। पर यह अमन स्थायी तो होता ही नहीं; वह जब चाहे, तब उठाया जा सकता है। जब तक विधर्मी लोग मुसलमानी राज्योंमें किसी प्रकारका राजनीतिक प्रभुत्व, अथवा राजनीतिक समानता भी, प्राप्त करनेका उद्योग नहीं करते, तब तक तो वे वहाँ सुखपूर्वक रहते हैं; और यही कारण है कि तुर्की तथा दूसरी मुसलमानी रियासतोंमें यहूदी और ईसाई आदि सैकड़ों बरसों तक बहुत ही शान्तिपूर्वक रह सके हैं। ईसाइयों आदिका कत्लेआम उसी समय आरम्भ होता है,

जब मुसलमान अधिकारी अपने राज्यसे अमन उठा लेते हैं। जब तक ईसाई आदि मुसलमान राज्योंमें चुपचाप पड़े रहते थे और किसी प्रकारका राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करनेका कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उद्योग न करते थे, तब तक अमन कभी उठाया नहीं जाता था और वे लोग बहुत ही सुरक्षित दशामें रहते थे। पर जबसे वे लोग सिर उठाने लगे और मुसलमानोंके राज्यमें राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करनेका उद्योग करने लगे, तभीसे वहाँ ईसाइयों आदिकी हत्याएँ होने लगीं। ये सब बातें प्रायः गत सौ वर्षोंसे ही होने लगी हैं। ये हत्याएँ धार्मिक विरोधके कारण नहीं होतीं। मुसलमान लोग केवल काफिरोंकी हत्या करनेके लिए ही जहाद नहीं करते। जहादका मुख्य कारण यह होता है कि वे विधर्मियोंको अपने राज्यमें राजनीतिक अधिकार प्राप्त करनेसे रोकना चाहते हैं। यही कारण है कि जब यूनानी लोग सिर उठाते हैं, तब केवल यूनानियोंकी ही हत्या होती है; और जब आरमीनियन लोग उपद्रव खड़ा करते हैं, तब केवल आरमिनियनोंकी ही हत्या होती है। एक जातिके उपद्रव करने पर कभी किसी दूसरी जाति पर हाथ नहीं उठाया जाता। यद्यपि कुरानमें ईसाइयोंकी अपेक्षा यहूदियोंकी कहीं अधिक निन्दा की गई है, तथापि तुर्क लोग यहूदियोंके साथ कोई विशेष शत्रुता नहीं रखते। यही कारण है कि कई सौ वर्ष पहले जब बहुत से यहूदी स्पेनसे भागकर तुर्क साम्राज्यमें आये थे, तब तुर्कोंने उनका यथेष्ट आतिथ्य किया था और उनको अपने देशमें रहनेके लिए अच्छी तरह स्थान दिया था। यों तो धार्मिक दृष्टिसे प्रत्येक मुसलमानका यह धर्म है कि वह काफिरोंकी हत्या करे, पर मुसलमानी राज्योंमें केवल अमनके कारण ही काफिर लोग मारे जानेसे बचे रहते हैं। फारस और तुर्कीमें यहूदी लोग अब तक केवल इसी लिए

सुखपूर्वक रहते थे कि मुसलमानोंने अमन कायम रखा, उसे कभी उठाया नहीं।

मुसलमानोंके चार परम पवित्र क्षेत्रोंमेंसे दो क्षेत्र केवल पैलेस्टाइनमें ही हैं। उनके लिए मक्केके बाद जेरूसलम ही है। उसी जेरूसलमको मुसलमानोंके हाथसे छीनकर यहूदियोंके हाथमें देना कितना भयंकर है, इसका अनुमान विचारवान् पाठक स्वयं ही कर लें। यहूदी लोग कहते हैं कि हम धार्मिक कारणोंसे जेरूसलम नहीं लेना चाहते; और जो लोग यह कहते हैं कि जेरूसलम यहूदियोंके हाथमें जानेसे मुसलमानोंमें असन्तोष फैलेगा, वे यहूदियोंके आन्दोलनका वास्तविक अभिप्राय नहीं समझते। पर यदि यहूदियोंकी यही बात ठीक हो, तो फिर पैलेस्टाइनके लिए ही इतना अधिक आग्रह क्यों? वास्तवमें यहूदी लोग केवल ऐतिहासिक और धार्मिक कारणोंसे ही पैलेस्टाइन पर अधिकार करना चाहते हैं। दूसरेको समझाने-बुझानेके लिए वे चाहे कितनी ही लम्बी चौड़ी बातें क्यों न करें और अरबों आदिके साथ कितनी ही अधिक सहानुभूति क्यों न जतलावें, पर पैलेस्टइनमें यहूदियोंका राज्य स्थापित होनेसे घोर उपद्रव होनेकी सम्भावना है। इसी लिए अरबके मुसलमान और ईसाई दोनों इसका घोर विरोध करते हैं। यहाँ तक कि हजाज़के जिस राजाने पैलेस्टाइनमें अँगरेजोंको इतनी अधिक सहायता दी थी, उसका सरकारी समाचारपत्र 'अलकिबला' भी इस बातका घोर विरोधी है। यहूदियोंने अपना मतलब निकालनेके लिए वहाँके मुसलमानों और ईसाइयोंको अपनी ओरसे समझाने-बुझानेका बहुत कुछ प्रयत्न किया; पर वे लोग जल्दी उनकी बातें सुननेके लिए तैयार ही नहीं होते।

इतिहास इस बातका साक्षी है कि जब जब मुसलमानी देशोंमें राजनीतिक और सामाजिक आदि परिवर्तन करनेका उद्योग किया

गया है, तब तब भारी उपद्रव खड़े हुए हैं। जब दूसरे देशोंके लोग अपने देशकी सरकारसे आर्थिक सहायता पाकर और अपने देशकी सेनाओं आदिके बल पर मुसलमानी देशोंमें जाकर बसनेका उद्योग करते हैं, तब या तो वे वहाँ बसने नहीं पाते और या मार डाले जाते हैं। फ्रान्सने ट्यूनिसमें, इटलीने ट्रिपोलीमें और यूनानने मारमोरा तथा ईजियन तट पर अब तक अपने उपनिवेश स्थापित करनेके जो प्रयत्न किये हैं, उनमें उनको बुरी तरह विफलता हुई है; और अब यहूदियोंको भी उन्हीं विफलताओंसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। मुसलमान लोग स्वयं अपने ही देशमें विधर्मियोंका प्रभुत्व कभी सहन नहीं कर सकते। यह हो ही नहीं सकता कि विधर्मी लोग मुसलमानोंके देशमें जाकर बसें भी और उनके मालिक भी बन जायँ। तेल कभी पानीमें नहीं मिल सकता। कुछ लोग यह कहते हैं कि पहले पैलेस्टाइनमें उपनिवेश स्थापित करनेमें इसलिए विफलता हुई थी कि वहाँ तुर्कोंका शासन था, जो अच्छा नहीं था। पर अब वहाँ अरबोंका राज्य हो गया है, जो तुर्कोंके राज्यसे बहुत अच्छा है। इसलिए इस बार यहूदियोंको वहाँ उपनिवेश स्थापित करनेमें सफलता होगी। पर वे लोग भारी भूल करते हैं। उनको समझ रखना चाहिए कि तुर्कोंकी अपेक्षा अरब लोग अधिक कट्टर होते हैं और उनके कट्टरपनसे यहूदियोंको अधिक डरना चाहिए।

यदि शान्ति महासभा सचमुच ही यह निर्णय कर दे कि यहूदियोंको पैलेस्टाइन दे दिया जाय और वे वहाँ जाकर बस जायँ, तो निश्चय ही बहुत अधिक समय तक वहाँ बहुत सी सेना आदि रखनेकी आवश्यकता होगी। इस कामके लिए पैलेस्टाइन और उसके आस-पासके लाखों मुसलमानोंको सदा डरा धमकाकर दबाये रखना पड़ेगा। यह काम सोचनेमें भले ही सहज जान पड़े, पर करनेमें बहुत ही कठिन होगा।

और फिर एक बात और है। युद्धका उद्देश्य सदा यही बतलाया गया है कि प्रत्येक देशका शासन वहाँके निवासियोंके इच्छानुसार ही होना चाहिए। अब यदि पैलेस्टाइनके ईसाइयों और मुसलमानोंसे पूछा जाय, तो दोनों यही कहेंगे कि हम यहाँ यहूदियोंका प्रभुत्व नहीं चाहते। वहाँ यहूदियोंके इन विरोधियोंकी संख्या ८० प्रति सैकड़ेके लगभग है। क्या इतने आदमियोंकी सम्मतिका कुछ भी आदर न किया जायगा और क्या उनको एक हाथसे जो कुछ दिया जायगा, वही दूसरे हाथसे छीन लिया जायगा? और फिर वहींके बहुत से यहूदी भी तो यह नहीं चाहते कि यहाँ यहूदियोंका राज्य हो, क्योंकि उससे होनेवाले अनिष्टको वे अच्छी तरह जानते हैं। ऐसी दशामें क्या अँगरेजोंको उचित है कि वे अपना मतलब निकालनेके लिए यहूदियोंको जबरदस्ती पीठ ठोंककर खड़ा करें?

राष्ट्रपति विल्सनने एक बार कहा था कि शुद्ध और निष्पक्ष न्याय वही है, जिसमें किसीके साथ कोई रियायत न की जाय और सब लोगोंको समान अधिकार प्राप्त हों। कभी किसी विशिष्ट जाति या वर्गके हितका ध्यान रखकर कोई काम नहीं करना चाहिए; बल्कि सब लोगोंके हितका समान रूपसे ध्यान रखना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि क्या संसारकी जातियों और सब लोगोंको समान अधिकार दिये जायँगे या बलवानोंको मनमानी करने दी जायगी और दुर्बलोंको चुपचाप उनके अत्याचार सहने पड़ेंगे?

जो यहूदी इस समय दूसरोंके पीठ ठोंकने पर पैलेस्टाइनमें अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित करना चाहते हैं, वे यह बात भूल जाते हैं कि पैलेस्टाइन पर हजार वर्षसे एक ऐसी जातिका अधिकार है जो धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक आदि सभी दृष्टियोंसे

एक हो चुकी है। और जो लोग इन यहूदियोंकी पीठ ठोंकते हैं, वे या तो पैलेस्टाइनके निवासियोंकी दृष्टिसे इस प्रश्न पर विचार ही नहीं करते, और या ऐसे राजनीतिक सिद्धान्तोंके अनुसार काम करते हैं जिनकी राष्ट्रपति विलसनने घोर निन्दा की है।

जिस समय अँगरेजोंने डार्डेनिलीस पर चढ़ाई की थी, उस समय वहाँ अँगरेज सैनिकोंकी चिकित्सा आदिके लिए डाक्टरोंकी विशेष आवश्यकता थी। उस अवसर पर सीरियाके कुछ डाक्टरोंने, जिन्होंने अमेरिका और फ्रान्समें शिक्षा पाई थी, यह प्रार्थना की थी कि हमें घायल सैनिकोंकी शुश्रूषा करनेकी आज्ञा मिले। पर उनकी प्रार्थना पर किसीने ध्यान नहीं दिया। इस पर मित्रोंके एक राजनीतिज्ञने अँगरेज अधिकारियोंसे उन सीरियन डाक्टरोंकी सिफारिश की। उत्तरमें उन अँगरेज अधिकारियोंने कहा था कि हम लोग यह नहीं चाहते कि जंगली लोग हमारे आदमियोंकी चिकित्सा आदि करें। बस यही दुर्भाव वह चट्टान है जिस पर आकर स्थायी शान्तिका जहाज टकराकर टूट जाता है। एशियावाले जंगली नहीं हैं; और युरोपवाले अपने मनसे जितनी जल्दी यह दुर्भाव निकाल डालें, उनके लिए उतना ही अच्छा है। अब एशियावाले भी युरोपवालोंकी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं और उन्हींके विचारों तथा भावोंको ग्रहण कर रहे हैं। यदि एशियावालोंको भी समान अधिकार दिये जायँ, तो वे भी सब बातोंमें युरोपवालोंके समान ही श्रेष्ठ सिद्ध हो सकते हैं। यदि एशियावालोंके साथ उपेक्षाका व्यवहार किया जायगा और उन्हींके देशोंमें उनको राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकार न दिये जायँगे, तो यह निश्चय है कि युरोपवालोंकी यह नीति ही उनको रसातल तक पहुँचा देगी। यदि एशियावालोंके प्रति युरोपवालोंके पुराने भाव न बदलेंगे, तो सम्भव है कि शीघ्र ही सारे संसारमें घोर अशान्ति उत्पन्न हो जायगी और

इसी बीसवीं शताब्दीमें एक ऐसा भारी युद्ध होगा जिसके मुकाबले- में गत महायुद्ध कोई चीज ही नहीं है।

और फिर यदि यह भी मान लिया जाय कि एशियावाले जंगली हैं, तो भी उनके अधिकारोंकी उसी प्रकार रक्षा होनी चाहिए, जिस प्रकार युरोपवालोंके अधिकारोंकी रक्षा होती है। यदि पैलेस्टाइनके निवासी अपने अधिकारोंकी आप ही रक्षा करना चाहें, तो ब्रिटिश सरकारको उसमें हस्तक्षेप करनेका कोई हक नहीं है। पैलेस्टाइन उनका देश है। वे उसके लिए लड़े हैं। उनकी बात अव- श्य मानी जानी चाहिए। क्या शान्ति महासभाको इस बातका अधिकार प्राप्त है कि वह पैलेस्टाइनके निवासियोंसे यह कहे कि— "हम यहूदियोंकी इच्छा पूरी करना चाहते हैं; इसलिए तुम अपने देशमें इतने यहूदियोंको रहनेका स्थान दो और अपने देशके शासन- कार्यमें उनको भी सम्मिलित करो। यदि तुम सीधी तरहसे ऐसा नहीं करोगे, तो हम सेनाकी सहायतासे तुम्हारे देश पर अधिकार कर लेंगे और तुम्हारे साथ वैसा ही व्यवहार करेंगे जैसा बागियों और शान्तिभंग करनेवालोंके साथ किया जाता है"? कदापि नहीं।

जरा इस प्रश्नको एक और पहलूसे देखिये। बाल्फोरवाले मन्त्रिमण्डलके परराष्ट्र सचिवने एक बार यह सोचा था कि पूर्वी अफ्रिकामें यहूदियोंको रहनेके लिए स्थान दिया जाय। १९०४ में इस प्रश्न पर विचार करनेके लिए लन्दनसे एक कमीशन भेजा गया था। वहाँ स्थान बहुत अधिक था। इतना अधिक कि बिना किसी प्रकारकी कठिनताके वहाँ बहुत अधिक यहूदी बसाये जा सकते थे। जो हजार पाँच सौ अँगरेज तब तक वहाँ जाकर बसे थे, जमीनोंको जोतने-बोनेकी कौन कहे, वे तब तक वहाँकी भूमिकी नाप-जोख और जाँच-पड़ताल भी नहीं कर सके थे। लेकिन इतना होने पर भी उन थोड़े से अँगरेजोंने यहूदियोंके वहाँ

जाकर बसनेका इतना घोर विरोध किया था कि कमीशनको विवश होकर यह कहना पड़ा था कि यह भूमि अँगरेजोंके बसने योग्य है और यहाँ यहूदियोंको नहीं बसाना चाहिए। मि० बाल्फोर उस समय प्रधान मन्त्री थे। उन्होंने यह बात मान ली कि पूर्वी अफ्रिकाके गोरोंका विरोध न्यायसंगत है; और यदि उनकी इच्छाके विरुद्ध काम किया जायगा, तो बल-प्रयोग करनेकी आवश्यकता पड़ेगी। बलप्रयोग करके उन गोरोंको दबाना उन्होंने ठीक नहीं समझा था और इसी लिए उन्होंने यहूदियोंसे कहा था कि इसके बदलेमें आप लोग उगाण्डा प्रदेश ले लें तो बहुत अच्छा हो। उस समय केवल थोड़े से गोरोंका विरोध मान लिया गया था। अब तो साढ़े छः लाख मुसलमान और ईसाई विरोध करते हैं। क्या अब वह बात बदल गई?

प्रायः यहूदी लोग कहा करते हैं कि पैलेस्टाइनमें हमारे बसनेके लिए यथेष्ट स्थान है। पर यह कोई दलील नहीं है। यदि दूसरेके घरमें अधिक स्थान हो, तो क्या केवल इसी लिए हमें उसके घरमें घुसकर दखल जमा लेना चाहिए? यह तो उन्हीं जरमनोंका सा सिद्धान्त हुआ जिनसे सारे संसारको युद्ध करना पड़ा था। यह कहाँका न्याय है कि जिस सिद्धान्तके लिए आप जरमनोंसे इतना बड़ा युद्ध करें, उसी सिद्धान्तके अनुसार, और वह भी उसी युद्धकी समाप्ति पर, आप स्वयं भी काम करने लग जायँ? और फिर यदि पैलेस्टाइनमें स्थान अधिक है, तो कौन कह सकता है कि अनुकूल परिस्थितिमें वहाँकी जनसंख्या शीघ्र ही न बढ़ जायगी? प्रत्येक देशके निवासियोंको इस बातका पूर्ण अधिकार है कि वे अपने देशकी सम्पत्तिको अपनी भावी सन्तानके लिए सुरक्षित रखें। और फिर यदि यही बात है तो आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और कनाडामें भी आप लोग एशियावालोंको क्यों नहीं जाकर बसने देते? वहाँ भी

तो आखिर स्थानकी कमी नहीं है। क्या यही न्याय है कि एशिया-वालोंको तो आप अपने बड़े बड़े महलों तकमें घुसने न दें और उनकी झोंपड़ियोंमें जबरदस्ती युरोपवालोंको घुसेड़ते चले जायँ?

यहूदी लोग यह भी कहते हैं कि पैलेस्टाइनमें पहुँचकर न तो हम किसीको सतावेंगे और न किसीके साथ कोई झगड़ा करेंगे। बहुत ठीक। अब यदि यहूदियोंके पैलेस्टाइनमें पहुँचने पर कोई झगड़ा खड़ा हो, तो यही माना जायगा न कि इसमें यहूदियोंका कोई दोष नहीं है? क्योंकि वे बेचारे तो पहलेसे ही कहते आये हैं कि हम लड़ाई झगड़ा नहीं करेंगे। उस समय यही कहा जायगा कि झगड़ा पैलेस्टाइनवालोंने खड़ा किया है; और तब उस झगड़ेको दबानेके लिए यहूदी लोग अपने संरक्षक अँगरेजोंसे सहायता माँगेंगे। तब अँगरेज कहेंगे कि पैलेस्टाइनवाले उपद्रवी और बागी हैं; और इस बहाने नाहक उन पर आफत आवेगी। जब पैलेस्टाइनमें यहूदियोंका राज्य स्थापित हो जायगा, तब यह बात स्वतः सिद्ध है कि अरब लोग अपने स्वराज्यका विकास न कर सकेंगे। पर इस बीसवीं शताब्दीमें, और वह भी इतने बड़े युद्धके बाद, तो यह बात किसीको अभीष्ट न होनी चाहिए। केवल थोड़े से लोगोंके हितके लिए बहुत अधिक लोगोंका कभी बलिदान न होना चाहिए। इस समय उद्देश्य तो यह होना चाहिए कि कोई देश विदेशियोंके शासनमें न रहे और कोई बलवान् दुर्बलोंके धनका अपहरण न कर सके। इसके लिए यह आवश्यक है कि पैलेस्टाइनके मुसलमानोंको भी अपने पैरों आप खड़े होनेका अवसर और शिक्षा दी जाय; न कि उनके सिर पर यहूदियोंको बैठाकर धार्मिक वैमनस्य बढ़ाया जाय, राजनीतिक असन्तोष फैलाया जाय और सामाजिक बखेड़े उत्पन्न किये जायँ।

(१२)

तुर्की जातियोंका भविष्य

यों तो वार्सैल्सकी सन्धिमें जरमनीसे कई सादे चेकों पर हस्ताक्षर करनेके लिए कहा गया था, पर उसकी १५५ वीं धारा बड़ी ही विकट थी। उसके अनुसार मित्र राष्ट्र जर्मनीको जिन बातोंसे वंचित करना चाहते थे, वे बहुत ही महत्वपूर्ण थीं और जर्मनीके पक्षमें बहुत ही घातक थीं। वह धारा इस प्रकार थी:—

"मित्र राष्ट्र और उनके साथी आगे चलकर तुर्की और बलगेरियाके साथ अधिकारों, हितों और रिआयतोंके सम्बन्धमें जो कुछ समझौता करेंगे, उसे जर्मनीको मानना पड़ेगा।"

मित्र राष्ट्र चाहते थे कि जर्मनीका अपने साम्राज्यके बाहर कुछ भी अधिकार न रह जाय और स्वयं अपने साम्राज्यमें भी उसका प्रभुत्व बहुत कुछ कम हो जाय। यह धारा उनकी उस उद्देश्य-सिद्धिमें बहुत सहायक होती है। इसके अनुसार ग्रेट ब्रिटेन, फ्रान्स और इटलीको भविष्यमें पश्चिमी एशियाके सम्बन्धमें पूरा पूरा अधिकार मिल जाता है। जापानका तो तुर्कीके साथ कोई मतलब है ही नहीं; और अमेरिकाके संयुक्त राज्य जिस प्रकार चीनके सम्बन्धमें कुछ नहीं करते, उसी प्रकार वे तुर्कीके सम्बन्धमें भी कुछ न करेंगे। फिर मित्र राष्ट्रोंको मनमानी कार्रवाई करनेका अवसर मिल जायगा।

जो जातियाँ तुर्कीके अधिकारसे निकाली गई थीं अथवा जो अब तक उसके अधिकारमें ही थीं, उनके प्रतिनिधि इस आशासे पेरिस पहुँचे थे कि वर्सेल्सकी सन्धिसे पश्चिमी एशियामें एक नये युगका

आरम्भ होगा और सब पुरानी बातें बदल जायँगी। मित्र राष्ट्रोंके बड़े बड़े राजनीतिज्ञोंने अब तक जो अनेक भाषण किये थे, उनसे उन लोगोंको यह आशा हो गई थी कि हम लोग अब अपने इच्छानुसार स्वभाग्य-निर्णय कर सकेंगे। उनका यह समझना ठीक भी था; क्योंकि मित्र राष्ट्र बराबर यही कहते आ रहे थे कि इस युद्धका एक उद्देश्य यह भी है कि तुर्क साम्राज्यमें बसनेवाली जातियाँ स्वतंत्र हो जायँ। वे सदा यही कहते थे कि हम लोग छोटे छोटे राष्ट्रोंकी रक्षा करने, उनको स्वतंत्र बनाने और स्थायी शान्ति स्थापित करनेके लिए लड़ रहे हैं। किसी नये प्रदेश पर अधिकार प्राप्त करने अथवा कोई स्वार्थ-साधन करनेके लिए यह युद्ध नहीं हो रहा है। पर जब ७ मई १९१९ को जर्मनोंके सामने सन्धि पेश की गई, तब मालूम हुआ कि तुर्की और बलगेरियाके साथ मित्र राष्ट्र बिलकुल मनमानी काररवाई करना चाहते हैं। जब तक यह सन्धि तैयार होती रही, तब तक किसीने तुर्क साम्राज्यकी जातियोंसे उनके भविष्यके सम्बन्धमें किसी प्रकारका परामर्श नहीं लिया था। वे इस सम्बन्धमें बिलकुल अन्धकारमें रखे गये थे। हाँ, एक बात अवश्य स्पष्ट थी। वह यह कि मित्र राष्ट्र आगे चलकर अपना उद्देश्य सिद्ध करनेके लिए तुर्की साम्राज्यकी जातियोंको एक प्रकारसे ओलमें रखना चाहते हैं और इतने बड़े युद्धके बाद भी वे लोग राजनीतिक क्षेत्रकी अपनी पुरानी चालबाजी नहीं भूले हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि लीग आफ नेशन्स या राष्ट्र संघने यह निर्णय कर दिया है कि जो लोग अभी तक अपने पैरों पर आप नहीं खड़े हो सकते हैं, उनकी रक्षा और सहायता करना उन्नत और सभ्य राष्ट्रोंका परम कर्त्तव्य है। इसके लिए यह निश्चित किया गया है कि ऐसे लोग उन उन्नत तथा सभ्य राष्ट्रोंके सपुर्द कर दिये जायँ जो अपने साधनों, अनुभव अथवा भौगोलिक परिस्थितिके कारण

उत्तरदायित्वको ग्रहण करनेके लिए सबसे अधिक उपयुक्त हों। ऐसे उन्नत राष्ट्र लीगकी ओरसे उन लोगोंका संरक्षण और देख रेख करें। इस प्रसंगमें तुर्की साम्राज्यका भी उल्लेख आया है। उसमें कहा गया है कि तुर्की साम्राज्यके कुछ देश ऐसे हैं जो अधिक उन्नत और योग्य हैं। पर उनको भी स्वराज्यके योग्य बनानेके लिए कुछ समय तक संरक्षणमें रखना आवश्यक है। पर ऐसे लोगोंको किसीके संरक्षणमें देनेसे पहले इस बातका भी ध्यान रखना आवश्यक है कि वे स्वयं किसके संरक्षणमें रहना चाहते हैं। प्रत्येक संरक्षकको अपने संरक्षित देशके शासन आदिके सम्बन्धमें प्रति वर्ष एक रिपोर्ट तैयार करनी पड़ेगी, जिस पर लीग या उसकी काउन्सिल विचार करेगी।

कुछ लोग लीगके इसी निश्चयके आधार पर देशोंके संरक्षणकी प्रथाको न्यायपूर्ण बतलाते हैं। पर वे इस बात पर ध्यान देनेकी आवश्यकता नहीं समझते कि इस निश्चयका मसौदा करनेमें भी कितनी चालाकीसे काम लिया गया है। इस निश्चयके अनुसार बड़ी बड़ी शक्तियोंको इस बातका पूरा पूरा अधिकार प्राप्त है कि वे अपना साम्राज्य और प्रभुत्व अपने इच्छानुसार बढ़ा सकें और संरक्षित देशोंका आपसमें ही अपने लाभके विचारसे बटँवारा कर लें। और विशेषतः तुर्क साम्राज्यके सम्बन्धमें तो मुख्य मुख्य मित्र राष्ट्रोंको ही विशिष्ट अधिकार प्राप्त हैं।

जनवरीसे मई १९१९ तक मित्रों और उनके साथियोंके सामने कई बार पश्चिमी एशियाके प्रश्न उपस्थित हुए। तुर्क साम्राज्यकी जातियोंके प्रतिनिधियोंको भी उस समय बुलाया गया और खाली रसम अदा करनेके लिए उनसे सम्मति भी ली गई। पर कभी उनको ऐसा अवसर नहीं दिया गया कि वे अपने मनकी सच्ची बातें कह सकें; और न उनकी आन्तरिक इच्छाओं पर ही कोई ध्यान दिया

गया। बीचमें उनको यह भी न मालूम हो सका कि हमारी इच्छाएँ पूर्ण होंगी या नहीं, और यदि होंगी भी तो कहाँ तक होंगी। उनकी इच्छाओंकी पूर्तिमें मित्र राष्ट्रोंको जहाँ कहीं कोई कठिनता मालूम हुई, वहाँ उन्होंने आप ही मनमाना निश्चय कर लिया। उन कठिनाइयोंके सम्बन्धमें उन जातियोंसे कभी किसी प्रकारका परामर्श नहीं लिया गया। मित्र राष्ट्रों और उनके प्रतिनिधियोंने कभी इस बातका प्रयत्न नहीं किया कि तुर्क साम्राज्यकी सब जातियाँ एक जगह मिलकर बैठें और अपने हितकी दृष्टिसे अपने भविष्यके सम्बन्धमें किसी प्रकारका निश्चय करें। तुर्क साम्राज्यकी सभी जातियोंके प्रतिनिधि उस समय पेरिसमें ही थे, कहीं दूर नहीं थे। पर उनको पूछता ही कौन था ? प्रबल मित्र राष्ट्रोंने जो चाहा, वह निश्चय कर लिया। इस प्रकार न्याय और स्वतंत्रताका अभिनय पूरा हो गया। वे लोग तुर्की जातियोंको किसी प्रकारकी स्वतंत्रता देना ही नहीं चाहते थे। आगे चलकर इसका भेद भी खुल गया। लोगोंको पता लग गया कि २३ अप्रैल १९१५ को और उसके बाद १९१६ और १९१७ में ग्रेट ब्रिटेन, फ्रान्स और इटलीने आपसमें गुप्त रूपसे समझौते कर लिये थे कि युद्धकी समाप्ति पर जीते हुए प्रदेशोंको हम लोग इस प्रकार आपसमें बाँट लेंगे ! ये समझौते अपने अपने हितके ही विचारसे किये गये थे और उनमें विजित प्रजासे कोई परामर्श नहीं लिया गया था। पेरिस कान्फ्रेन्सके आरम्भसे ही सब लोगोंका यही एक मात्र सिद्धान्त था कि हमारी साम्राज्य-वृद्धिकी आकांक्षाएँ पूरी हों। और जब कि सब राजनीतिज्ञ मिलकर यही चाहते थे कि किसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन, फ्रान्स और इटलीका भला हो, तब फिर भला यूनानियों, आरमीनियनों, सीरियनों, कुर्दों और अरबोंके हितकी ओर कौन ध्यान देता ?

लेकिन इतना होने पर भी १९१९ की ग्रीष्म ऋतुमें पश्चिमी

एशियाका प्रश्न उतना ही भयंकर और विकट बना रहा, जितना वह सदासे था। पहले तुर्क साम्राज्यका बटँवारा करनेवाली जरमनी, आस्ट्रिया, रूस, ग्रेट ब्रिटेन फ्रान्स और इटली ये छः शक्तियाँ थीं, पर अब इनमेंसे पहली तीन शक्तियाँ निकल गई थीं और केवल अन्तिम तीन ही बच गई थीं। मगर इन तीनोंके लिए भी आपसमें समझौता करना उतना ही कठिन था, जितना पहले छः शक्तियोंमें था। स्वार्थ-साधनकी प्रबल कामनाका इसके सिवा और फल ही क्या हो सकता है? यही भीषण स्थिति देखकर राष्ट्रपति विल्सनने कह दिया था कि अमेरिकाके संयुक्त राष्ट्र किसी देशके संरक्षक होनेका जिम्मा नहीं ले सकते। वे पुरानी साम्राज्य-लिप्साके फेरमें नहीं पड़ना चाहते थे। यदि अमेरिका पश्चिमी एशियाके देशोंको छोड़ दे, तो मित्र राष्ट्र वहाँ लूटता क्यों करें? उनको तो और भी अच्छा अवसर मिला। उन्होंने सोचा कि हिस्सा लगानेवालोंकी संख्या जितनी ही कम हो, हमें उतना ही ज्यादा हिस्सा मिलेगा।

अन्तमें संरक्षणका प्रश्न अमेरिकन प्रजाके सामने आया। संरक्षणको वे लोग बहुत बड़े उत्तरदायित्वका और कठिन काम समझते थे और इसलिए उससे घबराते थे; पर युरोपवालोंकी समझमें इस घबराहटका कोई कारण ही न आता था। वे तो संरक्षणको बहुत ही सहज, बल्कि अनेक अंशोंमें अभीष्ट समझते थे। उनमेंसे एकने मूल पुस्तकके लेखकसे पेरिसमें कह ही डाला कि आपके राष्ट्रपति बड़े चालाक हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि लोकमतको अपने पक्षमें करनेके लिए कौन सा काम अपने ऊपर लेना चाहिए और कौन सा नहीं लेना चाहिए। इससे दो बातें प्रकट होती हैं। एक तो यह कि युरोपियन राजनीतिज्ञ यह समझते थे कि राष्ट्रपति विल्सन संरक्षणको कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं समझते, बल्कि केवल लोकमतको अपने अनुकूल करनेके लिए चाला-

कोसे संरक्षणके कामसे भागते हैं। और दूसरे यह कि राष्ट्रपति तो लोकमतका आदर करते हैं, पर युरोपियन राजनीतिज्ञोंको अपने स्वार्थ-साधनके आगे लोकमतकी कोई परवा ही नहीं है। बस यही युरोपकी सर्वश्रेष्ठ सभ्यता है!

असल बात यह है कि पश्चिमी एशियाके सम्बन्धमें अमेरिका उसी समय युरोपवालोंका साथ दे सकता है, जब कि उसे मालूम हो जाय कि वहाँकी जातियोंको आगे चलकर स्वतंत्र कर दिया जायगा। और यदि युरोपवाले उनको सदा पराधीन ही बनाये रखना चाहते हों, तो अमेरिका उनका साथ नहीं दे सकता। युरोपियन शक्तियोंके पास न तो इस समय इतना धन है और न इतने आदमी हैं कि वे पश्चिमी एशियाके नये देशोंका समुचित और न्याययुक्त प्रबन्ध कर सकें। हाँ, अपने स्वार्थके लिए धींगाधींगी करनेकी बात दूसरी है। यदि ग्रेट ब्रिटेन, फ्रान्स और इटली इस समय एशिया माइनर, सीरिया, अरब और मेसोपोटामिया आदि पर अपना कब्जा जमाये रहें, तो यह स्पष्ट है कि वे यथासाध्य इन देशोंको कभी स्वतंत्र न होने देंगे; सदा स्वयं ही उनसे लाभ उठाते रहेंगे और उनके सहारे अपने उपनिवेशों आदिका विस्तार करते रहेंगे। इन देशोंकी सरकारों और राजनीतिज्ञोंने अब तक लोगोंको जो बड़ी बड़ी आशाएँ दिलाई हैं, उन पर किसी-को विश्वास नहीं करनी चाहिए। इन देशोंकी पुरानी नीतिसे हमें यही शिक्षा मिलती है कि इनकी किसी बातका विश्वास न किया जाय। उदाहरणके लिए मिस्र हमारे सामने है। अँगरेजोंने इस बातका बिलकुल पक्का वादा किया था कि हम मिस्रको शीघ्र ही खाली करके स्वतंत्र कर देंगे। पर आजकल मिस्रके साथ जो व्यवहार हो रहा है, उससे सारा संसार परिचित है।

ऊपर संरक्षित देशोंके सम्बन्धमें जिस धाराका उल्लेख है,

इसमें स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि संरक्षक निश्चित करते समय इस बातका ध्यान रखा जायगा कि कौन जाति किस देशके संरक्षणमें रहना चाहती है। यदि यह शर्त पूरी की जाय, तो हमारा विश्वास है कि एक यूनानियोंको छोड़कर (क्योंकि वे स्वभावतः यूनानके ही संरक्षणमें रहना चाहेंगे) तुर्क साम्राज्यकी सब जातियाँ यही कहेंगी कि हमें अमेरिकाके संरक्षणमें रखा जाय; और उसके बाद दूसरा नम्बर ग्रेट ब्रिटेनका होगा। फ्रांस या इटलीके संरक्षणमें जाना तो शायद कोई जाति पसन्द न करेगी। फ्रान्स इन जातियोंसे अच्छी तरह परिचित है; पर उसको एलसेस लोरेन, केमरून, टोगोलैण्ड आदि जो नये प्रदेश मिले हैं, उन्हींके प्रबन्धसे उसके पास आदमी नहीं बचेंगे। ग्रेट ब्रिटेन भी गत महायुद्धमें अपना बहुत सा धन-जन नष्ट कर चुका है। इसलिए अमेरिका ही इस कामके लिए सबसे अधिक उपयुक्त हो सकता है। अफ्रिका और एशियामें जरमनीके सारे उपनिवेशों पर अधिकार करके ग्रेट ब्रिटेन और फ्रान्स अपने ऊपर बहुत बड़ा बोझ ले चुके हैं। पर फिर भी उनका सन्तोष नहीं है और वे तुर्क जातियोंको भी अपने अधिकारमें लानेके लिए आपसमें लड़ रहे हैं। यदि ये नई जातियाँ इतने पर भी युरोपियन शक्तियोंके ही अधिकारमें रहेंगी, तो इसमें सन्देह नहीं कि न तो शासक सुखसे रह सकेंगे और न शासित। शासक आपसमें अलग लड़ते-भिड़ते रहेंगे और शासित अलग उत्पात मचावेंगे।

पश्चिमी एशियाकी समस्या बड़ी ही विकट है। पैलेस्टाइन, अरब, सीरिया, कुर्दिस्तान, आरमीनिया आदि सभीकी समस्याएँ एक दूसरीसे बढ़कर विकट हैं और सबका अनेक अंशोंमें ओतप्रोत सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त इन सब पर कई शक्तियोंकी कड़ी दृष्टि है। ऐसी दशामें इनके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी भविष्यद्-

वाणी करना बहुत ही कठिन और प्रायः निरर्थक है। किसीने कहा है कि खूब तर्क वितर्क करके अच्छी तरह सोच लो कि क्या हो सकता है; और तब निश्चय कर लो कि यह बात कभी नहीं होगी। तात्पर्य यह कि किसी विषयमें पहलेसे अनुमान लड़ाना बिल्कुल व्यर्थ है। आजसे दो बरस पहले कौन कह सकता था कि एक खलीफाके प्रश्नको लेकर भारतमें इतना बड़ा आन्दोलन खड़ा होगा? राजनीतिक क्षेत्रमें कोई नहीं कह सकता कि कब क्या होगा। तो भी हम यहाँ संक्षेपमें कुछ ऐसी बातें बतला देना चाहते हैं जिनसे पाठक यह समझ सकें कि तुर्की जातियोंका प्रश्न कितना भयंकर और विकट है।

यह बड़े ही दुःखकी बात है कि इतने बड़े युद्धसे भी युरोप वालोंने कोई शिक्षा नहीं ग्रहण की। पश्चिमी एशियाके सम्बन्धकी उनकी नीति ज्योंकी त्यों बनी है। पेरिस कान्फ्रेन्समें जब जब पश्चिमी एशियाका प्रश्न उठता था, तब तब सब लोग अपने ही हित का ध्यान रखकर उसे अपनी ओर खींचना चाहते थे। जिन भावोंसे उन्नीसवीं शताब्दीमें अनेक युद्ध हुए थे, वही भाव वहाँ भी ज्योंके त्यों वर्तमान थे। अरबों, सीरियनों, आरमीनियनों और यूनानियोंको स्वतंत्र करनेके प्रश्न पर तो कभी अच्छी तरह विचार होता ही नहीं था।*

---

* समय समय पर स्वार्थके कारण युरोपियन शक्तियोंकी नीति किस प्रकार गिरगिटकी तरह रंग बदलती है, इसका एक छोटा सा प्रमाण पोलैण्डके सम्बन्धकी नीतिसे मिल सकता है। रूसकी राज्यक्रान्तिसे पहले मित्रराष्ट्र पोलैण्डकी स्वतंत्रताके घोर विरोधी थे और जरमनी आदि उसे स्वतन्त्र होनेके लिए उत्तेजित किया करते थे। पर पीछे जब जरमनी आदिको पोलैण्डके अस्तित्वकी कोई आवश्यकता न रह गई, तब वे उसकी

राष्ट्रपति विल्सनकी जिन चौदह शर्तोंने युद्ध स्थगित कराया था, वे शर्तें तो ताक पर रख दी गई थीं और मित्र राष्ट्रोंके प्रतिनिधि सदा इसी बातका विचार रखते थे कि २७ अप्रैल १९१५ को इंगलैण्ड, फ्रान्स, रूस और इटलीमें क्या समझौता हुआ था, १९१६ में अँगरेजों और फ्रन्सीसियोंमें क्या निश्चय हुआ था, १९१६ में अँगरेजों और फ्रान्सीसियोंने इटलीसे क्या वादा किया था, १९१७ में हजाज और इंगलैण्डमें क्या सन्धि हुई थी, फरवरी १९१७ में फ्रान्स और रूसमें क्या तै हुआ था, इत्यादि इत्यादि। मनमें तो स्वार्थका राज्य था और जबानी यह कहा जाता था कि इस बातसे प्रजाका हित होगा, इस काममें प्रजाका लाभ होगा। बस 'मुहँमें राम बगलमें छुरी' वाली कहावत ही पूरी तरहसे चरितार्थ होती थी। यदि अमेरिकाके प्रतिनिधि बीचमें कुछ कहना चाहते थे, तो उनसे कहा जाता था कि—"साहब, जरा ठहर जाइये। हम लोगोंमें आपसमें जो तै हो चुका है, पहले उस पर विचार होगा और तब आपका प्रस्ताव लिया जायगा।" कभी कभी तो उनसे यह भी कह दिया जाता था कि—"यह हमारे यहाँकी

स्वतंत्रताके शत्रु हो गये; और उनके बदलेमें मित्र राष्ट्र उसे स्वतंत्र करनेके लिए जोर लगाने लगे; क्योंकि उनको रूसके स्थान पर एक दूसरी शक्ति स्थापित करनेकी आवश्यकता थी। मूल पुस्तकके लेखक मि० गिब्सने जब १९२६ में कहा कि पोलैण्डको स्वतंत्र कर दिया जाय, तब फ्रान्सके सैनिक अधिकारियोंने उनकी निन्दा की थी। पर जब १९१८ में मित्र लोग पोलैण्डको बहुत सा प्रदेश देना चाहते थे और उन्हीं मि० गिबन्सने कहा कि सीमा कुछ कम करनी चाहिए, तब फिर उन्हीं फ्रान्सीसी सैनिक अधिकारियोंने उनकी निन्दा की थी। कैसी उज्वल नीति है! कैसा अच्छा न्याय है!

बात है; हमारे प्राचीन इतिहासों और संस्कारोंसे सम्बन्ध रखती है। इसे कुछ हम ही लोग अच्छी तरह समझ सकते हैं। आप चुपचाप देखते तो रहिये।"

पेरिस कान्फ्रेन्सके समयकी भिन्न भिन्न युरोपियन राष्ट्रोंकी सैनिक व्यवस्था और उनके प्रतिनिधियोंकी बात-चीतके ढंगसे यह साफ मालूम हो जाता था कि कौन राष्ट्र क्या चाहता है। इंगलैण्ड तो यह चाहता था कि स्वेजकी नहर और फारसकी खाड़ी तक पहुँचनेके जितने मार्ग हैं, उन सब पर केवल हमारा ही अधिकार रहे, स्थलकी ओरसे कोई दूसरी शक्ति फारस तक न पहुँच सके, मेसोपोटामिया और बगदाद रेल्वेका सीरियावाला अंश हमें मिल जाय, मध्य एशियामें रूसकी जगह हम जा बैठें, और उत्तर फारस तथा काकेशसमें भी रूसकी जगह हमको ही मिले। फ्रान्स चाहता था कि पश्चिमी एशियामें हमारा ही व्यापार चमके और इसके लिए वह सीरिया और साइलीशिया पर अधिकार करना चाहता था। उसकी यह भी इच्छा थी कि अरबों और आरमीनियनों पर अँगरेजोंका पूरा पूरा अधिकार न हो सके; और यदि अँगरेजोंको पैलेस्टाइन मिल जाय तो उसके बदलेमें हमें साइलीशिया और मेसोपोटामियाके उत्तरका कुछ प्रदेश मिल जाय; क्योंकि हम सैकड़ों बरसोंसे तुर्क साम्राज्यके नाशकी कामना और उद्योग कर रहे हैं। इटली चाहता था कि यदि ग्रेट ब्रिटेन और फ्रान्स मिलकर भू-मध्य सागरके पूर्वी तट पर अधिकार कर रहे हैं, तो हमें ईजियन सागर पर ही अधिकार मिल जाय और पश्चिमी एशिया माइनरका व्यापार हमारे हाथमें आ जाय। अर्थात रोड्स आदि टापू और ईजियन तटके कुछ प्रदेश हमें सदाके लिए मिल जायँ। बस यही सब उद्देश्य थे जिनसे प्रेरित होकर ये परोपकारी महात्मा तुर्की जातियोंको अपने संरक्षणमें लेनेके लिए छटपटा रहे थे।

यों जबानसे लोग चाहे जो कुछ कहें, पर वास्तवमें फ्रान्सीसियों और अँगरेजोंकी नीति और स्वार्थमें बहुत विरोध है और यह विरोध आज दिन तक बराबर बढ़ता हुआ ही दिखाई देता है। राजनीतिक क्षेत्रमें केवल इच्छा करनेसे ही मित्रता नहीं हो सकती। राष्ट्रोंकी मित्रताके लिए सबसे आवश्यक बात यह है कि उनके स्वार्थ परस्पर विरोधी न हों। सीरिया आदिके सम्बन्धमें अँगरेजों और फ्रान्सीसियोंमें बहुत कुछ मनोमालिन्य है। अरबोंको एक करने-के सम्बन्धमें अँगरेजोंकी जो नीति है, वह यदि पूरी उतर जाय, तो उधर सीरियामें फ्रान्सीसियोंको सदा खटका बना रहेगा और इधर पैलेस्टाइन तथा मिस्रमें अँगरेजोंको डर लगा रहेगा। यदि फ्रान्सकी नीति काम कर जायगी, तो आरमीनियनोंको अपने राष्ट्रीय जीवनकी आशासे हाथ धोना पड़ेगा; क्योंकि यदि आरमीनियाके साथ साइ-लीशिया न रखा जायगा, तो आरमीनियाका भूमध्य सागरसे कोई सम्बन्ध न रह जायगा। इटलीकी नीति उसी समय सफल हो सकती है, जब यूनानियोंमें एका न हो। और यह बात यूनानियों-के कल्याणमें बाधक होती है। यदि इटली अपना उद्देश्य सिद्ध करना चाहेगा, तो यूनानके साथ उसका युद्ध अवश्यम्भावी है; और उस दशामें जर्मनी फिर इटलीके साथ मित्रता स्थापित करनेका उद्योग करेगा।

मित्र राष्ट्र इन सब बातोंको खूब समझते थे। जब तक वार्से-ल्सकी सन्धि पर हस्ताक्षर करनेके लिए जर्मनी विवश नहीं किया गया था, तब तक मित्रोंको इस बातका डर था कि कहीं हम लोगों-में ही फूट न हो जाय। तुर्क साम्राज्यके निर्णयका काम अधिक समय तक टाला नहीं जा सकता था, इसलिए जून १९१९ में तुर्कों-के कुछ प्रतिनिधि गैर सरकारी तौर पर पेरिस बुलाये गये थे। यद्यपि वे प्रतिनिधि तरुण तुर्कोंसे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं

रखते थे, तथापि उन्होंने यही कहा था कि युरोपमें शान्ति बनाये रखनेके लिए यह परम आवश्यक है कि तुर्क साम्राज्य ज्योंका त्यों रहने दिया जाय। उनका कहना यह था कि कुस्तुन्तुनिया और एशिया माइनरमें सभी जगह अधिक संख्या तुर्कोंकी ही है; और दूसरे जिन स्थानोंमें यह बात नहीं है, वहाँ कमसे कम मुसलमानोंकी संख्या ही सबसे अधिक है। वे चाहते थे कि यदि आवश्यकता हो तो केवल अरबी-भाषियोंको अलग कर दिया जाय और बाकी सारा तुर्क साम्राज्य ज्योंका त्यों रहने दिया जाय। ये प्रतिनिधि अँगरेजोंके इच्छानुसार ही आये थे और ये लोग तुर्क साम्राज्यमें जो प्रदेश रखना चाहते थे, उन प्रदेशों पर अँगरेजोंका दाँत नहीं था; इसलिए उनकी माँगोंके सम्बन्धमें अँगरेजोंने बहुत उदारता दिखलाई थी। तुर्कोंको भी अपना अस्तित्व बनाये रखनेका उतना ही अधिकार था जितना और लोगोंको था। कुस्तुन्तुनिया और एशिया माइनरके तुर्क साम्राज्यमें रहनेसे नीचे लिखे चार लाभ थे:—

(१) इटली और यूनानके झगड़ेकी आशंका नहीं रह जाती थी।

(२) अमेरिकाके संरक्षक न बननेकी दशामें आरमीनियन प्रश्नका निपटारा हो जाता था और फ्रान्सको साइलीशिया मुफ्तमें मिल जाता था।

(३) आगे चलकर यदि रूस सँभल जाय और मित्रोंमें आ मिले, तो उस दशामें कुस्तुन्तुनिया और उसके आस पासके जल डमरूमध्य उसके लिए बच रहते थे। और

(४) ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रान्सकी मुसलमान प्रजाको खलीफाके सम्बन्धमें कोई विशेष आन्दोलन करनेके लिए मौका न मिल सकता था।

ये चारों बातें अँगरेजों और फ्रान्सीसियोंको पसन्द थीं; क्योंकि

फ्रान्सको तो ईसाइयोंका संरक्षण मिल जाता था और अँगरेजोंको विस्तृत व्यापार क्षेत्र हाथ लगता था। तुर्क लोग यह समझते थे कि चलो, कुछ दे लेकर जान छुड़ाओ। यह सब कुछ तो था, मगर इसमें इटली बिलकुल कोरा रह जाता था; और यूनानियों तथा आरमीनियनोंका भी कोई निपटारा नहीं होता था। इटलीने पहलेसे ही १९१५ के समझौतेके अनुसार कुछ अधिकार प्राप्त कर रखे थे। जब तक भारतके मुसलमानोंने आन्दोलन आरम्भ नहीं किया था, तब तक मित्र राष्ट्र बराबर यूनानको भी आशा दिलाये चलते थे। युनानियोंकी वकालत करनेके लिए वहाँ यूनानके प्रधान मन्त्री वेनेजोलास मौजूद ही थे। मगर आरमीनियनोंका पक्ष लेनेवाला वहाँ कोई नहीं था। केवल अमेरिकनों और कुछ थोड़े से युरोपियनोंको ही उनके साथ सहानुभूति थी। लेकिन फिर भी उनकी ओरसे लड़नेवाला कोई नहीं था। पैलेस्टाइनका विरोध करनेवाले प्रबल यहूदी वहाँ जरूर मौजूद थे। सीरियाको फ्रान्सने हर तरहसे अपने संरक्षणमें ले ही लिया था; और अरबोंकी माँग-को पूरा करनेके लिए अँगरेज लोग उस सीमा तक तैयार थे, जहाँ तक स्वयं उनके स्वार्थमें बाधा न पहुँचे।

केवल कुर्दों और थोड़े से अरबोंको छोड़कर तुर्क साम्राज्यकी बाकी सारी प्रजा यथेष्ट सुशिक्षित और समझदार है। उसमेंकी सभी जातियाँ कुछ दिनोंमें स्वराज्यके योग्य हो सकती हैं। वे यह भी समझती हैं कि इस समय हमारे कल्याणके लिए यह बहुत आवश्यक है कि हमें औरोंसे आर्थिक तथा सैनिक सहायता मिले। पर फिर भी इस निर्णयसे उनका पूरा पूरा सन्तोष कभी नहीं हो सकता; और आगे चलकर ज्यों ही उनको अवसर मिलेगा, त्यों ही वे इन शक्तियोंका विरोध करनेके लिए खड़ी हो जायँगी। यदि राज-नीतिक और व्यापारिक दृष्टिसे उनको गुलाम न बनाया जायगा,

तो वे और प्रकारकी अधीनता सहर्ष स्वीकृत कर लेंगी। पर सबसे बड़ी कठिनता यह है कि इन युरोपियन शक्तियों पर उनका तनिक भी विश्वास नहीं है। वे समझती हैं कि ये शक्तियाँ हमें राजनीतिक तथा व्यापारिक दृष्टिसे बिना अपना गुलाम बनाये न छोड़ेंगी। सब जातियाँ यही चाहती हैं कि हम तुर्कोंके बोझसे तो अलग हो जायँ, पर साथ ही किसी औरके बन्धनमें न पड़ जायँ। हमारे संरक्षक हमारी सहायता मात्र करें और अपना राजनीतिक उद्देश्य सिद्ध करनेके लिए हमारी कोई हानि न करें। सब शक्तियाँ मिलकर इस बातका जिम्मा ले लें कि हम शीघ्र स्वतंत्र कर दिये जायँगे और हमारे साथ स्वतंत्र राष्ट्रोंका सा व्यवहार किया जाय। इस सम्बन्धमें हजाजका एक उदाहरण भी स्थापित हो चुका है। वे सब जातियाँ यही चाहती हैं कि जो कुछ अभी हजाजको मिला है, वही हमें भी मिल जाय और आगेके लिए उसको जो वचन दिया गया है, वही वचन हमें भी मिल जाय। पर केवल उनके चाहनेसे क्या होता है? साम्राज्य-लोलुप युरोपियन राष्ट्र मानें तब न!

३० दिसम्बर १९१८ को वेनेजोलासने दस राष्ट्रोंकी काउन्सिलके सामने यूनानकी ओरसे कहा था कि संसारमें जितने यूनानी हैं, उनमेंसे आधे यूनानमें और आधे तुर्क साम्राज्यके भिन्न भिन्न भागोंमें रहते हैं। अतः कुस्तुन्तुनिया, साइप्रस, एशिया माइनर, स्मरना आदि प्रान्त यूनानको दे दिये जायँ। उनकी कुछ बातें युक्तिसंगत भी थीं और कुछ युक्तिरहित भी। आरमीनियन लोग चाहते थे कि साइलीशिया आदि प्रान्तोंका एक स्वतंत्र प्रदेश बनाकर हमें दे दिया जाय। पर जिस प्रकार यूनानका विरोधी इटली था, उसी प्रकार आरमीनियनोंका विरोधी फ्रान्स था। २५ फरवरी १९१९ को यूनानियों और आरमीनियनोंने आपसमें समझौता कर लिया

और निश्चय हो गया कि आपसमें अमुक अमुक देश बाँट लिये जायँगे और दोनोंमें किसी प्रकारकी लाग-डाँट न रहेगी। पर जब यह समझौता शान्ति महासभामें उपस्थित हुआ, तब एक नई कठिनता निकल आई। जिन प्रदेशोंको इन दोनों राष्ट्रोंने आपसमें बाँट लिया था, उन्हींमेंके कुछ प्रदेश देनेका वादा करके फ्रान्स और ग्रेट ब्रिटेनने इटलीको युद्धमें अपनी ओर मिलाया था। इसलिए यूनानियोंको सफलता न हो सकी। उनका समझौता कुछ ऐसा बुरा नहीं था। पर वे निर्बल थे, इसलिए उनकी कुछ चलती नहीं थी। पर इसमें सन्देह नहीं कि यदि ये दोनों जातियाँ मिली रहेंगी, तो आगे चलकर शान्ति महासभाके इस निर्णयको तोड़ सकेंगी। जिन प्रदेशोंका इन दोनों जातियोंने आपसमें बटँवारा किया था, यद्यपि उनमें अधिक संख्या इन्हीं जातियोंकी नहीं थी, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि वहाँ जिन मुसलमानोंकी संख्या अधिक है, वे सब तुर्क भी नहीं हैं। ये दोनों जातियाँ औरोंकी अपेक्षा अधिक शिक्षित भी हैं, इसलिए सम्भव है कि आगे चलकर वे प्रदेश इनके हाथ आ जायँ। इसमें उन देशोंका लाभ ही होगा, हानि नहीं।

एशिया माइनरमें जो ईसाई रहते हैं, वे जब तक तुर्कोंकी अधीनतासे न निकल आवेंगे, तब तक वहाँ शान्ति नहीं हो सकती। जो लोग यह चाहते हैं कि उन पर तुर्कोंका अधिकार बना रहे, वे उनके हितैषी नहीं हैं। यूनानी और आरमीनियन उन प्रदेशों पर अपना अधिकार चाहते हैं। पर कुछ लोग उनका इस कारणसे विरोध करते हैं कि इससे जातीय और धार्मिक झगड़े बराबर बने रहेंगे और इन नये राज्योंकी दुर्बलताके कारण फिर भी पहलेकी तरह शान्तिभंगकी आशंका बनी रहेगी। पर यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि यदि यूनानी और आरमीनियन मिलकर उद्योग करते रहेंगे, तो वे अवश्य सफल होंगे। यदि पूर्वमें सबल आरमीनियनोंका

राज्य रहेगा, तो ईजियन तटके नगरों पर तुर्कोंके आक्रमणका डर न रह जायगा। आरमीनियनोंका भला भी इसी बातमें है कि पश्चिमी एशिया माइनरमें यूनान मौजूद रहे। आजसे प्रायः सौ वर्ष पहले केवल तीन लाख आदमियोंने स्वतंत्र यूनानकी स्थापना की थी, जिनमेंसे दो तिहाई यूनानी और एक तिहाई एल्बेनियन थे। उस समय या उसके बाद भी यूरोपकी बड़ी बड़ी शक्तियोंको यह विश्वास नहीं था कि यूनान अपना अस्तित्व बनाये रह सकेगा। वे यह भी समझती थीं कि अब आगे बालकनमें हमारी इच्छाके विरुद्ध जो नया राज्य खड़ा होगा, वह बिना हमारी रक्षा और सहायताके कायम न रह सकेगा। बालकन राज्योंमें अब तक जितने उपद्रव खड़े हुए हैं, वे सब इन बड़ी बड़ी शक्तियोंके षड्यंत्रके कारण ही हुए हैं। आगे चलकर यदि इन महान् शक्तियोंने फिर कोई उपद्रव खड़ा न किया, तो यूनान और आरमीनिया बहुत कुछ सबल तथा स्वतंत्र राष्ट्र हो जायँगे। इस समय उनके मार्गमें बहुत अधिक कठिनाइयाँ दिखाई देती हैं; पर ये कठिनाइयाँ उन कठिनाइयोंके सामने कुछ भी नहीं हैं जो अब तक यूनान, सर्बिया, रूमानिया और बल्गेरिया आदिको भोगनी पड़ी हैं।

यदि पश्चिमी एशियामें यूनानका यथेष्ट विस्तार होगा, तो तुर्की की सीमा और कुस्तुन्तुनिया आदिके सम्बन्धके अनेक झगड़ोंका अन्त हो जायगा और इटलीको अनुचित रूपसे अपने पैर पसारनेका मौका न मिलेगा। पर आरमीनियाके मार्गमें कुछ विशेष कठिनाइयाँ हैं। सीमाके सम्बन्धमें केवल तुर्कोंसे ही उसका झगड़ा नहीं है, बल्कि काकेशसके रूसियों, फारसवालों, कुर्दों, अरबों और सीरियनोंके साथ भी उसका झगड़ा है। काकेशसके ईसाई जार्जियन और मुसलमान तातार काकेशसके आरमीनियन प्रजातंत्र राज्यसे किसी प्रकारका समझौता करते हुए नहीं दिखाई

देते। काकेशस और कुर्दिस्तानमें सीमाके सम्बन्धमें फारसवालोंके साथ भी आरमीनियनोंका झगड़ा है। इसमें एक और कठिनता यह आ पड़ती है कि अँगरेज लोग आरमीनिया और फारसका कुछ कुछ अंश लेकर आजरबायजानका एक स्वतंत्र राज्य बनाना चाहते हैं। मेसोपोटामियाकी सीमा पर आरमीनियाके कुछ ऐसे जिले भी हैं, जिन्हें फ्रान्स अपने अधिकारमें लेना चाहता है और ग्रेट ब्रिटेन अपने अधिकारमें। फ्रान्स यह भी नहीं चाहता कि साइलीशिया पर आरमीनियाका अधिकार हो। इसके लिए उसने सीरियनोंको उभारकर कुछ उपद्रव खड़ा करना चाहा था। इस प्रकार आरमीनियाका विरोध तो चारों ओरसे होता था, पर शान्ति महासभामें उसका पक्ष लेकर लड़नेवाला कोई नहीं था। उसको केवल अमेरिकाका भरोसा था।

उधर तो पेरिसमें सब शक्तियाँ आपसमें इस प्रकार लड़-झगड़ रही थीं और इधर तुर्क और तातार मिलकर आरमीनियनोंका कत्ले-आम कर रहे थे; और उनमेंसे जो लोग भागकर काकेशस चले गये थे, वे वहाँ भूखों मर रहे थे।

एशिया माइनर और आरमीनियाके बाद तुर्कोंका वह प्रान्त पड़ता है, जिसमें अरबी-भाषी लोग रहते हैं। युद्ध-कालमें हजाजके अरबोंने मक्केके शरीफकी अधीनतामें तुर्कोंके विरुद्ध विद्रोह किया और वे जाकर मित्र राष्ट्रोंसे मिल गये। युद्धकी समाप्तिसे पहले ही अँगरेजोंने इन प्रदेशोंको तुर्कोंसे जीत लिया। १९१६ में फ्रान्स और ग्रेट ब्रिटेनने एक समझौता करके आपसमें निश्चय कर लिया कि अरब आदिमें अमुक अमुक स्थान हम लोग इस प्रकार बाँट लेंगे। इसके प्रायः एक वर्ष बाद अँगरेजोंने यहूदियोंको भड़काया और कहा कि तुम लोग हमारे संरक्षणमें पैलेस्टाइनमें अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित करनेका उद्योग करो। इसमें फ्रान्स बाधक

नहीं हुआ। अँगरेजोंने मेसोपोटामियाके अरबोंको भी बहुत सब्ज बाग दिखाये थे और उनसे बड़े बड़े वादे किये थे। अदनकी रक्षा करनेके लिए यमनवालोंसे भी इसी प्रकारके वादे किये गये थे, पर वे वादे पूरे नहीं किये गये। इस अवसर पर यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि मेसोपोटामिया आदिके निवासी कभी पूर्ण रूपसे तुर्कों के अधीन नहीं थे। न तो वे तुर्कोंको कर देते थे और न सैनिक। अरबमें भी तुर्कोंका वहाँके केवल बन्दरों और पवित्र स्थानों पर ही अधिकार था।

मेसोपोटामिया, अरब, सीरिया और पैलेस्टाइन आदिके सम्बन्धमें यह निश्चित है कि तुर्क साम्राज्यके साथ उनका केवल नाम मात्रका सम्बन्ध था; और वे देश वास्तवमें बहुत कुछ स्वतंत्र थे। यह बात भी निर्विवाद है कि तुर्कोंके कुप्रबन्धसे वहाँवालोंको युद्धसे पहले भी और युद्ध कालमें भी, अनेक कष्ट सहने पड़े थे। पर मित्र राष्ट्र भी किसी प्रकार उनके मुक्तिदाता नहीं कहे जा सकते। पेरिसकी कान्फ्रेन्सने तो उनको और भी परतंत्र बना दिया है। उनकी बची खुची स्वतंत्रता भी इन युरोपियन शक्तियोंके कारण नष्ट हो रही है। पैलेस्टाइनवालों पर जबरदस्ती उनके शत्रु यहूदियोंका शासन लादा जाता है, लेबाननवालोंकी सैकड़ों बरसोंकी स्वतंत्रताका हरण होता है, सीरियावाले अपनेसे कम शिक्षित हजाजवालोंकी अधीनता स्वीकृत करनेके लिए विवश किये जाते हैं और फ्रान्स व्यापारकी ओटमें वहाँका धन लूटना चाहता है। यमन और मेसोपोटामियाके जिन अरबोंने आज तक कभी युरोपियन शासनकी बेड़ियाँ नहीं पहनी थीं, उनको वह बेड़ियाँ जबरदस्ती पहनाई जाती हैं और उनकी इच्छाके विरुद्ध उन पर ऐसे लोगोंका शासन लादा जाता है जो सभ्यता और आचार-विचार आदि सभी बातोंमें उनके विरुद्ध हैं।

अभी हालमें एक बार हजाजके बादशाहने यह बतलाया था कि अरबवालोंके आन्तरिक भाव क्या हैं। उसने कहा था कि हम लोग तो अँगरेजों या दूसरे यूरोपियनोंके संरक्षणमें जानेकी अपेक्षा नजदके अमीरकी अधीनतामें जाना अधिक पसन्द करते हैं! यमनके अरबोंने भी मित्र राष्ट्रोंसे कह दिया था कि हमने सैकड़ों बरसोंसे तुर्कोंके शासनका सफलतापूर्वक विरोध किया है। आप हम लोगोंसे यह आशा न रखियेगा कि हम लोग चुपचाप काफि-रोंका शासन ग्रहण कर लेंगे। असल बात यह है कि अरबोंको मित्रकी आवश्यकता है। वे किसीको अपना स्वामी नहीं बनाना चाहते। मेसोपोटामियामें अँगरेज लोग भी तुर्कोंकी तरह पूरा राज्य नहीं स्थापित कर सकते। हाँ, फारसकी खाड़ीसे जहाँ तक उनके जहाजोंकी मार पहुँच सकती है, वहाँ तक वे अपना अधिकार भले ही जमा लें। फ्रान्स भी बेरूत और ट्रिपोलीके बन्दरोंमें अपने उप-निवेश स्थापित कर सकता है। पर यदि अँगरेज लोग मेसोपोटा-मियाको भारत बनाना चाहेंगे अथवा फ्रान्सीसी लोग सीरियाको एलजीरिया बनाना चाहेंगे, तो उन्हें मालूम पड़ जायगा कि इस बार लोहेके चनोंसे काम पड़ा है। वहाँवाले इन युरोपियनोंकी अधीनता सहजमें कभी स्वीकृत न करेंगे।

(१३)

फारसके बँटवारेका उद्योग

पेरिसकी शान्ति महासभाके आरम्भिक दिनोंमें एक बार राष्ट्रोंके प्रतिनिधि आपसमें बैठे हुए बातें कर रहे थे। उस समय एक फ्रान्सीसीने आरमीनियनोंकी स्वतंत्रता-का पक्ष लेकर उनकी कुछ प्रशंसा की थी। इस पर फारसके मन्त्री-को बुरा मालूम हुआ और उन लोगोंमें बहस होने लगी। फारसके मन्त्रीने समझा दिया कि हम लोग भी शिक्षित और सभ्य हैं। फ्रान्सीसीने यह बात तो मान ली, पर कहा कि आपकी स्वतंत्रतामें रूस और ग्रेट ब्रिटेन बाधक हैं। इस पर फारसके मन्त्रीने कहा कि इसमें फ्रान्सका भी दोष है। वह अपने साथियोंके लाभके लिए चुपचाप हमारा सर्वनाश देखता रहा। फ्रान्सने जिस प्रकार पोलैण्डको रूसके सपुर्द कर दिया था, उसी प्रकार हमें भी उसके हाथमें छोड़ दिया था। अब फ्रान्स हमारे देशसे तभी लाभ उठा सकता है, जब वह हमें पूर्ण स्वतंत्र होनेमें सहायता दे। साथ ही अब हम लोग इंगलैण्डका भी आदर और विश्वास उसी समय करेंगे, जब वह हमारे सम्बन्धमें अपनी पुरानी नीति बिलकुल बदल डालेगा।

इधर बीसियों बरसोंसे युरोपियन शक्तियाँ एशिया पर अपना अपना प्रभुत्व जमानेके लिए फारसमें झगड़ रही हैं और उसका सर्वनाश कर रही हैं। उसकी स्वतंत्रता और सभ्यताका नाश ऐसे कामोंके लिए किया जा रहा है, जिनसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जब ग्रेट ब्रिटेन और रूसका झगड़ा बहुत बढ़ गया और लड़ाईकी नौबत आई, तब उन दोनोंने एशियामें समझौता करना

निश्चित किया; और इस समझौतेकी बला फारसके सिर पड़ी। यदि मोहन और सोहनमें आपसमें कुछ झगड़ा हो, तो वे लल्लूका घर लूटकर आपसमें निपटारा कर लें! एशियावालोंके साथ युरोपियन शक्तियोंने निर्दयता, अनीति और स्वेच्छापूर्ण जो जो अत्याचार किये हैं, उनके सम्बन्धमें किसी विशेष टीका-टिप्पणीकी आवश्यकता नहीं है। १९०० से अब तक फारसमें जो जो घटनाएँ हुई हैं, वही हमारे इस कथनको सत्य प्रमाणित करनेके लिए यथेष्ट हैं।

१९०० में एशियामें जितनी रेलें थीं, १९१९ में उनसे चौगुनी हो गईं। पर इनमेंसे एक मील रेल भी फारसमें नहीं बनने पाई। एशियाके और अनेक देशोंकी सम्पत्ति तो अवश्य बढ़ी है, पर इस वृद्धिमें फारस सम्मिलित नहीं हो सका। उलटे वह और दरिद्र हो गया। सारे संसारमें अनेक प्रकारकी उन्नतियाँ हो रही हैं और सब जगह प्रजाको नये नये अधिकार मिल रहे हैं; पर बेचारे फारसवाले बलपूर्वक इससे वंचित रखे जाते हैं। फारसवालोंने जब कभी किसी प्रकारकी उन्नति या सुधारके लिए कोई उद्योग किया, तब रूस और ग्रेट ब्रिटेन बराबर उसमें बाधक होते रहे और दूसरी शक्तियाँ चुपचाप तमाशा देखती रहीं। किसीको यह अत्याचार रोकनेका विचार तक न हुआ। फारसमें जो जो अनुचित बातें हुई हैं, उनको देखकर मनमें प्रश्न उठता है कि ऐसे राष्ट्रोंके रहते क्या कभी कोई राष्ट्रसंघ सफल हो सकता है; और कभी सार्वराष्ट्रीय अधिकारोंकी रक्षाका कोई उपाय निकल सकता है। जिनके रोममें रोम स्वार्थ घुसा हो, वे क्या परोपकार करेंगे?

जबसे रूसने एशियामें अपना विस्तार आरम्भ किया, तबसे वह यही समझता था कि फारस पर अधिकार करनेके वास्तविक अधिकारी हम ही हैं। कैस्पियन सागरके दोनों ओर वह फारसको दबाता हुआ आगे बढ़ता था। ट्रान्स काकेशियाके प्रान्त, जिनमें

संसारकी सबसे अच्छी तेलकी खानें हैं, रूसने युद्धमें फारससे ले लिये थे। ट्रान्स-कैस्पियन प्रान्तका भी बहुत बड़ा अंश उसने फारससे छीन लिया था। रूसके सुख-स्वप्नोंकी पूर्तिमें फारस ही बाधक होता था, इसलिए वह किसी न किसी प्रकार उस पर अधिकार करना चाहता था।

इधर ग्रेट ब्रिटेन यह समझता था कि भारतके मार्गमें फारस पड़ता है, इसलिए वह हमारे प्रभावमें रहना चाहिए। १८५४ और १८७७ में ग्रेट ब्रिटेनने ही रूसको तुर्कीके मार्गसे होकर भूमध्य सागर तक पहुँचनेसे रोका था। जब रूसको डार्डिनिलीस तक पहुँचनेके लिए कोई मार्ग न मिला, तब उसने प्रशान्त महासागर और फारसकी खाड़ीकी ओर रुख किया। पूर्वी एशियामें जापानकी पीठ ठोंकनेके लिए ग्रेट ब्रिटेन खड़ा था और उसीने मकदन तथा आर्थर बन्दरका मार्ग खोला था। फारसकी खाड़ी अँगरेजोंकी हो हो चुकी थी। अफगानिस्तान भी एक प्रकारसे उन्हींके हाथमें था। जब रूसने मध्य एशियामें बढ़कर रेलें बनाना आरम्भ किया, तब अँगरेजोंने समझ लिया कि भारतके सम्बन्धमें रूसका भय निर्मूल नहीं है। उन्होंने सोचा कि अब फारसकी ओरसे रूसका मुकाबला करना चाहिए। इसलिए बीसवीं शताब्दीमें भी फिर वही बड़ी बड़ी और पुरानी राजनीतिक चालें चली जाने लगीं और षडयंत्र रचे जाने लगे। अँगरेजों और रूसियोंके लिए फारस एक अखाड़ा बन गया और ये लोग सारे एशिया पर अपना प्रभुत्व जमानेके उद्देश्यसे वहाँ परस्पर बल-परीक्षा करने लगे। इस परीक्षामें उन लोगोंने इस बातका कुछ भी खयाल नहीं किया कि इसमें फारसके अधिकार कहाँ तक कुचले जाते हैं और उसके हितोंकी कितनी हत्या होती है। जो स्वयं ही दुर्बल हो, उसके अधिकारोंकी रक्षाका प्रयत्न,

युरोपियन राजनीतिके अनुसार, केवल मूर्खता ही नहीं, बल्कि एक प्रकारकी आत्महत्या भी है।

१९०० में रूसने अपनी नई रेलका उपयोग करके दिखला दिया। उसने फारसके खुरासान प्रान्त और अफगानिस्तानके हिरात प्रान्तके मध्यमें पड़नेवाली कुश्त नदीकी तराईमें अपने बहुत से आदमी और रेलें बनानेके सामान भेज दिये। इस प्रकार उसने मानों फारसवालों और अँगरेजों दोनोंको धमकाया और फारसको इस बातके लिए विवश किया कि वह रूससे बहुत बड़ी रकम कर्ज ले और उसके सूदके लिए अपने यहाँके समुद्र-करकी आयकी जमानत दे। साथ ही यह भी शर्त थी कि यदि सूद मिलनेमें विलम्ब होगा, तो कर्ज देनेवाले बंकको इस बातका अधिकार होगा कि वह सुमुद्र-करके विभाग पर अपना अधिकार कर ले। फारस सरकारको यह भी मंजूर करना पड़ा कि बिना इस बंककी स्वीकृतिके पचहत्तर वर्ष तक हम किसी विदेशीसे कोई ऋण न लेंगे। इस जमानतमें फारसकी खाड़ीके बन्दर छोड़ दिये गये थे, क्योंकि उन पर अँगरेजोंका अधिकार था। १८९२ में फारसने अँगरेजोंसे जो ऋण लिया था, उसे चुकानेके लिए ही यह ऋण फारसको दिया गया था; और उसके बदलेमें रूसको रेलें बनानेके लिए कुछ अधिकार मिले थे। यह निश्चय हुआ था कि हमदन, तब्रेज और तेहरान तक रूस अपनी रेल बना ले। यह रेल १९०३ तक बिलकुल तैयार हो जानेको थी; इसलिए भारत-सरकार बहुत भयभीत हुई थी।

१९०१ में अँगरेजोंने तुर्कीसे कोवीट छीन लेना चाहा था। उस समय रूस उसमें बाधक हुआ था। उसने साहस करके कह दिया था कि फारसकी खाड़ीके कुल अधिकार केवल अँगरेजोंको ही नहीं मिल सकते। यदि अँगरेज लोग कोवीट लें, तो उसके बदलेमें हमें बन्दर अब्बास मिलना चाहिए जो कि फारसकी खाड़ी और

ओमनकी खाड़ीके बीचमें है। इस सम्बन्धमें दृढ़ता दिखलानेके लिए उसने फरवरी १९०१ में अपने ओडेसा बन्दरसे फारसकी खाड़ीके बन्दरों तक अपने स्टीमरोंकी एक लाइन कायम कर दी। इस बीचमें फारसके साथ रूसका व्यापार भी बहुत बढ़ता जाता था और पाँच ही वर्षमें वह प्रायः पँचगुना हो गया था। यह सब देखकर अँगरेजोंने रूसके ऋण और रेलोंके विरुद्ध फारसकी प्रजाको भड़काना और उसमें असन्तोष फैलाना आरम्भ कर दिया। जब १९०२ में रूसने फारसको और भी अधिक ऋण दिया और उसके बदलेमें यह अधिकार प्राप्त कर लिया कि रूसके इम्पीरि-यल बंककी शाखाएँ फारसके नगरोंमें भी खुल जायँ, तब फिर अँगरेजोंने वहाँकी प्रजासे इसके विरुद्ध आन्दोलन कराया।

जब अँगरेजोंने यह सुना कि रूसने फारसकी खाड़ीमें अपने लड़ाईके जहाज भेजे हैं और वह बन्दर अब्बास तथा उसके आस पासके टापुओंमें जमीन खरीदना चाहता है, तब वे लोग बहुत बिगड़े। भारतके तत्कालीन बड़े लाट लार्ड कर्जनको आज्ञा मिली कि तुम भी फारस जाकर अपने नव-सैनिक बलका प्रदर्शन करा आओ। इसमें अँगरेजोंको कुछ लज्जित भी होना पड़ा, क्योंकि जब लार्ड कर्जन बुशहरमें पहुँचकर इस आशासे अपने जहाज पर बैठे रहे कि फारसका गवर्नर हमसे भेंट करने आवेगा, तब वह गवर्नर उनसे भेंट करने नहीं आया था। उसने कह दिया कि लार्ड कर्जन हमसे पदमें कुछ बड़े नहीं हैं जो हम पहले उनसे मिलने जायँ। उनको गरज हो तो वे खुद हमसे मिलने आवें। उसने यह बात एक रूसी अधिकारीके कहनेसे ही कही थी। इस पर हाउस आफ लार्ड्समें लार्ड लैन्सडाउनने घोषणा की कि फारसकी खाड़ीमें हमें जो अधिकार प्राप्त हैं, वे किसी सन्धि अथवा सार्व-राष्ट्रीय कानूनके अनुसार नहीं प्राप्त हैं। इसलिए यदि कोई शक्ति

वहाँ अपना प्रभुत्व जमाना चाहेगी, तो हम उसका पूरा पूरा विरोध करेंगे। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार जिब्राल्टरसे शंघाई तकके और सब स्थानोंमें जिसकी लाठी उसकी भैंसवाले सिद्धान्तके अनुसार हमने अधिकार जमा रखा है, उसी प्रकार हम यहाँ भी करेंगे। ग्रेट ब्रिटेनको भारतकी रक्षा करनेका अधिकार प्राप्त था, इसलिए वह एशियाके जिस प्रदेशका चाहे, उस प्रदेशका व्यापार पूर्ण रूपसे अपने अधिकारमें कर सकता था। उन्नीसवीं शताब्दीमें उसने फारसके आस पासके अनेक छोटे मोटे सरदारोंके साथ सन्धि की थी और उनमेंसे कुछको स्वतंत्र तथा कुछको भारत सरकारके अधीन बनाया था। फारसकी खाड़ी पर वह किसी दूसरेका अधिकार नहीं होने देना चाहता था। इसी लिए उसने कोवीटमें जर्मनीका और बन्दर अब्बासमें रूसका विरोध किया था। जब फ्रान्सने फारसकी ओमनकी खाड़ीमें कोयला लादनेका एक स्टेशन हस्तगत करना चाहा, तब भी ग्रेट ब्रिटेन ही उसमें बाधक हुआ था। १९०४ में ओमनके सुलतानने जिसेह बन्दरका ठीका फ्रान्सको दे दिया। इस पर अँगरेजोंने कहा कि ओमन भारतका करद राज्य है और वह बिना भारत-सरकारकी स्वीकृतिके अपना कोई प्रदेश किसीको नहीं दे सकता। जब सुलतानने कहा कि हम बिलकुल स्वतंत्र हैं, तब अँगरेजोंने कहा कि यदि तुम फ्रान्सका ठीका तुरन्त मन्सूख न कर दोगे, तो हम मसकत पर गोलेबारी शुरू कर देंगे। इस पर फ्रान्सने कह दिया कि हम इस शर्त पर यह ठीका मन्सूख कर सकते हैं कि मसकतमें कोयला लादनेके लिए हमको भी वही सुभीता हो जाय जो अँगरेजोंको है। उस समय अँगरेज और फ्रान्सीसी मिल बरतना चाहते थे; इसलिए झगड़ा होते होते बच गया। नहीं तो लड़ाई रखी ही हुई थी। अँगरेजों और फ्रान्सीसियोंका यह समझौता सा हो गया था कि दूसरे देशोंके सम्बन्धके हम लोगोंके

झगड़े इसी प्रकार आपसमें ही तै हो जाया करें। दो बलवानोंको एक साथ अपने सिर पर देखकर एक दुर्बल अवश्य ही बहुत घबरा जाता है और दोनों बलवानोंको अपना काम निकालनेका और भी अच्छा अवसर मिलता है। अब यदि इसमें दुर्बलकी और भी खराबी हो, तो हुआ करे। इसकी चिन्ता बलवान् कहाँ तक करते फिरें?

जापानसे हार जाने पर भी रूसका प्रभुत्व फारसमें ज्योंका त्यों बना रहा; बल्कि उधर मंचूरियामें गति रुक जानेके कारण वह फारससे होकर समुद्र तक पहुँचनेका और भी अधिक उद्योग करने लगा। अँगरेजोंके बहुत कुछ धमकाने और विरोध करने पर भी बन्दर अब्बासमें उसने अपना एक राजदूत रख ही दिया। ग्रेट ब्रिटेन और रूसमेंसे कोई शक्ति दूसरी शक्तिको फारससे निकाल नहीं सकती थी। हाँ दोनों एक दूसरीको अधिक लाभ उठानेसे रोक अवश्य सकती थीं। दोनों ही शक्तियाँ फारसको किसी दूसरी शक्तिसे ऋण नहीं लेने देती थीं, इसलिए उसकी रेलें अधूरी रह गईं और देशमें अराजकता फैल गई।

१८९६ में जब शाह नासिरुद्दीनकी हत्या हुई थी, उस समय फारसका खजाना खूब भरा हुआ था। पर दस ही वर्ष बाद शाह मुजफ्फर-उद्दीनकी मृत्युके समय वह खजाना खाली हो गया और फारस पर बहुत कुछ ऋण भी हो गया। तुर्की और मिस्रकी तरह वहाँ भी युरोपियन महाजनोंने शाहको बहुत अधिक ऋण केवल इसी उद्देश्यसे दिया था कि देश हमारा गुलाम हो जाय। ये रुपये जान बूझकर उस शाहको दिये जाते थे जिसके व्यय पर सर्व साधारणका कोई अधिकार नहीं था। जिस तरह महाजन लोग किसी बड़े घरके लड़केको रुपये देकर बिगाड़ते हैं और पीछे उसकी सारी सम्पत्ति ले लेते हैं, ठीक उसी प्रकार ये युरोपियन

महाजन भी करते थे। फारसके समझदारोंने इसका बहुत विरोध किया था और महाजनोंको चेतावनी भी दी थी; पर अपने मतलबके आगे ऐसी चेतावनियोंको कौन सुनता है? अब यदि फारसवाले इस ऋणको चुकानेसे इनकार कर दें तो इसे कोई अन्याय कह सकता है? यह ठीक है कि एकतंत्री शासनमें शासक जो कुछ करता है, उसकी जिम्मेदार वहाँकी प्रजा होती है। पर पश्चिमी देशोंमें ऐसे कानून हैं जो राजाओं आदिको इस प्रकार ऋण देनेमें बाधक होते हैं। क्यों न उसी नीतिका व्यवहार एकतंत्री देशोंमें भी किया जाय? पर आजकलकी सभ्यताका मूल यही है कि अपने घरको खूब रक्षा करो और दूसरोंको खूब लूटो। उसीका यह परिणाम है।

१९०६ में अँगरेजोंका एक व्यापारिक मिशन फारस गया था। उसने सिफारिश की थी कि अँगरेज और रूसी आपसमें समझौता करके यह निश्चय कर लें कि दोनोंमेंसे किसका प्रभाव और प्रभुत्व कहाँ तक रहेगा। या दूसरे शब्दोंमें यह कि कौन कहाँ तकका प्रदेश लूटेगा। यह बात सभी लोग जानते थे कि रूस और ग्रेट ब्रिटेनकी प्रतिद्वन्द्विताके कारण ही फारसमें अराजकता फैली हुई है। जब रूसने अफ़गानिस्तान और फारसकी सीमाओं तक अपनी रेलें बना लीं और मंगोलिया तथा तिब्बतमें अपना प्रभाव जमा लिया, तब अँगरेजोंको बड़ी चिन्ता हुई। उधर बगदाद रेलवेके द्वारा जरमनी भी फारसकी ओर बढ़ना चाहता था; इसलिए वे और भी घबराये। उन्होंने सोचा कि चलो, हम और रूस आपसमें मिलकर फारसको बाँट लें और दोनों मिलकर जरमनीको घुसने न दें। फ्रान्सके साथ अँगरेजोंकी मित्रता हो चली थी और रूस पहलेसे ही फ्रान्सका मित्र था। फ्रान्सने रूसको यह भी राय दी थी कि तुम अँगरेजोंसे मित्रता कर लो; व्यर्थ लड़ना ठीक नहीं।

जापानसे परास्त होने और अपने देशमें क्रान्ति होनेके कारण रूस कुछ ज्यादा समझदार भी हो गया था; इसलिए ग्रेट ब्रिटेन और रूस भी आपसमें उसी प्रकार मिल गये, जिस प्रकार ग्रेट ब्रिटेन और फ्रान्स मिले थे। एकसे दो और दोसे तीन हो गये!

फारसका बँटवारा करनेके लिए अँगरेजों और रूसियोंमें जो समझौता हुआ था, वह २४ सितम्बर १९०७ को पेट्रोग्रेडके अन्यान्य शक्तियोंके राजदूतोंके पास भेजा गया था। उसके आरम्भ-में कहा गया था कि ग्रेट ब्रिटेन और रूस यह बात फिरसे कहते हैं कि हम लोग फारसकी स्वतंत्रता और सीमा ज्योंकी त्यों रखना चाहते हैं, उसमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं करना चाहते। और सभी देशोंको वहाँ व्यापार करनेके लिए समान सुभीता भी देना चाहते हैं। परन्तु अपने अपने राज्योंकी भौगोलिक परिस्थितिके कारण फारसके कुछ विशिष्ट भागोंमें ग्रेट ब्रिटेन और रूसके कुछ विशिष्ट स्वार्थ हैं। इस प्राक्कथनके बाद उसमें पाँच धाराएँ हैं, जिनमें-से पहलीके अनुसार रूसियोंका और दूसरीके अनुसार अँगरेजोंका अधिकार-क्षेत्र निश्चित किया गया है। तीसरी धारामें वह सीमा नियत की गई है जिसमें कोई हस्तक्षेप न कर सके। चौथी धारामें यह बात स्वीकृत की गई है कि इस समय फारसकी राजकीय आयकी जो मदें रेहन हैं, वे ठीक हैं; और पाँचवींके अनुसार यह तै किया गया है कि यदि अपनी अपनी मदोंकी वसूलीमें कोई गड़बड़ पैदा हो, तो क्या और कैसी व्यवस्था की जाय। उसी समय यह भी प्रकाशित किया गया था कि यद्यपि इस समझौतेमें फारस-की खाड़ीका कोई उल्लेख नहीं है, तथापि रूसको इस बातसे इन्कार नहीं है कि फारसकी खाड़ीमें अँगरेजोंके कुछ विशिष्ट स्वत्व हैं।

इस प्रकारके राजनीतिक मामलोंमें युरोपियन प्रजाका इतना

अधिक नैतिक पतन हो चुका है कि उक्त समझौतेके प्रकाशित होनेके समय वहाँ किसीने कोई विरोध नहीं किया। वे लोग समझते थे कि फारसवाले तो एशियाई ही हैं, उनका अधिकार ही क्या ? रूसी और अँगरेज फारसमें जो चाहें सो करें। इसमें न तो फारसवालोंसे कुछ पूछनेकी जरूरत है और न किसी दूसरेसे सलाह लेनेकी। जो बलवान् होगा, वही सबको ठीक कर लेगा। बेचारे फारसवाले कमजोर थे और इन सभ्य डाकुओंके साथ लोहा नहीं बजा सकते थे; इसलिए उन्हें "जबरदस्तका ठेंगा सिर पर" लेना पड़ा और इस निश्चयके राजनीतिक और आर्थिक नाशक परिणाम भोगने पड़े।

जब युद्धमें जापानसे रूस हार गया था, तब प्रायः सारे एशियाकी आँखें खुल गई थीं और सभी पराधीन देशोंमें अधिकार-प्राप्तिकी इच्छा प्रबल हो उठी थी। सभी लोग अपने सिरसे विदेशी शासनका बोझ उतार फेंकना चाहते थे। ये दोनों विचार साथ ही साथ चलते हैं। मिस्र, तुर्की, फारस, भारत और चीनमें प्रजातंत्र स्थापित करनेके लिए जो उद्योग हो रहे हैं, उनके विरोधी कहा करते हैं कि ये देश प्रजातंत्रके लिए उपयुक्त ही नहीं हैं; क्योंकि यहाँ सदासे एकतंत्री शासन चला आया है। पर अमेरिका तथा युरोपके जो निवासी एशिया और अफ्रिकावालों पर इस प्रकारके आक्षेप करते हैं, जान पड़ता है कि वे स्वयं अपने देशोंका इतिहास भूल गये हैं। और नहीं तो कौन ऐसा देश है जिसमें कुछ दिनों पहले पूर्ण एकतंत्री और स्वेच्छापूर्ण राज्य नहीं था ? सभी देशोंमें पहले अनियन्त्रित शासन था और सभी देशवालोंने धीरे धीरे लड़ झगड़कर और अनेक प्रकारके उद्योग करके वैध अथवा प्रजातंत्र शासन प्राप्त किया है।

मुहम्मद अली मिरजाके सिंहासन पर बैठते ही फारसके उदार

मतवादियोंको आशा होने लगी। भूतपूर्व शाहने यह निश्चित किया था कि एक राष्ट्रीय काउन्सिल बनाई जाय, जिसमें शिक्षित वयस्क प्रजाके चुने हुए प्रतिनिधि रहें। तदनुसार नये शाहने १९०६ में तेहरानमें नई राष्ट्रीय काउन्सिलका उद्घाटन किया। यह काउन्सिल या मजलिस शाहको केवल परामर्श देनेके लिए थी, शासन-कार्यसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। मुहम्मदअलीने तीन वर्ष तक शासन किया था। इस बीचमें उनके साथ मजलिसके कई झगड़े हुए। उस समय राष्ट्रीय दलवालों और राजपक्षवालोंमें खूब लड़ाइयाँ होती थीं। अन्तमें शाहने मजलिस तोड़ दी और उसके भवन पर गोले बरसाये; और साथ ही तेहरानमें फौजी कानून जारी कर दिया। उन्होंने यह भी आज्ञा दी कि मेरे चुने हुए चालीस सदस्योंकी एक परामर्श समिति स्थापित हो। पर राष्ट्रीय दलवाले यह बात नहीं मानते थे। १९०८ में कुस्तुन्तुनियामें फिर नये वैध शासनकी घोषणा हुई, जिसे बादमें अब्दुलहमीदने नष्ट करना चाहा। पर अपनी सफलताके कारण राष्ट्रीय दलवालोंका उत्साह और भी बढ़ गया। अब्दुलहमीदको सिंहासनसे उतारकर फारसवालोंने यह सिद्ध कर दिया कि जो राजनीतिक स्वतंत्रता हम लोग प्राप्त कर चुके हैं, उसे छोड़ नहीं सकते। मजलिसने शाहको सिंहासनसे उतारकर उनके छोटे लड़के शाह मिरजा अहमद मिरजाको सिंहासन पर बैठाया और नये बालक शाहने स्वयं ही १५ नवम्बर १९०९ को नई मजलिसका उद्घाटन किया।

अब वह अवसर आ गया था, जब सभ्य संसार फारसको वैध शासनमें सहायता देता। यदि फारसवाले अपने विदेशी शुभचिन्तकों और निःस्वार्थ मित्रोंके परामर्शके अनुसार चल सकते, तो उनका बहुत कल्याण होता। पर ग्रेट ब्रिटेन और रूस यह नहीं चाहते थे कि फारसमें सुव्यवस्था हो और वह अपने पैरों

पर आप खड़ा हो सके। यदि फारसको नये वैध शासनमें सफलता हो जाती, तो अँगरेजोंके लिए भारत और मिस्रमें एक नई आफत खड़ी हो जाती। साल भर पहले फारसमें जो गृहकलह हुई थी, उससे लाभ उठाकर रूसने आजरबायजान प्रान्तमें अपनी सेनाएँ भेज दी थीं। यदि फारसवाले अपनी पार्लमिंएट चला ले जाते, तो रूसको तब्रेजमें अपना पैर जमानेमें कठिनता होती। रूसियोंने १९०७ वाली सन्धि बड़ी होशियारीके साथ की थी। वे सोचते थे कि यदि फारसकी खाड़ी हमारे लिए बन्द हो गई है, तो क्यों न हम आरमीनिया और साइलीशियासे होकर भूमध्य सागर तक पहुँच जायँ? उनका यह उद्देश्य तभी सिद्ध हो सकता था जब वे उत्तर-पश्चिम फारस पर अपना पूरा पूरा अधिकार जमा लेते। पर ज्यों ही फारसमें नये युगका संचार हुआ, त्यों ही अँगरेजोंने उस पर अपना वार किया। फारसके उत्तर प्रान्त पर उन्होंने रूसके कब्जेको तो स्वीकृत कर लिया, पर साथही फारसको इस बातके लिए भी विवश किया कि वह दक्षिण फारसमें अपनी पुलिसका संघटन अँगरेजोंसे करावे और उसके अफसर भारतके सैनिक हों।

जब इस प्रकार इन दोनों शक्तियोंने अच्छी तरह अपने पैर जमा लिये, तब दोनोंने मिलकर फारस सरकारके पास एक सूचना भेजी। उस सूचनामें कहा गया था कि यदि तुम किसी दूसरी शक्तिसे ऋण लोगे और उसके बदलेमें उसके साथ कोई रिआयत करोगे, तो हम उस ऋणको नहीं मानेंगे। इसका अर्थ यही था कि फारस यह मंजूर कर ले कि हम अँगरेजों और रूसियोंके संरक्षणमें हैं। इसलिए फारस सरकारने यह बात माननेसे इन्कार कर दिया। इस पर रूसियों और अँगरेजोंने खुद ही सारे संसारको यह सूचना दे दी कि कोई फारसको ऋण न दे और न उसके प्रान्तोंमें किसी प्रकारकी रिआयत प्राप्त करनेका उद्योग करे।

ब्रिटिश सरकारने फारस सरकारसे शिकायत की कि तुमसे दक्षिण फारसके व्यापारिक मार्गोंकी ठीक व्यवस्था नहीं हो सकती। इस पर फारसने उत्तर दिया कि यदि हमें पाँच लाख पाउण्ड ऋण मिल जाय, तो हम सैनिक और पुलिस आदि रखकर इसकी उचित व्यवस्था कर दें। पर अँगरेजों और रूसियोंने यह ऋण देनेसे इन्कार कर दिया। साथ ही उन्होंने उसे फ्रान्स या जर्मनीसे ऋण लेनेसे भी रोक दिया और अपने अपने अधिकृत प्रदेशोंका राज-कर आप ही लेना आरम्भ कर दिया। उद्देश्य स्पष्ट था। ये लोग चाहते थे कि फारसमें सब जगह अव्यवस्था हो जाय और फारस सरकार शान्ति स्थापित करनेमें असमर्थ हो जाय। इसी बहाने रूसियोंने उत्तर फारसमें अपनी और सेनाएँ भेज दीं और अँगरेजोंने फारस सरकारको सूचना दे दी कि दक्षिण फारसमें अरा-जकता फैल गई है, इसलिए हमें हस्तक्षेप करनेकी आवश्यकता पड़ी है। अब हम स्वयं ही व्यापार-मार्गोंकी रक्षाके लिए बुशायरसे शीराज और इस्फाहान तक अपनी पुलिस तैनात करेंगे। इस सम्ब-न्धमें अपने आपको निर्दोष बतलानेके लिए कुछ अँगरेज लेखक कहा करते हैं कि कई अँगरेज अफसरों और व्यापारियोंको वहाँ-वालोंने लूट लिया था, उनको मारा-पीटा था और कुछको जानसे भी मार डाला था। पर यह बात बिलकुल झूठ है। जब तक अँग-रेजों और रूसियोंने फारसके कामोंमें हस्तक्षेप नहीं किया था, तब तक वहाँवालोंका विदेशियोंके साथ किसी प्रकारका वैमनस्य नहीं था। पर जब इन लोगोंने अनुचित हस्तक्षेप आरम्भ किया, तब इन पर आक्रमण होने लगे। इन लोगोंने षड्यंत्र रच रचकर पहले तो उन लोगोंको उद्दण्ड बनाया और तब इस उद्देश्यसे उनको तंग करना आरम्भ किया कि ये लोग कुछ उपद्रव करें और तब हमें अधिक हस्तक्षेप करनेका मौका मिले। हम अँगरेजोंसे पूछते

हैं कि यदि जर्मनी यह कहे कि हमने १९१४ में इसी लिए युद्ध आरम्भ किया था कि मई १९१५ में लन्दनके निवासियोंने जर्मनोंके साथ बहुत ही अनुचित व्यवहार किया था, तो आप क्या उत्तर देंगे? ठीक यही बात फारसमें भी थी। कार्य कभी कारणसे पहले नहीं होता।

इस प्रकार पहलेसे ही सब प्रबन्ध करके अँगरेजों और रूसियोंने १९०७ वाली शर्तोंको पूरा करनेका विचार किया। रूसियोंने तब्रेज पर अधिकार कर लिया और आजरबायजानमें अपना सैनिक गवर्नर नियुक्त कर दिया। जब फारसने इस अन्यायके सम्बन्धमें चिल्लाहट मचाई, तब रूसियोंने राजच्युत शाहको, जो उन दिनों ओडेसामें निर्वासनका दण्ड भोग रहे थे, फिरसे सिंहासन प्राप्त करनेके लिए उसकाया। उनसे कहा गया कि आप अपने कुछ साथियोंको लेकर रूसी सीमा पार करते हुए कैस्पियन सागरके फारसवाले तट पर पहुँचिये और तेहरान पर आक्रमण करनेका प्रबन्ध कीजिये। रूसी चाहते थे कि इस बहाने फिर एक बार फारसमें गृहकलह उपस्थित हो और हमें अपने पैर पसारनेका और भी अवसर मिले। जिन राष्ट्रीय नेताओं, सैनिकों तथा अन्यान्य लोगोंने अपने नये शासनको अपने विरोधी रूसियों और शाहके साथियोंके हाथसे नष्ट होनेसे बचानेका उद्योग किया, उन्हें विद्रोही बतलाकर रूसी कज्जाकोंने गोलियोंसे उड़ा दिया अथवा फाँसी पर चढ़ा दिया। इधर अँगरेजोंने फारसकी खाड़ीके बन्दरों पर अपनी सेनाएँ उतार दीं और देशके भीतरी भागोंमें भारतीय सेनाएँ रख दीं।

इस बीचमें फारस अपने देशका शासन सुव्यवस्थित करनेके प्रयत्नमें लगा हुआ था। फ्रान्स और स्वीडनसे अफसर बुलाकर वह अपने भिन्न भिन्न विभागोंका संघटन कर रहा था। युरोपियनोंकी राजनीतिक चालोंसे बचनेके लिए उसने आर्थिक प्रबन्धके लिए

अमेरिकासे सहायता माँगी थी। अमेरिकाने भी मि० शुस्टरकी अधीनतामें अपने यहाँसे कुछ आदमी फारसकी आर्थिक व्यवस्था ठीक करनेके लिए वहाँ भेज दिये। मि० शुस्टर यह समझते थे कि मैं एक स्वतंत्र देशका नौकर होकर उसका हित करनेके लिए आया हूँ। इसलिए उन्होंने अँगरेजों और रूसियोंके समझौतेको माननेसे इनकार कर दिया; और कर आदि वसूल करनेके लिए अपने नये आदमी मुकर्रर किये जिनका नाम "राजकोषके सैनिक" रखा। इन सैनिकोंका अधिकार मि० स्टोक्स आदि कुछ ऐसे अँगरेजोंको दिया गया जिन्हें रूसी अपना परम विरोधी और शत्रु समझते थे। अर्थात् जिनके विषयमें यह माना जाता था कि वे फारसके अधिकारोंको समझते हैं और उसको दूसरे देशोंकी अधीनतामें नहीं जाने देना चाहते। अँगरेज राजदूतके बहुत कुछ विरोध करने पर भी मि० शुस्टरने उन्हीं अँगरेज अफसरोंकी अधीनतामें अपने कुछ सैनिक उत्तर फारसमें कर वसूल करनेके लिए भेजे। उस प्रदेश पर रूसियोंका अधिकार था। अथवा यों कहिये कि उस प्रदेश पर रूसियोंका प्रभुत्व या प्रभाव था। इधर तेहरानमें मजलिसने यह निश्चय किया था कि मुहम्मदअलीके एक भाईकी सारी जायदाद जब्त कर ली जाय; क्योंकि उसने भूतपूर्व शाहको सिंहासन पर अधिकार करनेमें सहायता दी थी। यह सुनते ही रूसियोंने उस जायदाद पर यह कहकर अधिकार कर लिया कि यह रूसी प्रजाके पास रेहन है। मि० शुस्टरने कहा कि यदि रूसियोंको कोई दावा हो, तो उन्हें अदालतमें जाना चाहिए। लेकिन जब रूसियोंने वह सम्पत्ति देनेसे इनकार किया, तब मि० शुस्टरने अपने सैनिकोंको आज्ञा दी कि मजलिसके निश्चयके अनुसार उस जायदाद पर कब्जा कर लो। इस पर रूस और ग्रेट ब्रिटेनने फारसके परराष्ट्र सचिवसे माफी माँगनेके लिए कहा था।

मि० शुस्टरने और भी कई बातोंमें अँगरेजों और रूसियोंका मुकाबला किया था। वे सब प्रकारसे ऐसा उद्योग करते थे जिसमें रूस और ग्रेट ब्रिटेनके बोझसे फारस छुटकारा पा जाय। इस पर रूसने फारससे कहा कि या तो तुम मि० शुस्टरको नौकरीसे अलग कर दो और इस बातका वादा करो कि आगे बिना हम लोगोंसे पूछे किसी विदेशीको परराष्ट्र सचिवका पद न दोगे और उत्तर रूसमें फारसमें रूसी सेनाके रखने का व्यय दो, और नहीं तो हमसे युद्ध करनेके लिए तैयार हो जाओ। यद्यपि लन्दनके हाउस आफ कामन्समें अनेक उदार मतवादियोंने इस बातका विरोध किया था, तथापि सर एडवर्ड ग्रेने यह घोषणा कर ही दी कि ग्रेट ब्रिटेनके हितोंको देखते हुए यह आवश्यक है कि रूसकी पहली दोनों माँगोंका समर्थन किया जाय। पर जब एक सदस्यने पूछा—"और यदि फारसके हितका ध्यान रखा जाय तो ?" तब सर एडवर्ड चुप रह गये। मजलिसने रूसकी बातें माननेसे इनकार कर दिया। इस पर रूसने धमकी दी कि हम तेहरान पर अधिकार कर लेंगे। लक्षणोंसे यह भी जान पड़ता था कि ये लोग मिलकर फारसकी स्वतंत्रताका भी हरण कर लेंगे। अन्तमें दोनों महा-शक्तियोंके दबावमें पड़कर रिजेण्टने मजलिस तोड़ दी और मि० शुस्टरको नौकरीसे अलग कर दिया। यह बात २४ दिसम्बर १९११ की है।

इस घटना पर बड़ा शोर मचा। फारसके जो मित्र उसे दूसरों-के अनुचित व्यवहारसे बचाना और उसकी स्वतंत्रताकी रक्षा करना चाहते थे, वे अमेरिकाके इस प्रशंसनीय प्रयत्नको विफल होते देखकर बहुत निराश हुए। कुछ लोगोंने शुस्टरको बदनाम किया और कहा कि उन्हें व्यर्थ इन बलवानोंका विरोध नहीं करना चाहिए था। मि० शुस्टरने The Strangling of Persia नामक एक

पुस्तक लिखी है जिसमें उन्होंने यह बतलाया है कि फारसके साथ कैसे कैसे अन्याय किये गये हैं और अपने कार्य्योंका समर्थन किया है। फारसके सम्बन्धमें वह पुस्तक देखने लायक है। अस्तु, रूस और ग्रेट ब्रिटेनने मिलकर फारससे शुस्टरको निकलवा दिया, उसकी नई पार्लामेण्ट तुड़वा डाली और १८ फरवरी १९१२ को उससे एंग्लो-रूसी सन्धि भी स्वीकृत करा ली।

यद्यपि उस समय मि० शुस्टरके कार्योंने फारसकी हानि की और उसकी पार्लामेण्ट तुड़वा डाली, तथापि उससे यह लाभ अवश्य हुआ कि लोगोंको अँगरेजों और रूसियोंकी सन्धिके अन्यायका पता चल गया और उन्होंने जान लिया कि युरोपियन अपनी साम्राज्यलोलुपताके कारण सब प्रकारके अनर्थ और अत्याचार कर सकते हैं; और अपने बोझसे जहाँ तक हो सकता है, दूसरोंको पीसनेका उद्योग करते हैं। शुस्टरने फारसके लिए एक बहुत बड़े राष्ट्रीय नेताका काम किया। अँगरेजी और रूसी साम्राज्यवादका उन्होंने जो विरोध किया था, उससे फारसके राष्ट्रीय आन्दोलनको बहुत अधिक उत्तेजना मिली। रूसी और अँगरेज कूटनीतिज्ञोंने मि० शुस्टरको नौकरीसे अलग कराके मानों अपने हाथसे अपनी राजनीतिक और व्यापारिक आशाओंकी कब्र खोद ली। रूसी परराष्ट्र विभागके एक उच्च कर्मचारीने भी यह बात मंजूर की थी कि शुस्टरने ही फारसको नष्ट होनेसे बचाया था। इस घटनाके बादसे, अर्थात् १९१२ से अब तक, फारसके साथ जो जो अन्याय हुए हैं, उनका ध्यान करके हर एक शर्मदार युरोपियनको बहुत ही लज्जित होना पड़ता है; और जिन लोगोंने जरमन साम्राज्यको नष्ट करनेमें हर तरहसे सहायता दी थी, उन्हें विवश होकर अपनी अपनी सरकारसे कहना पड़ता है कि एशियामें अपने साम्राज्य-वादका अन्त करो।

अँगरेजों और रूसियोंकी सन्धिके आगे सिर झुकाते ही फारसके लिए सारे संसारके बाजार बन्द हो गये। अब वह इन दोनोंको छोड़कर और किसीसे ऋण ले ही नहीं सकता था। फारस अपने यहाँ जो सुधार करना चाहता था, उसमें उसके ये संरक्षक और शुभचिन्तक बाधक होते थे। उसे बहुत अधिक सूद पर छोटी छोटी रकमें लेनेके लिए विवश किया जाता था। समुद्र-करकी जितनी आय होती थी, वह सब इन्हीं दोनोंके बंकोंमें जमा होती थी। यद्यपि फारसमें प्राकृतिक सम्पत्ति बहुत अधिक थी और उस पर ऋण बहुत थोड़ा था, तथापि इन लोगोंने मिलकर थोड़े ही दिनोंमें उसका दिवाला निकाल दिया और आर्थिक दृष्टिसे उसे अपना गुलाम बना लिया। उसे अपना एक एक दिन बितानेके लिए अपना एक एक अधिकार छोड़ना पड़ता था। न तो वहाँ रेलें बन सकीं, न दूसरे देशोंके साथ व्यापार हो सका और न वहाँकी खानोंसे वहाँवालोंको कोई लाभ पहुँच सका।

फारसमें रूसी प्रजाको किसी प्रकारका कर नहीं देना पड़ता था और वह जब चाहती थी, तब बिना किसी प्रकारकी रोक-टोकके सम्पत्ति खरीद सकती थी। इससे एक तो फारसकी आय कम होती थी और दूसरे फारसवाले रूसी प्रजाकी अपेक्षा छोटे दरजेके ठहरते थे। रूसियोंको कोई कर तो देना ही नहीं पड़ता था, इसलिए वे खूब जायदादें खरीदते थे। अतः उनके सामने फारस-वालोंका तुच्छ ठहरना स्वाभाविक ही था। पार्लामेण्ट तोड़कर और विदेशियोंको निकालकर अँगरेज और रूसी नित्य ऐसे नये अधिकार प्राप्त करते थे जो राजनीतिक और आर्थिक दृष्टिसे उस देशके लिए बहुत ही हानिकारक थे। तात्पर्य यह कि वे उसे हर तरहसे लूटने और चौपट करनेमें लगे थे।

रूसने इस बातका प्रयत्न किया कि फारसमें थोड़े से कज्जाक

सैनिक ही रहें और वह भी रूसी अफसरोंकी अधीनतामें; और इन्हीं सैनिकोंसे वह अपना राजनीतिक उद्देश्य सिद्ध करना चाहता था। वह फारसके सैनिकोंको उत्तरी प्रान्तोंमें नहीं घुसने देना चाहता था। इधर अँगरेज यह कहने लगे कि दक्षिणी प्रान्तोंमें शान्ति-रक्षाका प्रबन्ध हम स्वयं कर लेंगे और हमारे प्रान्तोंमें फारसकी सेनाकी कोई आवश्यकता नहीं है। १९१४ में जब युद्ध आरम्भ हुआ, तब फारस इस प्रकार असहाय और कमजोर बनाया जा चुका था और सब बातोंसे वंचित किया जा चुका था। इन बातोंसे पाठक समझ सकते हैं कि फारसवालोंमें रूसियोंके प्रति कितनी अधिक घृणा उत्पन्न हो गई होगी। जब तुर्की भी युद्धमें सम्मिलित हो गया, तब फारसवाले कहने लगे कि अब रूसियोंसे बदला लेना चाहिए। अँगरेजोंके वे लोग इतने विरोधी नहीं थे, पर वे यह भी नहीं चाहते थे कि अँगरेजोंकी जीत हो। युद्धमें रूस और ग्रेट ब्रिटेन दोनों साथी थे, इसलिए फारसवाले समझते थे कि यदि इस पक्षकी जीत हुई तो उसका परिणाम यही होगा कि हमरे बन्धन और भी दृढ़ कर दिये जायँगे। पर तुर्कों या जरमनोंके साथ भी उनकी कोई सहानुभूति नहीं थी; और युद्ध युरोपवालोंमें था, इसलिए फारसने घोषणा कर दी कि हम इस युद्धमें बिलकुल तटस्थ रहेंगे; और उसने अपनी प्रजाको भी तटस्थ ही रखा। यद्यपि उसके तटस्थ रहनेसे रूस और ग्रेट ब्रिटेन दोनोंका लाभ हुआ, तथापि इन लोगोंने उसकी तटस्थताका कोई आदर नहीं किया। युद्ध-कालमें फारसने रूससे कहा कि तुम हमारे यहाँसे अपनी सेनाएँ हटा लो; नहीं तो हमारा देश भी रणक्षेत्र बन जायगा और यहाँ आकर रूस और तुर्की लड़ने लगेंगे। फारसकी बात मानना तो दूर रहा, रूसने उलटे और भी सेनाएँ वहाँ ला रखीं और सैनिक कार्योंके लिए वहाँ अपना एक अड्डा भी बना लिया। फारसमें जरमनी और

आस्ट्रिया आदिके जो राजदूत तथा और लोग रहते थे, उनको रूसियोंने पकड़कर काकेशसमें निर्वासित कर दिया। तुर्की सेनाके पूर्वी पक्ष पर यहाँसे रूसी आक्रमण कर सकते थे, इसलिए उनका पीछा करनेके बहानेसे तुर्क लोग आजरबायजानमें घुस आये और उन्होंने रूसियोंको वहाँसे मार भगाया। पर पीछे कुछ और सैनिक लेकर रूसी फिर लौट आये। इसका परिणाम यह हुआ कि वह सारा प्रान्त नष्ट-भ्रष्ट हो गया। फारसका सबसे हरा-भरा प्रान्त आजरबायजान ही था; पर रूसियों और तुर्कोंकी आपसकी लड़ाईने उसको तहस नहस कर डाला। इस बीचमें जर्मनों और तुर्कोंने अरबिस्तानमें उपद्रव खड़ा करनेके विचारसे वहाँ अपने कुछ आदमी भेज दिये। उनका प्रतिकार करनेके लिए अँगरेजोंने फारसकी खाड़ीके बन्दरोंमें अपनी सेनाएँ जा उतारीं और इस प्रकार दक्षिणी फारस भी रणक्षेत्र बन गया।

१९१५ में पश्चिमी फारसमें बहुत सी तुर्की सेनाएँ घुस आईं। उन्होंने वहाँके बहुतसे निवासियों और सरदारोंको मार डाला और एक नगर जला भी दिया। एक जातिके लोग तो केवल इसी लिए मार डाले गये थे कि वे युद्धमें तटस्थ रहना चाहते थे। इस सर्वनाशमें जो कमी रह गई थी, उसकी पूर्ति ठीक इसी बहानेसे १९१८ में अँगरेजोंने कर डाली।

युद्धके दोनों ही पक्षोंने फारसमें पहुँचकर अपना अपना काम निकालना चाहा। उसकी तटस्थता अथवा उसके निवासियोंके भावोंका ध्यान किसीने न किया। वहाँ नित्य षड्यंत्र रचे जाते थे, नित्य छापे मारे जाते थे और नित्य युद्ध होते थे। इसका एक मात्र उपाय यही हो सकता था कि वह दोनों पक्षोंके साथ युद्धकी घोषणा कर दे; पर वह तो पहलेसे ही नितान्त असमर्थ बनाया जा चुका था। उसने इन कार्रवाइयोंका घोर विरोध किया, पर

किसीने उस पर ध्यान न दिया। इसलिए १९१५ में फारसवाले मित्र राष्ट्रोंके घोर विरोधी हो गये थे। १९१५ के अन्तमें रूसी सेनाएँ फारसकी राजधानीमें पहुँच गईं और वहाँ उन्होंने तुर्की राजदूतको पकड़ लिया। लाचार होकर फारसकी सरकारने यह निश्चय किया कि हम अपनी राजधानी तेहरानसे हटाकर कहीं और ले जायँगे। जर्मन राजदूतने भी उसको यही सलाह दी थी। जब तेहरानसे राजधानी हटानेकी सब तैयारियाँ हो चुकीं, तब अन्तमें भारी बदनामीके डरसे रूसियों और अँगरेजोंने फारस सरकारको यह विश्वास दिलाया कि रूसी सेनाएँ राजधानी पर अधिकार न करेंगी। बड़ी कृपा!

उस समय फारसकी जो दुर्दशा हो रही थी, उसका वर्णन नहीं हो सकता। उसने सोचा कि हम युद्धमें तो सम्मिलित हैं ही नहीं, और हमें युद्धकी सारी दुर्दशाएँ भोगनी पड़ती हैं। इस समय हमारा कोई मित्र या सहायक भी नहीं है। इसलिए हमारा कल्याण इसीमें है कि हम अँगरेजों और रूसियोंके पक्षमें हो जायँ। दिसम्बर १९१५ में इसी विचारसे उसने सन्धिका एक मसौदा तैयार करके रूस और ग्रेट ब्रिटेनके राजदूतोंको दे दिया। उन लोगोंने वचन दिया कि हम लोग यह मसौदा अपनी अपनी सरकारके पास भेज देंगे। १ अगस्त १९१७ को फारसको इसका उत्तर मिला। उसमें कहा गया था कि तुम यह बात स्वीकृत कर लो कि फारस पर रूसी और अँगरेजी सेनाका अधिकार है; अपने यहाँ नये सैनिक भर्ती करो जो उत्तरमें रूसी अफसरोंकी अधीनतामें और दक्षिणमें अँगरेज अफसरोंकी अधीनतामें रहेंगे; और अर्थ-विभाग-का अपना सारा अधिकार अँगरेजों और रूसियोंको दे दो। यदि तुम ये बातें न मानोगे, तो तुम्हारे साथ भी युद्ध छेड़ दिया जाय-गा। इससे पहले मार्च १९१५ में ही अँगरेजों और रूसियोंने

अपनी १९०७ वाली सन्धिमें यह बात और बढ़ा ली थी कि इस समय हम लोगोंके अधिकारमें फारसके जो प्रान्त हैं, वे अपने ही समझे जायँ और फारसको लौटाये न जायँ।

यद्यपि फारस युद्धमें मित्र राष्ट्रोंका साथ न दे सका, तथापि जर्मनीने सार्वराष्ट्रीय नियमोंका जो भंग किया था, उसका उसने घोर विरोध किया। जर्मनीने अपनी पनडुब्बियोंसे जो अनेक जहाज डुबाये थे, उनमें बहुतसे फारसवाले भी डूब गये थे, जिनमें राज-वंशका भी एक आदमी था। इसलिए उसने इस पनडुब्बियोंवाले युद्धका और भी अधिक विरोध किया था। अमेरिकाके युद्धमें सम्मि-लित होनेके समय राष्ट्रपतिने शान्ति-स्थापनके जो चौदह सिद्धान्त बतलाये थे, उनका भी फारसने हृदयसे समर्थन किया था।

यदि रूसमें भीषण राज्यक्रान्ति न हो जाती और वहाँ बोल्शे-विकोंकी प्रधानता न होती, तो युद्धके अन्तमें फारसकी बहुत अधिक दुर्दशा होती। रूसकी नई सरकारने घोषणा कर दी कि हम १९०७ वाली अँगरेजी और रूसी घृणित सन्धिको नहीं मानते और फारसको पूर्ण स्वतंत्र रहनेका अधिकार है। यह कहकर रूसियोंने तो फारससे अपनी सारी सेनाएँ हटा लीं और उनके हटते ही अँगरेजोंने सारे फारस पर अधिकार कर लिया। कई स्थानों पर तो उन्होंने रूसियोंको बहुत कुछ रिश्वत देकर भी रोक रखना चाहा था। १९१८ में फिर एक बार तुर्क लोग आजरबाय-जानमें घुस आये और युद्ध स्थगित होने तक वहाँ वे अँगरेजोंसे लड़ते रहे। शान्ति महासभाके समय अँगरेजोंने फारसको पूरी तरहसे अपने अधिकारमें रखा और बिना जाँचे किसी आदमी या समाचारको वहाँ आने-जाने न दिया। रूसने फारसमें अपने जो अधिकार छोड़ दिये थे, उन पर वे दाँत लगाये हुए थे। पर जैसा कि आगेके प्रकरणसे मालूम होगा, फारसने शान्ति-महासभाके

यह प्रार्थना की कि अब तक हमसे जबरदस्ती जो सन्धियाँ कराई गई हैं, उनसे हमें मुक्त किया जाय; क्योंकि उनसे हमारे देशकी बहुत हानि होती है और हमारी प्रजा बहुत अप्रसन्न है। रूमानियासे जरमनी और आस्ट्रियाने जबरदस्ती एक सन्धि पर हस्ताक्षर करा लिये थे। उस सन्धिका जिक्र करते हुए ग्रेट ब्रिटेनके प्रधान मन्त्री मि० लाइड जार्जने हाउस आफ कामन्समें युद्ध स्थगित होनेसे कुछ ही पहले कहा था कि यदि किसी राष्ट्रसे किसी सन्धि पर जबरदस्ती हस्ताक्षर कराये जायँ, तो उस राष्ट्रको इस बातका अधिकार है कि वह उस सन्धिकी बातोंको न माने। पर यही बात तो फारसके सम्बन्धमें भी है। उससे भी तो ग्रेट ब्रिटेनने जबरदस्ती ही मनमानी सन्धि पर हस्ताक्षर कराये हैं। यह तो हो ही नहीं सकता कि आप युरोपके लिए अलग नीति रखें और एशियाके लिए अलग। इसलिए फारसको यह आशा थी कि शान्ति स्थापित होते ही हमारी सब आशाएँ पूरी हो जायँगी और हमारे देशसे विदेशी आपसे आप निकल जायँगे। पर शान्ति महासभामें जो कुछ हुआ, वह सबको विदित ही है। सब बलवानोंने अपना अपना मतलब साध लिया और गरीबों तथा दुर्बलोंकी पुकार किसीने नहीं सुनी। अब हमें आशा करनी चाहिए कि शीघ्र ही वह भीषण आन्दोलन खड़ा होगा, जिसमें एशियाकी सभी जातियाँ और सभी देश मिलकर इस बातका उद्योग करेंगे कि हम युरोपवालोंके चंगुलसे निकलकर बिलकुल स्वतंत्र हो जायँ। जब तक एशियावालोंको भी अपने अपने देशमें ठीक वही अधिकार प्राप्त नहीं होंगे, जो युरोपवालोंको अपने अपने देशमें प्राप्त हैं, तब तक संसारमें कभी शान्ति नहीं हो सकती।

(१४)

शान्ति महासभामें फारस

केवल फारस ही एशियाका एक ऐसा स्वतंत्र राष्ट्र था, जो युद्धमें निमन्त्रित नहीं किया गया था। इसका कारण यह बतलाया गया था कि फारस युद्धमें सम्मिलित नहीं हुआ था। पर यह कथन कितना निस्सार है, यह इसी बातसे प्रमाणित हो जायगा कि लड़नेवाले दोनों पक्षोंमेंसे एक पक्षने भी उसकी तटस्थताका कोई ध्यान नहीं किया। फारसके प्रान्तोंमें अँगरेजों और रूसियोंने उनको बिलकुल अपना ही समझ-कर खूब घमासान युद्ध किया था। युद्धके समाप्त होनेके समय तक भी अँगरेज लोग बराबर फारसके ही रास्ते मेसोपोटामिया और काकेशसमें अपनी सेनाएँ भेजा करते थे। युद्धमें किसी देश पर जितनी विपत्तियाँ आ सकती हैं, वे सब विपत्तियाँ फारस पर भी आई ही थीं। उस पर आक्रमण हुए, उसके देश और गाँव युद्धके कारण नष्ट हुए, वहाँ अकाल पड़ा, आर्थिक कष्ट हुआ और वहाँके निवासी मारे गये। पर युद्धसे जो लाभ होते हैं, उन सबसे वह बेचारा वंचित रखा गया। इसी अन्तिम विपत्तिसे बचनेके लिए १९१५ में वह युद्धमें सम्मिलित होना चाहता था, पर उसकी बातोंकी उपेक्षा की गई। असल बात यह थी कि अँगरेज और रूसी यह नहीं चाहते थे कि आज तो फारस हमारे पक्षमें हो जाय और कल सब लोगोंके सामने हमारी कलई खुले। सब लोगोंको मालूम हो जाय कि १९०७ में हम लोगोंने ऐसी गुप्त निन्दनीय सन्धि की थी।

औरोंकी तरह फारसने भी बिना बुलाये अपने कुछ प्रतिनिधि

पेरिस भेजे थे और वह भी चाहता था कि शान्ति महासभामें हमें भी अपना दुखड़ा रोनेका अवसर मिले। उन प्रतिनिधियोंने महासभाके दफ़रमें एक पत्र भेजा था जिसमें उन्होंने यह बतलाया था कि हमारे साथ अब तक क्या क्या अन्याय हुए हैं, हम लोग किस प्रकार युद्धमें सम्मिलित होनेसे रोके गये हैं और किस प्रकार लोगोंने हमारे प्रान्तोंमें लड़ लड़कर उनको उजाड़ा है। इसलिए हमको भी महासभामें बैठनेका स्थान मिलना चाहिए। पर महासभासे उनको इसका कोई उत्तर ही नहीं मिला। हाँ, कुछ बड़ी बड़ी शक्तियोंके प्रतिनिधियोंने उनके आँसू पोंछनेके लिए उनके साथ सहानुभूति प्रकट कर दी। फिर भी वे लोग निराश नहीं हुए और जब मार्चमें शान्ति महासभा बैठी और उसके अधिवेशन आरम्भ हुए, तब उन लोगोंने स्वयं महासभाके सामने फिर एक पत्र भेजा। यद्यपि इतना होने पर भी फारसके प्रतिनिधियोंको महासभामें बैठनेकी आज्ञा नहीं मिली, तथापि इतना अवश्य हुआ कि उसमें आये हुए सभी प्रतिनिधियोंके सामने फारसकी सारी दुःखपूर्ण कथा रखी गई। अपने पाठकोंके मनोरंजनके लिए नीचे हम उसका सारांश देते हैं।

अपनी प्रार्थनामें फारसने यह तो कहा ही था कि हमारे सारे प्रान्त हमें वापस दिला दिये जायँ, पर साथ ही उसने अँगरेजों और रूसियोंकी खूब पोल खोली थी; और अच्छी तरह यह बतलाया था कि किस तरह ये लोग हाथ धोकर हमारा सर्वनाश करनेके लिए हमारे पीछे पड़ गये हैं। जिस प्रकारकी बातें चीनके प्रार्थनापत्रमें कही गई थीं, प्रायः उसी प्रकारकी बातें फारसके प्रार्थनापत्रमें भी थीं। इन दोनों प्रार्थनापत्रोंको देखनेसे इस बातका पूरा पूरा पता लग जाता है कि एशियावालोंके साथ इन युरोपियनोंका व्यवहार कितना अन्याय-और अत्याचारपूर्ण है। इनमें जो

जो बातें कही गई हैं, और जो जो आक्षेप किये गये हैं, उनका कभी कोई समुचित उत्तर हो ही नहीं सकता। इतने पर भी युरोपियन अपनी वह पुरानी नीति न छोड़ें, तो यह उनकी निर्लज्जता ही है।

फारसने अपने प्रान्त वापस पानेके लिए जो प्रार्थनापत्र भेजा था, उसके साथ उसने एक नकशा भी भेजा था। वह नकशा बड़ा मजेदार था। युद्धके पहले जो जो प्रान्त फारसके अधिकारमें थे, वे सब युद्धकालमें उसके हाथसे जा चुके थे। इसलिए फारसकी माँग न्यायसंगत ही थी। वह यह नहीं चाहता था कि हमें कोई नया प्रान्त मिले; वह तो केवल अपने पुराने प्रान्त वापस लेना चाहता था। उन्नीसवीं शताब्दीमें ये सब प्रान्त रूस और तुर्कीने फारस पर चढ़ाई करके उससे छीन लिये थे।

फारसकी पहली माँग तो यह थी कि हमें ट्रान्स-कैस्पियन प्रान्त मिल जाय, क्योंकि वह फारसका एक अंग और केन्द्र है और वहाँ हमारे अनेक बड़े बड़े विद्वान्, कवि, महात्मा और दार्शनिक उत्पन्न हुए हैं। वहाँके निवासी भी जाति और वंशके विचारसे हमारे भाई ही हैं। युद्ध-कालमें जब रूसमें राज्यक्रान्ति हुई थी, तब उस प्रान्तके तुर्कमानोंने फारससे कहा भी था कि हमारी सहायता करो और हमें बोल्शेविकोंके हाथसे छुड़ाओ। इस प्रकार फारसने वह सारा प्रान्त माँगा था, जो खीवाके खाँके अधिकारमें है।

उन्नीसवीं शताब्दीमें रूसने कैस्पियन और कृष्ण सागरके बीचके प्रान्तमें घुसकर तुर्की और फारस दोनोंकी बहुत सी भूमि दबा ली थी। ट्रान्स-काकेशियाका पूर्वकी ओरका आधा भाग १८२८ तक फारसके अधिकारमें ही था। बाकूकी मिट्टीके तेलकी प्रसिद्ध खानें इसी प्रान्तमें हैं। उधर जार्जिया और आरमीनियावालोंने भी यही प्रान्त अपने लिए माँगा था। वहाँके एरिवन नामक स्थानमें तो आरमीनियनोंने अपनी एक स्वतंत्र सरकार स्थापित भी कर ली है।

उधर तुर्कीकी ओर कुर्दिस्तानका प्रान्त भी फारस लेना चाहता था और वही प्रान्त आरमीनिया भी माँगता था। इसके सम्बन्धमें भी फारसका यही कहना था कि वहाँके निवासी जाति, भाषा और धर्म तीनोंकी दृष्टिसे हमारे ही हैं। विशेषतः तुर्की कुर्दिस्तान तो भौगोलिक दृष्टिसे भी फारसके अधिकारमें ही रहना चाहिए और वहाँके अनेक सरदारों और निवासियोंने फारसकी अधीनतामें ही रहनेकी इच्छा भी प्रकट की है। और सबके अन्तमें फारसने शीया मुसलमानोंके पवित्र तीर्थ अपने लिए माँगे थे; जैसे करबला, नजफ, समरा और काजमीन आदि; क्योंकि फारसके बड़े बड़े मुल्ला और पीर आदि वहीं रहते हैं। वहाँ अधिकांश फारसके ही यात्री जाते हैं, इसलिए वहाँका शिल्प और व्यापार आदि भी प्रायः उन्हींके हाथमें है और उन स्थानोंका सारा वैभव फारसके ही धन पर निर्भर करता है। ऐसी दशामें मेसोपोटामिया पर फारसका दावा ही सबसे अधिक ठीक हो सकता है।

इन प्रान्तोंके सम्बन्धमें अपनी माँग पेश करते हुए फारसने बराबर यही कहा था कि ये सब प्रान्त हमें वापस दिला दिये जायँ। अर्थात् वे प्रान्त पहले फारसके ही अधिकारमें थे, पर बादमें धीरे धीरे उसके हाथसे निकल गये थे। शान्ति महासभामें प्रायः अपनी अपनी माँग उपस्थित करते हुए सभी लोग यह कहते थे कि हमारा अमुक प्रान्त हमें वापस दिला दिया जाय। ट्रान्स-कैस्पियन प्रान्तकी जो भूमि फारसने अपनी कहकर माँगी थी, वही भूमि खीवाके अमीरने भी अपनी बतलाकर माँगी थी। अमीरका कहना था कि वह प्रदेश रूसने हमसे जबरदस्ती ले लिया है। उधर ट्रान्स-काकेशिया और उत्तरी कुर्दिस्तानके सम्बन्धमें जार्जिया और आरमीनियावालोंका भी यही कहना था कि इन प्रान्तों पर रूसियों, तुर्कों और फारसवालोंका इसके सिवा और

कोई अधिकार नहीं है कि उन्होंने इन प्रान्तोंको युद्धमें जीता था। तुर्कीके कुर्दोंके जो प्रतिनिधि शान्ति महासभामें गये थे, उन्होंने यह बात बिलकुल नहीं कही थी कि हम फारसकी अधीनतामें रहना चाहते हैं। वे अलग स्वतंत्र होना चाहते थे।

फारसवालोंका हरजानेका जो दावा था, वह तीन प्रकारका था। एक तो रूसियोंने उनकी जो हानि की थी, उसकी वे पूर्ति कराना चाहते थे; दूसरे तुर्कोंकी की हुई हानिकी और तीसरे जर्मनीके द्वारा होनेवाली हानियोंकी। ग्रेट ब्रिटेनने उनकी जो जो हानियाँ की थीं, उनका उन लोगोंने जान-बूझकर कोई जिक्र नहीं किया था; क्योंकि वे जानते थे कि इससे उलटे हमारी और भी हानि होगी। रूसने फारसकी तटस्थता भंग करके और बाकूमें फारसकी प्रजाका कत्ले-आम करके उसे जो हानि पहुँचाई थी, उसका उसने पूरा पूरा विवरण दिया था। रूस और ग्रेट ब्रिटेनकी तरह तुर्कोंने भी फारस पर आक्रमण किया था; और एक विशेषता यह की थी कि युद्ध कालमें उसने फारसकी प्रजाको जबरदस्ती अपनी सेनामें भर्ती कर लिया था। जरमनीने फारसमें अनेक षडयंत्र रचे और उपद्रव खड़े किये थे। इसके अतिरिक्त उसने जो अनेक जहाज डुबाये थे, उनमें कई फारसके रहनेवाले भी थे। फारस सरकारने यह भी कहा था कि रूससे हम जो हरजाना चाहते हैं, वह इस तरह भी वसूल हो सकता है कि हम पर उसका जो ऋण है, वह हमें न देना पड़े; उसने हमारे देशमें जो अधिकार प्राप्त किये हैं, वे हमें वापस मिल जायँ; और हमारे राज्यमें रूसियोंकी जो जायदादें हैं, उनको हम जब्त कर लें। तुर्की और जरमनीके सम्बन्धमें उनका यह कहना था कि इनसे जो हरजाना वसूल हो, उसका कुछ अंश हमको भी मिले।

रूस और ग्रेट ब्रिटेनने फारसकी आर्थिक और राजनीतिक

स्वतन्त्रताका जो हरण किया था, उसके सम्बन्धमें फारसने शान्ति महासभामें अपनी नीचे लिखी दस माँगें पेश की थीं:—

(१) १९०७ में अँगरेजों और रूसियोंमें जो समझौता हुआ था, वह हस्ताक्षर करनेवालोंके लिए और दूसरी हर एक ऐसी शक्तिके लिए, जो उस समझौतेसे उत्पन्न हुई सारी परिस्थिति अथवा उसके किसी अंशको मानती हो या जायज रखना चाहती हो, रद्द कर दिया जाय।

(२) १९१० में अँगरेजों और रूसियोंने फारसको जो यह सूचना दी थी कि तुम आगेसे विदेशियोंको अपने देशमें किसी प्रकारके राजनीतिक आदि अधिकार न दो, वह रद्द कर दी जाय।

(३) १९११ में अँगरेजों और रूसियोंने फारसको जो यह सूचना दी थी कि तुम बिना हमारी स्वीकृतिके किसी विदेशीको अपने यहाँ नौकर न रखना, वह रद्द कर दी जाय।

(४) विदेशी शक्तियोंने फारस और उसकी प्रजाके संरक्षणका जो अधिकार प्राप्त कर रखा है, उसे वे छोड़ दें।

(५) फारसके आन्तरिक कार्योंमें विदेशी शक्तियाँ कभी और किसी बहानेसे हस्तक्षेप न कर सकें।

(६) फारस सरकारको विदेशियोंसे भी उसी प्रकार कर आदि लेनेका अधिकार रहे, जिस प्रकार उसे स्वयं अपनी प्रजासे लेनेका अधिकार है।

(७) फारसमें विदेशियोंकी जो सेनाएँ हैं, वे तुरन्त हटा ली जायँ।

(८) दूसरी शक्तियोंके साथ अब तक फारसकी जो सन्धियाँ हुई हैं, वे दोहराई जायँ और उनमें ऐसे परिवर्तन किये जायँ, जिनसे आर्थिक या राजनीतिक आदि दृष्टिसे फारसकी स्वतंत्रता-में किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचती हो।

(९) विदेशियोंको फारसमें जो अधिकार या रिआयतें मिली हैं, उनमें ऐसे परिवर्तन किये जायँ जिनसे वे भविष्यमें फारसकी कोई आर्थिक हानि न कर सकें।

(१०) फारसको इस बातका पूरा पूरा अधिकार रहे कि वह अपने देशमें जिस प्रकार और जितना चाहे, उस प्रकार और उतना सामुद्रिक कर लगावे; उसमें विदेशियोंका किसी प्रकारका हस्तक्षेप करनेका अधिकार न हो; और बाहरसे फारसमें आनेवाले मालके लिए जो बाधाएँ हैं, वे सब दूर कर दी जायँ।

महायुद्ध स्थगित होनेके समय लेफ्टिनेन्ट कर्नल नेपियरने, जो युद्धकालमें फारसमें प्रधान सैनिक अधिकारी थे, एक अवसर पर व्याख्यान देते हुए कई ऐसी बातें कही थीं जिनसे यह सिद्ध होता था कि फारसके पुनरुत्थानके समय भी ग्रेट ब्रिटेन उस पर अपना प्रभुत्व रखना चाहता है। उन्होंने कहा था कि—"अब यह समझ लेना चाहिए कि १९०७ वाले समझौतेका अन्त हो गया और हम भविष्यमें फारसको ठीक मार्ग पर चलानेके लिए स्वतंत्र हो गये हैं। ग्रेट ब्रिटेनकी दृष्टिसे देखते हुए यह आवश्यक है कि फारस उसीके वशमें रहे और उसीके दिखलाये हुए मार्ग पर चले। ग्रेट ब्रिटेनके नये प्राप्त किये हुए प्रदेश मेसोपोटामिया पर भी, और साथ ही भारत तथा अफगानिस्तान पर भी, फारसकी शान्ति और सम्पन्नताका बहुत कुछ प्रभाव पड़ेगा। और फिर काकेशियामें पेट्रोलियमकी जो खानें हैं, वे भी तो फारसकी सीमाको पार करती हुई उसके पश्चिमी पार्वत्य प्रदेश तक चली गई हैं।"

युद्धकालमें फारस पर जो अनेक विपत्तियाँ आई थीं, उनका बहुत कुछ उत्तरदायित्व इन कर्नल नेपियर पर भी था। फारसमें प्रायः साढ़े तीन हजार मील तक इन्होंने इस प्रकार अपनी सेनाएँ दौड़ाई थीं और इस प्रकार आक्रमण किये तथा छापे डाले थे कि

मानों फारसवालोंका उस भूमि पर कोई अधिकार ही न हो। यदि अँगरेज लोग यह समझते हों कि फारसके युद्धक्षेत्र बननेके कारण वहाँवाले केवल रूसियों, तुर्कों और जर्मनोंसे ही नाराज हैं, हमसे बिलकुल नाराज नहीं हैं, तो यह उनकी बड़ी भारी भूल है। कर्नल नेपियरके उक्त व्याख्यानसे इस बातका बहुत कुछ पता चल जाता है कि जो अँगरेज अफसर कुछ दिनों तक एशियामें रह जाते हैं, उनके विचार कैसे हो जाते हैं। ये उन लोगोंमेंसे हैं जो बराबर यही समझते हैं कि ईश्वरने एशियाके राज्यों और जातियों-की सृष्टि केवल अँगरेजोंका प्रभुत्व बढ़ानेके लिए ही की है। नेपि-यरने १९०७ वाले समझौतेके रद होनेकी बात केवल इसी लिए कही थी कि उसके अनुसार केवल दक्षिणी फारस पर ही अँगरेजोंका प्रभुत्व रह सकता था और उसके कारण वे सारे फारसको अपने अधिकारमें नहीं ले सकते थे। उनको इस बातका तो कभी स्वप्नमें भी ध्यान नहीं हुआ कि वह एक ऐसा अनुचित समझौता था जिससे विदेशियोंको इस बातका अधिकार प्राप्त होता था कि वे फारस सरीखे अभिमानी देशको खूब अच्छी तरह लूटें और पैरों तले कुचलें। लज्जित होनेके बदले वे उलटे इस बातसे प्रसन्न थे कि १९०७ वाले समझौतेका अन्त हो गया और अब ग्रेट ब्रिटेनको फारसमें खुलकर खेलनेका पूरा पूरा अवसर मिलेगा।

पर शान्ति महासभामें फारसने जो दस माँगें पेश की थीं, वे नेपियर सरीखे लोगोंकी आशाओं पर पानी फेरनेवाली थीं; क्योंकि उनके पूर्ण हो जाने पर फारसवाले अपने देशके आप मालिक बन जाते थे। यदि फारसमें पेट्रोलियमकी खानें हैं, तो उनके कारण अँगरेजोंको इस बातका अधिकार न मिल जाना चाहिए कि वे फारसको राजनीतिक और आर्थिक दृष्टिसे अपना गुलाम बना लें; और न मेसोपोटामिया पर भी अँगरेजोंके राजनीतिक अधिकार

होनेका यह अर्थ होना चाहिए कि वे फारस पर भी अधिकार प्राप्त कर लें।

फारसवालोंने पेरिसमें यह भी कहा था कि जब तक सब राष्ट्रों-को समान अधिकार न प्राप्त होंगे, तब तक राष्ट्रसंघका कोई उपयोग न होगा; और जो प्रबल होगा, वही दूसरोंको दबानेका प्रयत्न करेगा। फारसकी जो दस माँगें थीं, वे ऐसी थीं जो प्रत्येक देश और राष्ट्रकी स्वतंत्रताके लिए आवश्यक होती हैं। इन बातोंके सम्बन्धमें किसी प्रकारका वाद-विवाद या इनमें किसी प्रकारकी कमी हो ही नहीं सकती। १९०७ वाले समझौतेका यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि अँगरेजोंको फारसमें मनमानी करनेका अधिकार मिल जाय; बल्कि उसका यह अर्थ होना चाहिए कि फारसवाले अपने देशमें पूर्ण स्वतंत्र हों।

(१५)

एशियामें रूसका प्रसार

रूस साम्राज्यका जन्म-स्थान और केन्द्र मास्को नगर है। रूसियोंने पहले पहल वहींसे बढ़ना आरम्भ किया था; और आसपासके प्रदेशोंको बराबर अपने अधीन करते हुए और उनको अपने साम्राज्यमें मिलाते हुए वे बराबर आगे बढ़ते गये। यहाँ तक कि १९१४ में रूस साम्राज्यके अन्तर्गत जितनी विस्तृत भूमि थी, उतनी और किसी साम्राज्यके अन्तर्गत नहीं थी। समुद्र तक पहुँचनेके लिए रूसी लोग बीचके देशोंको लाँघकर कूदे नहीं थे, बल्कि उन्होंने पहले बीचके ही प्रदेशों पर अधिकार किया

था; और इस प्रकार "बाबा सोएँ इस घरमें और पैर पसारें उस घर-में" वाली कहावत पूरी की थी। जब वे लोग एक ओर बढ़ते बढ़ते किसी विशेष सीमा, जैसे समुद्र आदि, तक पहुँचकर रुक जाते थे, तब वे दूसरी ओर बढ़ना आरम्भ करते थे। यदि १९१७ में रूसमें राज्यक्रान्ति न हो जाती, तो सम्भव था कि सारा जर्मनी देश भी रूस साम्राज्यके ही अन्तर्गत आ जाता। पर उस राज्यक्रान्तिके कारण रूस साम्राज्यका विस्तार बहुत कम हो गया। इसका कारण यह नहीं था कि विदेशियोंने रूस पर आक्रमण किया, बल्कि इसका कारण यह था कि उसने अपनी पुरानी नीति छोड़ दी थी। शान्ति महासभाने रूसी साम्राज्यके फिनलैण्ड, बाल्टिक प्रान्त, लिथुआनिया, पोलैण्ड, उक्रेनिया, जार्जिया और आरमीनिया प्रान्तोंका ही निपटारा किया था। पर रूसी साम्राज्यका बहुत बड़ा अंश एशियामें था। यही कारण है कि रूसमें जारशाहीका अन्त हो जानेसे एशियाके प्रत्येक देशके भविष्य पर उसका बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ा है और वहाँका प्रत्येक देश स्वतंत्रताके सुख-स्वप्न देखने लगा है। जब रूस और जापानका युद्ध हुआ था, तभी एशियाके कुछ लोगोंने समझ लिया था कि अब युरोपियनोंका बढ़ता हुआ प्रभुत्व रुक जायगा। पर १९१७ की रूसी राज्यक्रान्तिके बाद तो रूसने मानों स्वयं ही कह दिया कि हम दूसरों पर अपना अनुचित प्रभुत्व नहीं रखना चाहते। इस समय रूसमें जो नई परिस्थिति उत्पन्न हो गई है, उसका ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त करनेके लिए पहले यह जानना आवश्यक है कि रूसने एशियामें किस प्रकार अपना विस्तार किया था। इस प्रकरणमें यही बात बतलाई जायगी।

एशियामें रूसकी अधीनतामें बसते तो केवल ढाई ही करोड़ आदमी हैं, पर उसके अधिकारमें साठ लाख वर्ग मील भूमि, अथवा सारे एशिया महादेशका एक तृतीयांश है। रूसकी सीमा तुर्की,

फारस, अफगानिस्तान, चीन और जापानकी सीमाओंसे मिली हुई है और एशियामें रूसी साम्राज्यके अन्तर्गत साइबेरिया, ट्रन्स काकेशिया और तुर्किस्तान आदि प्रान्त हैं।

एशियाके उत्तरमें यूराल पर्वतोंसे लेकर प्रशान्त महासागर तक साइबेरिया देश फैला हुआ है। इसमें अनेक विस्तृत प्रान्त और प्रदेश हैं, जिनकी आबादी अपेक्षाकृत बहुत कम है। साइबेरियाका क्षेत्रफल पचास लाख वर्ग मीलके लगभग है और वहाँ ट्रान्स-साइबेरियन रेल्वे बननेसे पहले प्रायः पचास ही लाखकी आबादी थी। अर्थात् वहाँ प्रति एक वर्ग मीलमें एक आदमी बसता था। इनमेंसे दस लाख तो वहींके निवासी थे और तीन चौथाईके लगभग रूसी थे जो युरोपीय रूसकी सीमाके बहुत ही पासके प्रदेशोंमें बसनेवाले थे। इन रूसियोंमेंसे अधिकांश कृषक ही थे जो अपना देश छोड़कर और अपने बाल-बच्चोंको लेकर उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तमें वहाँ आ बसे थे।

ट्रान्स-साइबेरियन रेल्वेका बनना १८९५ में आरम्भ हुआ था और वह १९०३ में बनकर समाप्त हुई थी। इस रेलके बननेसे साइबेरियाकी आबादी पन्द्रह वर्षमें दूनी हो गई। ज्यों ज्यों रेल पूर्वकी ओर बढ़ती गई, त्यों त्यों उधरकी आबादी भी घनी होती गई। यद्यपि रूसने अनेक प्रकारके नये नियम बनाकर बहुत सी बाधाएँ खड़ी कर दी थीं, तथापि साइबेरियाके पूर्वी भागमें बहुतसे चीनी, मंचू, कोरियन और जापानी आ बसे थे। रूस-जापान युद्धमें रूसके हारनेका पूर्वी साइबेरिया पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा; और वह प्रभाव रूसकी १९१७ वाली राज्यक्रान्तिके बाद देखनेमें आया। इस क्रान्तिके बाद बैकाल झीलके पूर्व ओर रूसियोंका प्रायः कुछ भी प्रभुत्व न रह गया। ट्रान्स-बैकालिया, आमूर और मैरिटाइम प्रान्त जापानके हाथमें चले गये। एक याकुटस्क प्रान्त ही

ऐसा रह गया जिसने मई १९१८ में अपनी स्वतंत्रताकी घोषणा करके बोल्शेविक ढंग पर शासन आरम्भ किया।

यह तो हुई पूर्वी साइबेरियाकी बात। पर पश्चिमी साइबेरिया अनेक बातोंमें रूसी ही बना रहा। यद्यपि दिसम्बर १९१७ में टोमस्कमें साइबेरियाके प्रजातंत्रकी घोषणा हो गई, तथापि उसने अपना सारा प्रबन्ध रूस साम्राज्यके प्रबन्धके समान ही रखा और रूसके राष्ट्रीय झण्डेको ही अपनाया। ५ फरवरी १९१८ को वहाँ रूसके ही ढंग पर डूमा खोली गई और मन्त्रिमण्डलकी स्थापना हुई। पर साइबेरियाकी यह नई सरकार न तो अपने प्रान्तोंके लाभका ध्यान रख सकी और न और बातोंमें पूर्ण स्वतंत्र ही रह सकी। पेट्रोग्रेडसे जो बहुत से लोग भागकर आये थे, वे उस नई सरकारमें सम्मिलित हो गये और उन्होंने कुछ दिनोंमें उस सरकारको उभारकर बोल्शेविक सरकारसे लड़ा दिया।

साइबेरियाके और प्रान्तोंमें चाहे जो हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि उसके पश्चिमी प्रान्त सदा रूसी ही रहेंगे। वहाँके ९० प्रति सैंकड़े निवासी रूसी ही हैं; और उनका यह समझना बहुत ठीक है कि आर्थिक दृष्टिसे युरोपीय रूससे हमारा कभी विच्छेद नहीं हो सकता। वहाँ गेहूँकी खेती खूब होती है और उसमें अच्छा मुनाफा रहता है। दिन पर दिन आस पासके रूसियोंके आनेसे वहाँकी आबादी बढ़ती जाती है और उस आबादीके साथ ही साथ पैदावार भी बढ़ती है। यदि रूसमें शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो गई और वह यथेष्ट बलवान् हो गया, तो बहुत सम्भव है कि इस समय उसके हाथसे पूर्वकी ओरके जो प्रान्त निकल गये हैं, वे कुछ दिनोंमें फिर उसके हाथ लग जायँ। पर हाँ, मंगोलिया और मंचूरिया बिलकुल पूर्वमें पड़ते हैं और उन परसे युरोपियनोंका अधिकार सदाके लिए उठ गया है। युरोप और अमेरिका अपने मनमें जो

चाहें सो समझें और जो चाहे सो कहें, पर इसमें सन्देह नहीं कि अब प्रशान्त महासागर तक रूस कभी नहीं पहुँच सकता; और सत्रह वर्ष पहले जापानने रूस पर विजय प्राप्त करके आगेके लिए जो आशा की थी, वह अवश्य पूरी होगी। पोर्ट्समाउथवाली सन्धिको जापान कोई चीज नहीं समझता। ज्यों ही मित्र राष्ट्र साइबेरियामें बोल्शेविकों-के विरुद्ध हस्तक्षेप करना चाहेंगे, त्यों ही जापानको आगे बढ़कर अपनी बहुत दिनोंकी आशा पूरी करनेका अवसर मिल जायगा।

ट्रान्स-काकेशिया प्रान्त काकेशस पर्वतके दक्षिण और कृष्ण-सागर तथा कैस्पियन सागरके बीचमें है। वहाँकी आबादी बहुत घनी है। प्रायः एक लाख वर्ग मील भूमिमें, जिसमेंसे बहुत कुछ पहाड़ी भी है, प्रायः पचहत्तर लाख आदमी बसते हैं। इसमें अनेक जातियों, अनेक धर्मों और अनेक सम्प्रदायोंके लोग हैं। इस देशकी सीमा भी फारस और तुर्कीकी सीमाओंसे मिलती है। फारसकी ओर उसकी जो सीमा है, प्राकृतिक दृष्टिसे तो वह ठीक ही है, पर साथ ही ऐतिहासिक और राष्ट्रीय दृष्टिसे भी ठीक है। पर तुर्कीकी ओर जो सीमा है, वह बिलकुल ठीक नहीं है; क्योंकि वह १८७७ वाले युद्धके बाद मनमाने तौर पर कायम की गई थी और उसके कारण आरमीनियन जाति दो भागोंमें बँट जाती है।

ट्रान्स-काकेशिया पर रूसने बहुत दिनोंमें और बड़े परिश्रमसे अधिकार प्राप्त किया था। पहले तो रूसने दो बारमें करके तुर्कीसे वह प्रदेश जीता; और तब फिर उसे वहाँके निवासियोंसे भी लड़ना और उनको जीतना पड़ा। रूस जिस प्रकार तुर्कीकी जमीन दबाता हुआ आगे बढ़ता जाता था, उसका परिणाम इसके सिवा और कुछ हो भी तो नहीं सकता था। पहले तो एक बार रूस धीरे धीरे किसी प्रकार कृष्ण सागरके तट तक पहुँचा। पर जब वह वहाँ पहुँच गया, तब उसने उसको बिलकुल अपने ही अधिकारमें

कर लेना चाहा। और जब उसने इस प्रकार ट्रान्स-काकेशिया पर एक बार अधिकार कर लिया, तब उसे और आगे बढ़नेके लिए दो और मार्ग दिखाई देने लगे। एक मार्ग तो फारससे होकर फारसकी खाड़ी तक पहुँचनेका था और दूसरा तुर्कीमेंसे होकर भूमध्य सागर तक पहुँचनेका। साम्राज्यका विस्तार करते करते तो रूसी ट्रान्स-काकेशिया तक पहुँचे और वहाँ पहुँचकर उनको और आगे बढ़नेकी सूझी। साम्राज्य-लिप्साका यह एक अटल नियम है कि उसकी दृष्टि सदा सन्धियों द्वारा निश्चित सीमाओंके उस पार ही रहती है। पर ट्रान्स-काकेशिया भी रूसके लिए बहुत ही लाभदायक प्रमाणित हुआ। वीसवीं शताब्दीके दूसरे दशकमें बाकूकी तेलकी खानें संसारकी सभी खानोंसे अधिक तेल देने लग गई। यहाँ तक कि वहाँकी आय अमेरिकाकी आयकी एक चौथाई तक पहुँच गई। रूसकी राज्यक्रान्तिसे पहले वहाँ ढाई करोड़ मन रूई पैदा होती थी; एक करोड़ एकड़के लगभग वहाँ जंगल थे जिनसे खूब आय होती थी और दिन पर दिन बढ़ती जाती थी; और कोयला भी वहाँके काम भरको तो निकल ही आता था।

आर्थिक और राजनीतिक दोनों ही दृष्टियोंसे ट्रान्स-काकेशिया-का महत्व बहुत अधिक था, इसलिए रूसने वहाँ रेलें भी बनवाईं, बाटूम और बाकूके बन्दरोंकी उन्नति भी की और कैस्पियन सागरमें अच्छे स्टीमर चलाने भी आरम्भ कर दिये। जो रेलें बनी थीं, उनकी एक शाखा तुर्की सीमा तक और दूसरी फारसकी सीमा तक पहुँचा दी गई थी।

गत महायुद्धके आरम्भमें रूसियोंने उत्तर फारसमें अपना अधि-कार बना रखा था और बगदादके उत्तरमें वे अँगरेजोंके साथ मिल गये थे। १९१६ में उन्हें तुर्की पर यथेष्ट विजय प्राप्त हो गई थी। १८७७ में उन्होंने जिस आरमीनियाको जीतना आरम्भ किया था,

उसे इस बार उन्होंने पूरी तरहसे जीत लिया। ट्रेबिजाण्ड, एर्जे-रूम, वान और बिटलिस आदि नगर उनके हाथ आ गये। पर मार्च १९१७ की राज्यक्रान्तिने फारस और तुर्कीमें रूसियोंके पैर उखाड़ दिये और वे आजरबायजान और आरमीनिया प्रान्तको छोड़कर पीछे हट गये। जब बोल्शेविक लोग अधिकाराकूढ़ हुए, तब अवस्था और भी खराब हो गई। ब्रेस्ट-लिटोस्कमें जो सन्धि हुई थी, उसके अनुसार रूसियोंने केवल अपने नये जीते हुए प्रान्त ही नहीं छोड़ दिये, बल्कि १८७७ के युद्धके बाद ट्रान्स-काकेशियाके जो प्रदेश प्राप्त किये थे, वे भी छोड़ दिये। पेट्रोग्रेडकी सोवीटने यह भी घोषणा कर दी कि अब फारससे हमसे कोई मतलब नहीं है।

जब बाटूम पर तुर्कोंका अधिकार हो गया, तब उन्होंने ब्रेस्ट-लिटोस्कवाली सन्धि द्वारा निर्धारित सीमाका कुछ भी ध्यान न किया और ट्रान्स-काकेशियामेंसे होकर बाकूकी ओर बढ़ना आरम्भ किया। उस समय बाकूमें थोड़ेसे आरमीनियन ही थे, अतः उनकी सहायताके लिए कैस्पियन सागर पार करके फारससे कुछ अँगरेज वहाँ जा पहुँचे थे। आक्रमणकारी तुर्कोंकी संख्या बहुत अधिक थी, इसलिए अँगरेजों और आरमीनियनोंको बाकू खाली कर देना पड़ा। पर ट्रान्स-काकेशियामें तुर्कोंकी यह विजय अधिक समय तक न रह सकी। अँगरेजोंने पैलेस्टाइन और सीरियामें तुर्कोंको हराकर आगे बढ़ना आरम्भ किया; और जब युद्ध स्थगित हुआ तब उसकी शर्तोंके अनुसार तुर्कोंको फिर अपनी १९१४ वाली पुरानी सीमा पर चले जाना पड़ा। अब अँगरेजोंने फिर बाकू पर अधिकार कर लिया और शान्ति महासभाके समय उन्होंने ट्रान्स-काकेशियाके नगरोंमें अपनी सेनाएँ रख दीं। युद्धके अन्तिम दिनोंमें ट्रान्स-काकेशियामें दो नये स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये थे। एक आरमीनिया और दूसरा जार्जिया। युद्ध स्थगित

होनेसे कुछ पहले ये दोनों राज्य जरमनों और तुर्कोंसे लड़े भी थे और शान्ति महासभामें इन्होंने अपने अपने प्रतिनिधि भी भेजे थे।

एशियामें रूसियोंने जो कुछ विजय प्राप्त की थी, वह अनेक अंशोंमें आरमीनियनोंकी कृपासे ही की थी। बिना उनकी सहायताके रूसी कभी तुर्कों पर विजय न प्राप्त कर सकते। तुर्कोंने आरमीनियनोंका जो कत्ले-आम किया था, भागकर आये हुए लोगोंके मुँहसे उसका समाचार सुनकर ट्रान्स-काकेशियाके आरमीनियन बहुत उत्तेजित हुए थे और अपने भाइयोंको उस भीषण हत्यासे बचानेके लिए आगे बढ़े थे। बस, इसीसे रूसियोंको तुर्कों पर विजय प्राप्त हुई थी। जब रूसी सेना टूट गई, तब बोल्शेविकों के अनेक प्रयत्न करने पर भी आरमीनियनोंने अपना संघटन नष्ट न होने दिया। युद्धके अन्तिम दिनोंमें दक्षिण-पश्चिम एशियामें मित्र राष्ट्रोंको केवल इन आरमीनियनोंका ही सहारा था। ट्रान्स-काकेशियामें बीस लाख आरमीनियन बसते थे। पीछेसे उनमें भागकर आये हुए और भी लाखों आरमीनियन मिल गये थे। ब्रेस्ट-लिटोस्ककी सन्धिके समय तक ये लोग बराबर रूसियोंके भक्त बने रहे थे और उन्हींकी सहायता करते थे। पर उस सन्धिमें रूसियोंने उनको उनके परम शत्रु तुर्कोंके सपुर्द कर दिया। इस पर उन लोगोंने अपना एक स्वतंत्र प्रजातंत्र राज्य स्थापित कर लिया और बड़े परिश्रमसे उसे अनेक विपत्तियोंसे बचाया। शान्ति महासभामें उनके प्रतिनिधिने कहा था कि ट्रान्स-काकेशियाके पच्चीस लाख आरमीनियन यह चाहते हैं कि हम लोग आगे बढ़कर तुर्कीमें रहनेवाले अपने भाइयोंसे मिल जायँ और भूमध्य सागरसे कृष्ण सागर तक आरमीनियाका राज्य स्थापित करें।

जार्जियन सरकारके प्रतिनिधिने शान्ति महासभामें मित्र

राष्ट्रोंके प्रतिनिधियोंसे कहा था कि आरमीनियनोंकी तरह हम लोगोंको भी यही आशा थी कि राज्यक्रान्तिके बाद रूस छोटे छोटे स्वतंत्र राज्योंका एक संघ बन जायगा और सब जातियाँ अपने अपने राज्यमें पूर्ण स्वतंत्रताका भोग करेंगी। हम लोग रूससे अलग तो नहीं होना चाहते थे, पर बोल्शेविकोंकी कार्रवाइयोंसे अब हम लोगोंको यह आशा नहीं रह गई है कि रूसकी प्रजा स्वतंत्रता प्राप्त कर सकेगी। जार्जियनोंने आगे बढ़कर आरमीनियनों और तातारोंकी सहायतासे ट्रान्स-काकेशियामें एक अस्थायी सरकार स्थापित की थी; पर भिन्न भिन्न जातियोंमें उन्होंने जो एकता स्थापित की थी, उसे बोल्शेविकों और तुर्कोंने अनेक उपाय रच-कर नष्ट कर दिया। ब्रेस्ट-लिटोस्ककी सन्धिके बाद तातार लोग तुर्कोंके साथ मिल गये। जब जार्जियनों और आरमीनियनोंने उस सन्धिको माननेसे इन्कार कर दिया, तब तुर्कोंने कार्स और आर्दूम पर अधिकार कर लिया और वहाँके आरमीनियनों तथा जार्जि-यनोंको या तो हत्या करके और या भूखों मार डाला। जून १९१८ में जरमनोंने ट्रान्स-काकेशियाके ईसाइयोंकी रक्षाके बहानेसे हस्तक्षेप किया। जब आरमीनियनों और जार्जियनोंने समझ लिया कि अब तातारोंका हमारा साथ नहीं हो सकता, तब उन लोगोंने जरमनोंकी अधीनतामें जानेसे बचनेके लिए अपनी उस पुरानी अस्थायी सरकारको तोड़ डाला, जो उन्होंने टिफलिसमें स्थापित की थी; और अपने अपने अलग स्वतंत्र राज्य स्थापित किये। यदि जार्जियाकी स्वतंत्र सरकार बनी रह गई, तो वही अधिकांश ट्रान्स-काकेशियाकी मालिक रहेगी। उसके एक ओर आरमीनिया रहेगा और दूसरी ओर रूस। बहुतसे आरमीनियन भी जार्जियनोंके इस शासनमें आ जायँगे। पर आरमीनियन लोग फिर तुर्कोंसे मिल गये हैं और उन्हें अपने भविष्यके सम्बन्धमें

बहुत बड़ी बड़ी आशाएँ हो गई हैं, इसलिए वे अपने थोड़े से भाइयोंका जार्जियनोंके अधिकारमें रहना स्वीकृत कर लेंगे। उधर जार्जियनोंने भी बहुत कुछ स्वार्थत्याग किया है और अपनी सीमा-के कई ऐसे प्रान्त आरमीनियनोंको दे दिये हैं जो ऐतिहासिक तथा जातीय दृष्टिसे जार्जियाके ही अधिकारमें रहने चाहिए थे।

ट्रान्स-काकेशियाके आरमीनियन यदि तुर्की आरमीनिया और साइलेशियासे मिले रहें, तो भविष्यमें उनके बहुत कुछ कल्याणकी आशा हो सकती है। पर इसमें सन्देह है कि जार्जियन लोग अपने नये प्रदेशोंका ठीक ठीक प्रबन्ध कर सकेंगे या नहीं। आरमीनियन लोग तो किसी बड़ी शक्तिके संरक्षणमें जानेके लिए तैयार हैं; पर यदि जार्जियन लोग भी यही बात मंजूर कर लें, तो उनके हकमें बहुत अच्छा हो। क्योंकि जिस प्रदेशको जार्जियन लोग अपने अधिकारमें रखना चाहते हैं, उसकी आबादी तो चालीस लाखसे अधिक है, पर उस देशमें स्वयं जार्जियनोंकी संख्या तेरह लाखसे कुछ ही ऊपर है। उनकी अपेक्षा तुर्क तातारोंकी संख्या ही वहाँ अधिक है। इसके अतिरिक्त वहाँ कुछ फारसवाले भी हैं। वास्तव-में बात यह है कि वहाँ इतनी जातियोंके लोग बसते हैं कि ट्रान्स-काकेशियाके उस प्रदेशको उनमेंसे किसी एकके अधिकारमें करना किसीके लिए सन्तोषजनक नहीं हो सकता। जार्जियन लोग वहाँ एक स्वतन्त्र राष्ट्र स्थापित करनेके उद्योगमें हैं सही, पर वहाँ अनेक जातियोंके विलक्षण मिश्रणके कारण उनकी इस आशाकी पूर्तिमें बहुत बाधा पड़ती है। एक बार जार्जियनों, आरमीनियनों और तातारोंको मिलाकर एक सरकार कायम करनेकी कोशिश की गई थी; पर उससे भी काम न निकला। इस सम्बन्धमें शान्ति महा-सभाका निर्णय अवश्य ही अस्थायी होगा; क्योंकि रूसके साथ उसका बहुत ही विलक्षण सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त उस देशको

सब प्रकारकी उन्नति और राजनीतिक महत्व भी रूसके कारण ही प्राप्त हुआ है । रूसके साथ उस देशका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि आगे चलकर जब रूसमें शान्ति और व्यवस्था हो जायगी, तब उसे ट्रान्स-काकेशियाकी अवश्य आवश्यकता पड़ेगी और सम्भवत: वह स्वयं भी रूसके बाहर न रह सकेगा । इस समय आरमीनियन लोग भले ही तुर्कीके आरमीनियनोंसे मिल जायँ, पर आगे चलकर उनको रूसके साथ मिलना ही पड़ेगा ।

पर अँगरेजोंने यह बात नहीं समझी और वे ऐसी चालें चल रहे हैं, जो यदि लोगोंको मालूम हो जायँ तो, उनकी बहुत निन्दा हो । १९१९ के आरम्भमें ब्रिटिश युद्ध-विभागने निश्चित किया था कि सेनाकी सहायतासे ट्रान्स-काकेशिया पर अधिकार कर लिया जाय और उसको सदाके लिए रूससे छीन लिया जाय । इससे अँगरेजोंके दो लाभ हैं। एक तो यह कि बाकूकी तेलकी खानें अनायास उनके हाथ आ जायँगी; और दूसरे यह कि आगे कभी फारस में रूसके घुसनेकी आशंका न रह जायगी । अँगरेजोंने आरमीनियनोंकी तो उपेक्षा की और तातारोंके साथ मेल-मिलाप पैदा कर लिया। अँगरेजोंके संरक्षणमें तातारोंने आजरबायजानका प्रजातंत्र स्थापित किया । उनके इस प्रदेशमें काकेशसका पूर्वी भाग और तेलकी खानें आ गई थीं। इस प्रकार अपना प्रजातंत्र स्थापित करके उन लोगोंने शान्ति महासभामें अपने प्रतिनिधि भेजे। उनमें एक तातार था जो पहले तुर्कोंका दुष्ट कारिन्दा था। उसे अँगरेजोंने काराबाग नामक स्थानका गवर्नर जनरल बना दिया । काराबाग एक ऐसा प्रदेश है, जहाँ आरमीनियन लोग प्राय: एक हजार बरससे पूर्ण स्वतंत्रताका भोग करते आते हैं। इसके बाद एक दूसरे अँगरेज सैनिक अधिकारीने आरमीनियाके हथियार छीननेमें तातारोंको सैनिक सहायता दी और तब तातारोंने शूशा नामक

स्थानके आस पास आरमीनियनोंका कत्ले-आम किया। इधर बोल्शेविकों पर जो आक्रमण हो रहा था, उसमें जनरल डेनिकिनकी अधीनतामें कुछ अँगरेज अफसर सहायता दे रहे थे। पर ठीक उसी समयमें कुछ दूसरे अँगरेज अफसर तातारों और जार्जियनों-को इस उद्देश्यसे सहायता दे रहे थे कि वे अँगरेज जनरल डेनि-किनका विरोध करें और उनको काकेशसमें फिरसे रूसियोंका अधिकार न स्थापित करने दें। बस इस तरहकी दोहरी चालें अँगरेज लोग चल रहे थे। वे इधर भी सहायता देते थे और उधर भी। इससे यह बात सिद्ध होती है कि साम्राज्य-लिप्सा लोगोंको सिद्धान्त और नीतिसे कितना गिरा देती है! कदाचित् उनका यही सिद्धान्त रहता है कि साम्राज्य-वृद्धिके लिए जो कुछ किया जाय, वह सब ठीक है। उसमें अनौचित्य या अन्यायका प्रवेश नहीं हो सकता।

मध्य एशियाके कुछ प्रदेश, जिनमें यूराल्स्क, तुरगई, अकमो-लिन्स्क और सेमिपेलाटिन्स्क शामिल हैं, मिलकर तुर्किस्तान कहलाते हैं। उसमें अनेक विलक्षणताएँ और समस्याएँ हैं, इसलिए अभी बरसों तक निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि भविष्यमें उसके राजनीतिक सम्बन्ध कैसे और किनके साथ होंगे। वहाँ कई जातियों-के प्रायः चालीस लाख आदमी बसते हैं। यूराल्स्कमें वहाँके कज्जाक रहते हैं और मछलियाँ मारकर अपना निर्वाह करते हैं। एकमो-लिन्स्कमें बहुत से रूसी जा बसे हैं जो खेती-बारी करते हैं। वहाँके पहाड़ोंमें ताँबा, कोयला और सोना है, इसलिए वहाँ युरोपियन भी पहुँचने लगे हैं। सेमिपेलाटिन्स्कमें भी रूसी जा बसे हैं। इन चारों प्रदेशोंमें कुछ मुसलमान तूरानी भी बसे हुए हैं जो खाना-बदोश हैं। वे चौपाये पालते और उनका रोजगार करते हैं। वहाँ पानी कम मिलता है। यदि वहाँ सिंचाईका प्रबन्ध हो जाय, तो

अच्छी खेती हो सकती है; और यदि आवागमनके लिए मार्ग बन जायँ तो खानोंका काम बहुत मुनाफेसे चल सकता है। अपनी भौगोलिक स्थितिके कारण सम्भव है कि कुछ दिनोंमें यूराल्स्कके रंगढंग बिलकुल युरोपके से हो जायँ। बाकी तीनों प्रान्तोंके दक्षिणी भाग सभी दृष्टियोंसे तुर्किस्तानसे सम्बन्ध रखते हैं।

तुर्किस्तानमें अधिकांश रेगिस्तान और पहाड़ हैं। उसके पश्चिम-में खीवा और दक्षिणमें बुखाराका संरक्षित राज्य है और पामीरका इलाका है, जिसमें प्राय: कोई आबादी नहीं है। कैस्पियन सागरसे लेकर फारस और अफगानिस्तानकी सीमाओं तक जितना प्रदेश है, वह ट्रान्स-कैस्पियन कहलाता है। पहले इस देशका अधिकांश उजाड़ था, पर इधर रेलें आदि बननेके कारण आर्थिक और राजनीतिक दोनों दृष्टियोंसे उसका महत्व बढ़ गया है। वह रेल कैस्पियन सागरके तटसे लेकर फारसकी उत्तरी सीमाके पाससे होती हुई बुखारा, कोकन्द और अफगानिस्तानकी सीमा तक आई हुई है। थोड़ेसे ही परिश्रम और व्ययसे वह फारसके खुरासान प्रान्त और अफगानिस्तानके हिरात नगरसे मिलाई जा सकती थी। पर अँगरेजोंको रूसियोंका डर था, इसलिए रेलोंका यह संयोग न हो सका। चाहे रेलोंसे फारस और अफगानिस्तान-का कितना ही लाभ क्यों न हो, पर अँगरेज लोग यह बात कभी गवारा नहीं कर सकते कि उन प्रदेशोंमें उनके विपक्षी रेल बनावें। अर्थात् अँगरेज जबरदस्त हैं। यदि वे अपना लाभ देखें तो फारस और अफगानिस्तानको लाभ उठानेसे रोक सकते हैं, क्योंकि वे दोनों कमजोर हैं। बोलो साम्राज्यवादकी जय!

मध्य एशियामें बुखारा और खीवाकी दो देशी रियसतें हैं, जिनमें उजबग लोग बसते हैं। ये दोनों रियासतें रूसके संरक्षणमें थीं। तैमूरके विशाल साम्राज्यमेंसे अब यही दो रियासतें बच रही हैं।

तीनों ओरसे रूसियोंने बढ़ बढ़कर इन दोनों रियासतोंकी बहुत सी जमीन हजम कर ली थी। खीवासे बहुत सा प्रदेश लेकर ट्रैन्स-कैस्पियन और बुखारासे बहुत सा प्रदेश लेकर तुर्किस्तान प्रान्त बनाया गया है। बुखारा सन् १८७३ में रूसियोंके संरक्षणमें आया था और वहाँके अमीरने मंजूर किया था कि जब तक कोई विदेशी रूसी सरकारका परवाना लेकर न आवेगा, तब तक हम उसको अपने देशमें आने न देंगे। खीवाके खाँने १८५० में जारका प्रभुत्व स्वीकृत किया था। १८७२ में रूसियोंने खीवा पर आक्रमण किया और उससे बहुत सा हरजाना माँगा, जो वह दे न सका। इससे और रूसी रेलोंके बननेसे ये संरक्षित राज्य बिलकुल रूसके अधिकारमें आ गये। १८७७ के तुर्की-रूसवाले युद्धके कुछ वर्ष पहले जब खीवा और बुखारामें रूसी बहुत आगे बढ़ आये, तब अँगरेजोंने समझा था कि कहीं हमें फिर रूससे न लड़ना पड़े। पर लड़ाईकी नौबत नहीं आई। हाँ, मध्य एशियामें रूसियोंके रेल बनाने और फारसके कामोंमें हस्तक्षेप करनेके कारण अँगरेज उनसे बहुत सशंकित रहते थे। बीसवीं शताब्दीके आरम्भमें भी अँगरेजों और रूसियोंका युद्ध होनेको था, पर १९०७ वाले समझौते-के कारण वह भी टल गया।

अप्रैल १९१७ में बुखाराके अमीर और खीवाके खाँने अपने सिरसे रूसियोंका बोझ दूर कर दिया और अपनी प्रजाको प्रजा-तंत्र शासन देनेका वचन दिया। इन दोनोंने यह भी घोषणा कर दी कि रूसियोंने तुर्किस्तान और ट्रान्स-कैस्पियनके जो प्रान्त हमसे ले लिये हैं, हम उनको फिर वापस लेना चाहते हैं। १९१७ के अन्तमें मध्य एशियामें भी बोल्शेविज्म फैलने लगा। ताशकन्द और मर्वमें बोल्शेविक शासन स्थापित हो गया। जब अन्तिम बार तुर्कोंने आक्रमण आरम्भ किया था, तब यह खबर मिली थी कि

तुर्क लोग सब तूरानियोंका एक संघ बनाना चाहते हैं, जिसमें मध्य एशिया और अफगानिस्तानवाले भी सम्मिलित होना चाहते हैं। पर जब तुर्की बैठ गया, तब अँगरेजोंने मर्वमें अपनी कुछ सेना भेज दी। अफगानिस्तानके अमीर हबीबुल्लाके द्वारा अँगरेजोंने इस बातका उद्योग आरम्भ किया कि मध्य एशियावाला संघ हमारे हाथमें आ जाय और मध्य एशिया पर भारत सरकारका राजनीतिक प्रभुत्व रहे। पर फरवरी १९१९ में हबीबुल्ला खाँ मार ही डाले गये। उनके उत्तराधिकारी अमानुल्ला खाँने यद्यपि हत्यारोंको खूब दण्ड दिया, तथापि वे अँगरेजोंके विरोधी थे; इसलिए अँगरेजोंने लाचार होकर मर्व खाली कर दिया और अब सम्भवतः मध्य एशियामें उनकी कुछ भी नहीं चलती।

रंग ढंगसे मालूम होता है कि उधर काकेशसमें भी अँगरेजोंको निराश ही होना पड़ेगा। आजकल चाहे जो हो, पर जब रूसमें सुव्यवस्था हो जायगी, तब वह कभी इस बातको गवारा न कर सकेगा कि काकेशसमें अँगरेजोंका प्रभुत्व बढ़े। यदि रूसमें बोल्शेविकोंकी ही तूती बोलती रहे और वहाँवालोंको साम्राज्य-लिप्साका रोग न लगे, तो भी अँगरेजोंके लिए एक और खटका है। तुर्किस्तानमें राष्ट्रीयताकी जो लहर उठ रही है, उसका तूरानी, ईरानी और भारतीय मुसलमानों पर भी अवश्य प्रभाव पड़ेगा। तब कहीं जाकर रूसके विरोधी अँगरेजोंको यह मालूम पड़ेगा कि पश्चिमी तथा मध्य एशियामें युरोपियनोंका प्रभुत्व उसी दशामें बना रह सकता है जब कि रूस वहाँके राष्ट्रीय आन्दोलनोंको दबाता रहे। सम्भव है कि कोई ऐसा दिन भी आ जाय जब कि युरोपियनोंके प्रभुत्वका विरोध करनेके लिए भारत, अफगानिस्तान और फारसके निवासी उजबग और किरगिज लोगोंके साथ मिल जायँ।

(१६)

जापानका प्रसार

सिंगापुरसे कमसचटका तक एशियाके पूर्वमें टापुओंकी एक शृंखला है। ये टापू प्रशान्त महासागर और एशियाके बीचमें और साथ ही एशिया तथा आस्ट्रेलियाके बीचमें एक अवरोधका काम देते हैं। बोर्नियोके उत्तरी तट पर ग्रेट ब्रिटेनका और टिमूरके पूर्वमें पुर्तगालका राज्य है। गत महायुद्धके समय तक न्यू गायना और उसके आस पासके टापुओं पर जर्मनीका अधिकार था। फिलिपाइन्स टापू जो चीनके तट और डच ईस्ट इण्डीजके मध्यमें एक कड़ीका काम देते हैं, पहले स्पेनके हाथमें थे और उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तमें उसके हाथसे निकलकर अमेरिकाके हाथमें चले गये थे।

टापूवाला साम्राज्य प्रायः टापुओंकी ही चिन्ता करता है। पर जब जापानकी शक्ति बढ़ चली, तब उसने देखा कि न्यू जीलैण्ड और आस्ट्रेलिया पर तो अँगरेजोंका पूरा पूरा अधिकार है; और दूसरे जिन टापुओं पर राजनीतिक और आर्थिक दृष्टिसे जापानका अधिकार हो सकता था, वे सब टापू और और युरोपियन शक्तियोंके उपनिवेश बन चुके हैं। जापानने देखा कि हम अपने आस पासके टापुओंमें भी शायद ही स्थान पा सकें। उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें उसने बड़ी कठिनतासे आस पासके कुछ थोड़े से छोटे मोटे टापुओं पर किसी प्रकार अधिकार प्राप्त किया। उत्तरमें क्यूराइल टापू थे जो जापान और कमसचटकाके बीचमें पड़ते थे। जापानने सघेलियन टापूके अपने अधिकार छोड़कर रूससे उसके क्यूराइल टापू पर अधिकार प्राप्त किया था। यद्यपि सघेलियन टापू भौगोलिक

और ऐतिहासिक दृष्टिसे जापानका ही एक अंग था, तथापि उस समय उसे क्यूराइलके लिए वह टापू दे ही देना पड़ा। इसके बाद जापानने चीनसे लड़कर फारमोसा और रूससे लड़कर सघेलियनका दक्षिणार्ध ले लिया। फिर जब उसने कोरिया पर अधिकार कर लिया, तब मानों वह जापान और मंचूरियाके बीचके समुद्रका पूरा मालिक बन गया और उसे इस बातकी चिन्ता न रह गई कि अब यहाँ युरोपियन लोग अपने बेड़ोंके लिए अड्डा बना सकेंगे अथवा कोयला लादनेके स्टेशन रख सकेंगे। इसके बाद गत महायुद्धमें उसने जर्मनोंसे मेरियाना, मार्शल, कारोलिन और पेल्यू टापू ले लिये।

फारमोसाका क्षेत्रफल प्रायः चौदह हजार वर्ग मील है और वहाँ प्रायः सैंतीस लाख आदमी बसते हैं। फारमोसा और चीनके बीचमें छोटे छोटे बारह टापुओंका एक पुंज है जो फारमोसामें मिला लिया गया है। बीस बरसमें जापानियोंने वहाँ साढ़े तीन सौ मील रेलें बनाई हैं और बहुत सी अच्छी और बड़ी सड़कें तैयार की हैं। वहाँ चाय और गन्नेकी पैदावार खूब है। यद्यपि वहाँके व्यापार और खानोंसे खूब आमदनी होती है, तथापि वहाँका सैनिक व्यय इतना अधिक है कि जापानको सदा कुछ न कुछ घाटा ही सहना पड़ता है। इसका कारण यह है कि जापान वहाँके आदिम निवासियों पर भी शासन करना चाहता है और इसीके लिए उसको अधिक व्यय करना पड़ता है। चीनियोंने कभी उन पर शासन करनेका उद्योग नहीं किया था। वहाँके आदिम निवासी जंगली और आदमखोर मलय हैं। पहले उनके कामोंमें किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। हाँ, जब वे लोग मैदानोंमें आकर आक्रमण करने लगते थे, तब वहाँवाले उनसे उसी प्रकार अपनी रक्षा करते थे, जिस प्रकार गाँववाले जंगली

जानवरोंके आक्रमणसे अपनी रक्षा करते हैं। चीनियोंने सीमाओं पर कुछ ऐसे रक्षक नियुक्त कर छोड़े थे, जो इन आदमखोरोंको मैदानोंमें आनेसे रोकते थे। आरम्भमें पन्द्रह बरसों तक तो जापानियोंकी भी यही नीति रही; पर पीछे उन्होंने उन जंगलियोंको रोकनेके लिए वैज्ञानिक उपायोंसे काम लिया। उन्होंने सीमाओं पर कँटीले तार लगा दिये और मुख्य मुख्य स्थानों पर तोपें खड़ी कर दीं। १९१० में उन्होंने यह निश्चय किया कि उन जंगलियोंके प्रान्तोंमें भी शासन आरम्भ हो और इस प्रकार सदाके लिए उनके आक्रमणोंका खटका मिटा दिया जाय। इसके लिए एक व्यवस्था सोची गई, जिसमें बहुत सा धन व्यय होनेको था और जो पाँच बरसमें पूरी होनेको थी। १९१४ में सूचना मिली कि ६७० जंगली जातियोंमेंसे ५५० जातियोंने अधीनता स्वीकृत कर ली है और उनके ढाई हजार बालक स्कूलोंमें पढ़ने लग गये हैं। इस उद्योगका फल यह हुआ कि बहुतसे अच्छे जंगल और खानें हाथ आ गईं और खेती-बारीके लिए भी बहुत सी नई जमीन निकल आई। जापानके सैनिक उन प्रान्तोंमें बहुत कुछ जान-जोखिम सहते हैं, इसलिए उनको फारमोसामें इतनी अधिक सफलता हुई है, जितनी डचोंको सुमात्रा और बोर्नियोमें नहीं हुई।

फारमोसाके सभ्य निवासियोंने भी जापानको कम तंग नहीं किया। जबसे चीनमें प्रजातन्त्रकी घोषणा हुई है, तबसे वहाँ नौ बार उत्पात और उपद्रव हो चुके हैं। इन सब उपद्रवोंका ठीक ठीक पता तो नहीं चलता, पर फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि १९१३ और १९१५ वाले उत्पात बड़े ही भयङ्कर थे। उनमें कई जापानी मार डाले गये थे और कई सरकारी भवन जला दिये गये थे। इन उपद्रवोंके नेता १९१३ में पकड़े गये थे। उस समय तक उपद्रव अधिक नहीं फैला था। १९१५ में प्रायः पन्द्रह सौ देशी

नैनिक-न्यायालयोंमें उपस्थित किये गये थे, जिनमेंसे ८६६ को फाँसीकी सजा दी गई थी। पर पीछेसे वर्तमान सम्राट्ने अपने राज्याभिषेकके समय उनमेंसे अधिकांशको छोड़ दिया था और केवल ९५ फाँसी पर चढ़ाये गये थे। इन सब उपद्रवोंसे यह सिद्ध होता है कि कोरियावालोंकी तरह फारमोसावाले भी जापानियोंको नहीं चाहते, चाहे जापानियोंने फारमोसाकी अवस्था कितनी ही क्यों न सुधारी हो।

१९०९ में जापान सरकारने फारमोसामें उपनिवेश स्थापित करनेका उद्योग किया था; पर कोरियाकी तरह वहाँ भी उसे सफलता नहीं हुई। अब तक फारमोसामें केवल डेढ़ लाख जापानी बस सके हैं जो वहाँकी आबादीको देखते हूए चार प्रति सैंकड़े हैं। फारमोसासे जापानको कुछ विशेष अनाज भी नहीं मिलता; क्योंकि वहाँ जितना चावल होता है, वह प्रायः वहीं खर्च हो जाता है और उसका लगभग सातवाँ भाग ही बचता है।

सघेलियन बहुत बड़ा टापू है और वहाँका प्रदेश प्रायः पहाड़ी है। रूस-जापान युद्धके बाद उसका दक्षिणार्ध जापानको वापस मिला था। उसकी आबादी दिन पर दिन घट रही है। कृषिके योग्य जो भूमि रूसियोंने छोड़ी थी, उसमेंसे बहुत कममें जापानी आबाद हो सके हैं और पन्द्रह सोलह वर्षके बाद भी उनकी संख्या सत्रह हजार तक ही पहुँच सकी है। जापान सरकारका अनुमान है कि वहाँकी नौ दस लाख एकड़ भूमिमेंसे केवल नौ दस हजार एकड़ भूमि जापानी लोग जोत-बो रहे हैं। वहाँ जंगल, कोयले, मिट्टीके तेल, लोहे और सोनेसे बहुत लाभ हो सकता है; पर इसके लिए पूँजी और मजदूरोंकी बहुत कमी है। गरमीमें तो वहाँ जापानसे प्रायः सत्तर हजार मजदूर काम करनेके लिए चले जाते हैं; पर जाड़ा वहाँ बहुत कड़ा पड़ता है, इसलिए उस मौसिममें वहाँ

कोई जानेके लिए तैयार नहीं होता। इससे यह आशा नहीं है कि सघेलियनमें अधिक जापानी जाकर बस सकेंगे।

प्रशान्त महासागरमें जरमनीके जो उपनिवेश थे, वे आस्ट्रे-लियाके उत्तर और फिलिपाइन्सके पूर्वमें थे। कैसर विल्हम्स लैण्ड, बिस्मार्क द्वीपपुंज और सोलोमन टापू, जो आस्ट्रेलियाके ठीक उत्तरमें पड़ते हैं, फ्रान्सीसियों और आस्ट्रेलियनोंने जीत लिये थे। समोआमें जरमनोंका जो कुछ था, वह न्यू जीलैण्ड-वालोंने ले लिया। पेल्यू, मेरियाना, कैरोलिन और मार्शल आदि दूसरे द्वीपपुंजों पर जापानियोंने अधिकार कर लिया। मार्शल टापू १८८५ से जरमनीके हाथमें थे और पहले वहाँका शासन-प्रबन्ध एक प्राइवेट कम्पनी करती थी। मेरियाना टापुओंके केवल ग्वाम टापूको छोड़कर, जिसे अमेरिकाने अपने जहाजोंका अड्डा बनानेके लिए रख लिया था, बाकी तीनों द्वीपपुंज जरमनीने स्पेन और अमेरिकावाले युद्धके बाद अमेरिकासे खरीदे थे। ये सब टापू न तो बहुत बड़े हैं और न सम्पत्तिशाली। पर हाँ, सैनिक कार्योंके लिए प्रशान्त महासागरमें उनके जोड़के और टापू नहीं हैं। शान्ति महासभामें आस्ट्रेलियाने इस बातका घोर विरोध किया था कि जरमनीके इन पुराने टापुओं पर जापानका अधि-कार हो। झगड़ा तोड़नेके लिए जापानने पेल्यू और मेरियाना टापुओंके बीचमें पड़नेवाले याप टापू पर अधिकार करके भी वह आस्ट्रेलियाको दे दिया। आस्ट्रेलियावालोंने यह टापू इसलिए लेना आवश्यक समझा था कि हांगकांग और सिडनीके बीचमें आने जानेवाले जहाज और समुद्री तार यहींसे होकर जाते हैं। वार्सेलसकी सन्धिके अनुसार जर्मनीने ये सब टापू मित्र राष्ट्रोंको दे दिये थे। पीछेसे ग्रेट ब्रिटेन और जापानमें समझौता हो गया और भूमध्य रेखासे उत्तरके सब जर्मन टापू जापानको मिल गये।

यद्यपि जापानने ये सब टापू अपने अधिकारमें कर लिये हैं, और पहलेसे भी उसके पास अनेक टापू हैं, तथापि इन टापुओंसे उसको कोई विशेष लाभ नहीं हुआ है। न तो उसकी बढ़ती हुई प्रजा उन टापुओंमें जाकर बस सकती है और न उनसे उसको कोई व्यापारिक लाभ होता है। यदि आगे चलकर राष्ट्रसंघ सचमुच कुछ काम कर सकेगा, तो जापानका १८९५ से अब तकका टापुओंके सम्बन्धमें किया हुआ उद्योग व्यर्थ हो जायगा। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्डवाले भी यही चाहते हैं कि ये सब टापू जापानके हाथमें न रह सकें। पर प्रश्न तो यह है कि यदि संसारके अन्यान्य कम आबादीवाले देशोंकी तरह आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड भी केवल गोरोंके लिए ही सुरक्षित रहेंगे, तो फिर जापानी कहाँ जायँगे ?

(१७)

कोरियाका स्वातन्त्र्य-हरण

एशियाका कोरिया प्रायद्वीप जापान सागर और पीत सागरके बीचमें जापानकी ओर निकला हुआ है। जापानके लिए जापान सागरका उतना ही महत्व है, जितना उत्तर सागरका ग्रेट ब्रिटेनके लिए है। कहा जाता है कि कोरिया प्रायः जापानके कलेजे पर तनी हुई कटार है; और यह बात है भी बहुत ठीक। यदि कोरिया किसी युरोपियन शक्तिके हाथमें होता, तो वह जापानके लिए उतना ही भयानक होता, जितना ग्रेट ब्रिटेनके लिए बेल्जियमका जर्मनीके हाथमें रहना। यदि कोरियामें कोई युरोपीय शक्ति हो, तो वह जापानको चीनसे बिलकुल अलग करके चीनके उत्तरी भाग पर सहजमें पूरा पूरा अधिकार कर सकती है।

अनेक शताब्दियों तक जापानकी तरह कोरियामें भी बाहरी लोग नहीं जाने पाते थे। अनेक बार पादरियों और व्यापारियोंने कोरियामें घुसनेका उद्योग किया, पर हर बार खाली खून-खराबी ही हुई। जापानमें विदेशियोंके प्रविष्ट होनेके बहुत दिनों बाद कोरियामें विदेशियोंका प्रवेश और निवास आरम्भ हुआ था। बस यही एक बात ऐसी थी जिसके कारण एशियाका कुछ अंश युरोपियनोंके हाथमें जानेसे बच गया। हुआ यह कि जिस समय युरोपियनोंने कोरियाको भी उसी दुरवस्थामें पहुँचाना चाहा, जिस दुरवस्थामें वे एशियाके और दुर्बल देशोंको पहुँचा चुके थे, उस समय तक जापान यथेष्ट बलवान् हो चुका था और युरोपियनोंकी साम्राज्य-लोलुपताका ज्ञान प्राप्त करके उसने अपनी परराष्ट्रीय नीति आप ही निर्धारित करना आरम्भ कर दिया था। जापानको इस बातका डर था कि कहीं रूस या ग्रेट ब्रिटेन कोरियाको हड़प न कर ले, इसलिए उसने कोरियाके कामोंमें हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया। इसके लिए उसने दो बड़े बड़े युद्ध किये और अन्तमें सारा कोरिया प्रायद्वीप अपने अधिकारमें कर लिया।

१८७६ से १८९२ तक जापान, अमेरिका, जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, इटली, रूस, फ्रान्स और आस्ट्रिया-हंगरीके साथ कोरियाकी सन्धियाँ हुईं, जिनके अनुसार उस प्रदेशमें विदेशियोंको रहने तथा व्यापार करने और ईसाइयोंको धर्म-प्रचार करनेका अधिकार मिला। बस फिर क्या था। इन विदेशी शक्तियोंके आदमी वहाँ अपनी पुरानी चालें चलने लगे और अनेक प्रकारके षड्यंत्र आदि रचकर वहाँ राजनीतिक अधिकार आदि प्राप्त करनेके उद्योगमें लग गये। एशियाके अन्यान्य देशोंकी तरह वहाँ भी वे लोग शासनके कामोंमें बाधा देने लगे और लोगोंको अनेक प्रकारके उपद्रव करनेके लिए उत्तेजित करने लगे। विदेशी राजदूत वहाँ राज्यक्रान्तिका

उद्योग करते थे और विद्रोही क्रान्तिकारियोंको अपने आश्रयमें रखते थे। साथ ही वे लोग कोरियाके बन्दरोंमें अनेक प्रकारके अधिकार प्राप्त करने और उनमें अपने जहाजी बेड़े रखनेका उद्योग करते थे और दूसरी शक्तियोंको ऐसा करनेसे रोकनेका उद्योग करते थे। उनके इन प्रयत्नोंसे जापान डर गया और कुछ समय तक वह कोरियाको परम स्वतंत्र रखनेके लिए उसका सहायक बन गया। जो युरोपियन शक्तियाँ कोरियामें अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहती थीं, उनका वह घोर विरोधी बन गया। जब उन शक्तियोंने देखा कि जापानके आगे कोरियामें हमारी दाल नहीं गलेगी, तब उन्होंने चीनके द्वारा अपना दुष्ट उद्देश्य सिद्ध करना चाहा। कोरिया पहलेसे चीनका अधीनस्थ देश था ही। चीनवाले इन विदेशियोंके बहकानेमें आ गये और कोरिया पर अपना अधिकार प्रमाणित करनेका उद्योग करने लगे। उधर कोरिया भी जापानसे डरता था; इसलिए वह भी सहजमें धोखा खा गया और जापानको छोड़कर चीनकी ओर जा मिला।

विदेशियोंकी इन चालाकियोंने मई १८९४ में एक विकट अवस्था उत्पन्न कर दी। कोरियामें एक उपद्रव खड़ा हुआ जिसे शान्त करनेके लिए उसने चीनसे सहायता माँगी। जापानके साथ चीनकी पहलेसे जो सन्धि थी, उसकी शर्तोंका ध्यान रखते हुए चीनने जापानको सूचना दी कि हम कोरियामें अपने दो हजार सैनिक भेज रहे हैं। उसने इस बातका आसरा नहीं देखा कि जापान भी अपनी सेना वहाँ भेजता है या नहीं, अथवा वह इस पर और क्या कार्रवाई करता है; और उसने चट अपनी सेना वहाँ भेज दी। इसका प्रतिकार करनेके लिए जापानने कोरियाकी राजधानी और बन्दरों पर अधिकार करनेके लिए अपने बारह हजार सैनिक वहाँ भेज दिये।

इस बीचमें एक और नई बात हो गई। अब वह समय आ चुका था जब कि या तो चीन और जापान मिलकर एक हो जायँ और युरोपियनोंके सम्बन्धमें मिलकर अपनी नीति स्थिर करें; और या एक दूसरेके शत्रु जायँ। युरोपियन लोग चीन पर अपना अधिकार बराबर बढ़ाते जाते थे जिससे जापान बहुत ही चिन्तित और दुःखी होता था। जापानके खूब विरोध करने पर भी चीन विदेशी शक्तियोंको बराबर अधिकार देता जाता था, जिससे इस बातकी आशंका होती थी कि कहीं पूर्व एशियामें युरोपियनोंका पूरा पूरा प्रभुत्व न स्थापित हो जाय। चीनियोंकी समझमें यह बात नहीं आती थी कि अपनी दुर्बलताके कारण हम किस प्रकार अपना और अपने आस पासके देशोंका सर्वनाश कर रहे हैं। अन्तमें चीनने सबसे बड़ी भूल यह की कि रूसको कोरियाके उत्तरमें जापान सागरके तट पर अधिकार कर लेनेकी आज्ञा दे दी। अब सारा दारमदार कोरिया पर ही आ पड़ा। चीनी यह समझते थे कि हमें कोरियाके सम्बन्धमें पूरा पूरा अधिकार है, इसलिए हम यदि चाहें तो विदेशियोंको भी वहाँ स्थापित कर सकते हैं। पर जापान उसका यह अधिकार नहीं मानता थ; इसलिए उसने चीनसे कहा कि आओ, हम और तुम मिलकर ऐसे उपाय निकालें जिनसे कोरियाकी अवस्थामें सुधार हो। वे उपाय उचित भी थे और काममें लाने योग्य भी। चीनियोंको भी उनके अनुसार काम करनेमें कोई आपत्ति नहीं थी। पर उन्होंने प्रश्न यह उठाया कि कोरिया पर प्रभुत्व किसका है और आगे किसका रहेगा? उनका यह कहना था कि जिस देश पर जापानका कोई स्वत्व नहीं है, उस देशमें सुधार करनेका उसे क्या अधिकार है? इसलिए चीनने कहा कि सुधारके इन उपायों पर विचार होनेसे पहले जापान अपने उन सैनिकोंको वापस बुला ले जो उसने कोरियामें भेजे हैं; क्योंकि

न तो जापानको इस प्रकार वहाँ सैनिक भेजनेका अधिकार है और न कोरिया या चीनसे उसे सैनिक भेजनेकी आज्ञा ही मिली है। इसके साथ ही चीनने यह भी कहा था कि कोरियाको यों ही छोड़ दिया जाय और वह अपना सुधार आप ही करे।

इस पर जापानने चीनके साथ युद्धकी घोषणा कर दी। १८९४ में संसारने पहले पहल देखा कि जापानकी जल और स्थल सेना किस प्रकार लड़ती है। युद्धमें चीनका पूर्ण पराजय हुआ और जापानने उससे मनमानी सन्धि पर हस्ताक्षर कराने चाहे। तब दूसरी शक्तियोंने बीचमें पड़कर उस सन्धिकी शर्तोंमें कुछ परिवर्त्तन कराये। लेकिन कोरियाने यह घोषणा कर दी कि हम चीनके अधीन नहीं हैं और हम जापानका साथ देंगे। युद्ध मुख्यतः इसी लिए हुआ था, और कोरियाकी यह घोषणा उसके बहुत अनुकूल हुई थी; अतः उसने इसीमें अपनी पूर्ण विजय समझी और सन्धिकी दूसरी शर्तोंमें थोड़ा बहुत परिवर्तन कर लिया। इसके उपरान्त चीन और जापानने मिलकर कोरियामें वे सुधार किये जो पहले जापानने सोचे थे। कोरियामें धीरे धीरे आधुनिक व्यवस्था स्थापित होने लगी। एक तो युरोपियन लोग जापानका युद्ध करना देखकर पहले ही चकित हो गये थे; दूसरे जब उन्होंने देखा कि युद्धके बाद कुछ ही महीनोंमें जापानियोंने कोरियामें अपना अच्छा रंग जमा लिया, तब उनको और भी आश्चर्य हुआ और उन्होंने समझ लिया कि पूर्व एशियामें यह हमारे मार्गमें बड़ा भारी कण्टक खड़ा हो गया। जापानने लोगोंको दिखला दिया था कि हम युरोपियनोंके ढंग पर केवल युद्ध करना ही नहीं जानते, बल्कि अपना प्रभुत्व बढ़ाना भी सीख गये हैं।

जापानके सुधार थे तो बहुत अच्छे, पर उनके प्रयोगका ढंग अच्छा नहीं था। कोरियावालोंने समझा कि चीन पर विजय प्राप्त

करके भी जापानकी आन्तरिक इच्छाएँ पूर्ण नहीं हो रही हैं, और इसलिए वह खिजलाकर उसका बदला हमसे लेना चाहता है। उधर रूस भी कोरियाके लिए उद्योग करता चलता था। कोरियामें जापानके प्रति घृणा बढ़ती जाती थी। अन्तमें १८९५ में जब जापानी सेनाने कोरियाका राजमहल घेर लिया और वहाँकी महारानीको मार डाला, तब कोरियावाले जापानियों पर बहुत ही बिगड़े। रूसने इस अवसरसे कुछ लाभ उठाना चाहा; और जब कोरियाके राजा अपने राजमहलसे भागे, तब रूसी राजदूतने उनको अपने आश्रयमें ले लिया। इसके बाद रूसियोंकी सहायतासे राजाने सब सुधार रद्द कर दिये और स्वतंत्रतापूर्वक फिरसे राज्य करना आरम्भ कर दिया। चीन-जापान युद्धसे पहले कोरियामें विदेशियोंके जितने षडयंत्र होते थे, उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तमें वे उससे और भी अधिक होने लगे। सभी शक्तियाँ अधिकार प्राप्त करनेके काममें एक दूसरीको दबाना और पछाड़ना चाहती थीं। पर बीसवीं शताब्दीके आरम्भमें और सब शक्तियाँ तो किसी न किसी प्रकार मैदानसे हट गईं और केवल रूस तथा जापानमें ही कोरियाके सम्बन्धमें प्रतिद्वन्द्विता रह गई।

मार्च १९०० में रूस-जापान युद्धका पहला कारण खड़ा हुआ। इस बातकी घोषणा हुई कि कोरियाका सर्वश्रेष्ठ बन्दर मेसेनपो रूसको मिल गया है और कोरियन सरकारने इस बातका वादा कर दिया है कि कोजी टापू किसी विदेशी शक्तिको न दिया जायगा। रूसने घोषणा की कि हम चाहते हैं कि मेसेनपोमें जाड़ेके दिनोंमें हमारे लड़ाईके जहाज रहा करें। इस प्रकार जापान सागरसे पीत सागरको जानेका मार्ग रूसके हाथमें चला जाता था और इससे जापान पर आपत्ति आ सकती थी। उसी समय रूस और जापानमें युद्ध हो जाता, पर बीचमें ही कोरियन सरकारने यह घोषणा

कर दी कि अब हम मेसेनपोमें रूसियोंको रहनेका अधिकार नहीं देते। प्रायः एक वर्ष तक बात चीत होनेके उपरान्त अन्तमें निश्चित हुआ कि मेसेनपोमें रूस और जापानको बराबर अधिकार रहें। उसी समयके लगभग कोरियनों और जापानियोंकी एक कम्पनीने राजधानी स्यूलसे पुसन नामक बन्दर तक रेल बनानेका अधिकार प्राप्त किया। यह पुसन बन्दर मेसेनपोके पास ही पड़ता था और जापानी समझते थे कि इस रेलके बन जाने पर हम ऐसी व्यवस्था कर सकेंगे जिससे मेसेनपो हमारे ही अधिकारमें रहेगा।

१९०३ में रूसने कोरियामें आगे बढ़नेका एक दूसरा उपाय निकाला और यालू नदीके उस पार कोरियाकी ओर अपनी एक बस्ती बसाई। कोरियन सरकारने इसका घोर विरोध किया। इस पर रूसने उत्तर दिया कि १८९६ में हमको जंगलसे लकड़ी काटनेका जो अधिकार मिला है, उसके उपयोगके लिए यह बस्ती बसाना आवश्यक है। पहले जो अधिकारपत्र लिखा गया था, उसमें इस बस्तीके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं लिखा था; इसलिए रूस चाहता था कि उसके परिशिष्ट रूपमें कुछ और बातें बढ़ा दी जायँ और जिस जमीन पर हमने बस्ती बसाई है, उस पर हमारा अधिकार मान लिया जाय। ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिकाकी स्वीकृतिसे जापानने कोरियाका पक्ष लिया। पर उस अवसर पर कोरियन सरकारने अपनी विलक्षण दुर्बलता दिखलाई। वह दोनोंमेंसे किसी पक्षमें नहीं जाना चाहती थी; इसलिए उसने चुप रहना ही उचित समझा। न तो उसने रूसियोंको वहाँसे निकालनेके लिए ही जोर दिया और न उसके परिशिष्ट-रूप तैयार किये हुए शर्तनामे पर हस्ताक्षर ही किये। उधर जापानको मैदानसे हटानेके लिए रूसने कोरियासे कहा कि जापान तुम्हारी राजधानीमें अपना बंक स्थापित करके जो नोट चला रहा है, तुम उसका विरोध करो। यहाँ यह

ध्यानमें रखना चाहिए कि यह पहला ही बंक था जो कोरियामें स्थापित हुआ था। कोरियाने यह बात मान ली और घोषणा कर दी कि जापानी नोट गैर-कानूनी हैं। पर साथ ही उसने उन नोटोंका प्रचार रोकनेका कोई उद्योग नहीं किया। अब कोई यह नहीं कह सकता था कि कोरियाने किसीके साथ पक्षपात किया। उसने दोनोंका विरोध किया, दोनोंकी बात रख ली और दोनोंको अपना अपना काम करने दिया। कैसी विलक्षण परिस्थिति थी! तात्पर्य यह कि कोरिया न आप अपनी रक्षा कर सकता था और न किसी एकका पक्ष लेकर दूसरेको नाराज करना चाहता था। उसने तो अपने आपको दोनोंके सामने इनामके तौर पर रख दिया था। अब उन दोनोंमें जो जबरदस्त हो, वह दूसरेको दबाकर इनाम ले ले!

जिस समय रूस-जापान युद्ध छिड़ा, उस समय जापानके मुकाबलेमें रूसकी नवशक्ति यथेष्ट नहीं थी, इसलिए जापानने सहजमें ही कोरिया पर अधिकार कर लिया। स्वयं कोरियावालोंने जापानका कोई विरोध नहीं किया। २२ फरवरी १९०४ को कोरियाके राजासे जबरदस्ती एक सन्धि पर हस्ताक्षर कराये गये जिसके अनुसार यह निश्चित हुआ कि कोरियाका शासन जापानके बतलाये हुए ढंगसे हो; और जिस समय कोरिया पर कोई विदेशी शक्ति आक्रमण करे, अथवा कोरियामें कोई आन्तरिक उपद्रव खड़ा हो, उस समय कोरियाके सैनिक दृष्टिसे महत्वपूर्ण स्थानों पर जापान अधिकार कर ले। इसके बदलेमें जापानने इस बातका जिम्मा लिया कि कोरिया बराबर स्वतंत्र रहेगा और उसका कोई प्रदेश छीना न जा सकेगा।

रूस पर विजय प्राप्त करनेसे पहले ही जापानने कोरिया पर अधिकार कर लिया था। कोरियाकी भौगोलिक परिस्थिति ऐसी थी

जिससे युद्धमें जापानको बहुत लाभ हुआ। मंचूरियामें रूसियोंसे लड़नेके लिए जापानने वहाँ अपना सैनिक अड्डा बनाया। राजधानी स्यूलमें एक जापानी रेसिडेण्ट और कुछ सैनिक रख दिये गये। पुसनसे यालू नदी तक जो रेल बननेको थी, वह चटपट तैयार कर ली गई। कोरियाके बन्दर जहाजी बेड़ेके अड्डे बना लिये गये। कोरियाके तट और आसपासके टापुओं पर जापानने प्रकाशगृह बना लिये। तात्पर्य यह कि कोरियामें बिना किसी प्रकारके रक्तपातके ही जापानने अपना पूरा राज्य स्थापित कर लिया। केवल चीनवाली सीमा पर युद्ध हुआ था। रूस-जापान युद्धमें कोरियाका कुछ भी नहीं बिगड़ा। रूसियोंने व्लेडिवास्टकमें उसका खाली जहाजी बेड़ा डुबा दिया। पर उस जहाजी बेड़ेमें था क्या? खाली एक छोटा सा स्टीमर जिसके लिए कोरियाने कई नवसेनापति नियुक्त कर रखे थे।

पोर्ट्स्माउथकी सन्धिके अनुसार रूसको यह मंजूर करना पड़ा था कि कोरियामें सबसे अधिक अधिकार जापानका है। इस सन्धि पर हस्ताक्षर होनेसे कई सप्ताह पहले ही ग्रेट ब्रिटेन और जापानकी सन्धि फिरसे दोहराई जा चुकी थी। उस सन्धिके अनुसार ग्रेट ब्रिटेन भी यह बात मंजूर कर चुका था कि कोरियामें सबसे अधिक अधिकार जापानका है और पूर्व एशियामें शान्ति स्थापित रखनेके लिए यह आवश्यक है कि जापान अपने उन अधिकारोंकी रक्षाके लिए कोरियामें अपने इच्छानुसार व्यवस्था कर सके। अँगरेजों और जापानियोंकी इस सन्धि पर १२ अगस्त १९०५ को और पोर्ट्स्माउथकी सन्धि पर ५ सितम्बरको हस्ताक्षर हुए थे। पर जापान पहलेसे ही यह समझता था कि ये दोनों सन्धियाँ इस प्रकार होंगी, इसलिए उसने १९०५ के आरम्भमें ही कोरियाका सैनिक बल बहुत घटा दिया था और वहाँका सारा शासन-प्रबन्ध अपने हाथमें ले लिया था। वहाँके सिक्के तक जापानके ढंग पर

ढलने लग गये थे। जापानी नेशनल बंकके नोट भी कानूनके अनु-सार जायज बना दिये गये और १ जून १९०५ को वह बंक स्वयं कोरियन सरकारका खजाना भी बना दिया गया।

युद्ध समाप्त होने पर जापान जल्दी जल्दी कोरियाको अपना एक प्रान्त बनानेके उद्योगमें लग गया। वहाँकी जो कुछ बची खुची सेना थी, वह भी तोड़ दी गई और वहाँके राजाके राजमहलकी रक्षाके लिए केवल पन्द्रह सौ आदमी रहने दिये गये। वहाँकी रेलों, तारों और डाकखानों पर भी जापानियोंका अधिकार हो गया और कोरियाके टिकटों आदिका छपना बन्द कर दिया गया। नवम्बर १९०५ में मार्किस इटोने कोरियाके राजाको एक ऐसी सन्धि करने-के लिए विवश किया, जिसके अनुसार कोरियाके पर राष्ट्र विभागका सब काम जापानियोंके हाथमें आ गया और देशका शासन-कार्य स्यूलमें रहनेवाले एक जापानी रेसिडेण्ट जनरलके निरीक्षणमें आ गया। राज्यके सभी विभागोंमें, और यहाँ तक कि राजमहलमें भी, जापानी परामर्शदाता नियुक्त हो गये।

जापानियोंने अँगरेजों और रूसियोंके साथ जो सन्धि की थी, यद्यपि उससे कोरियाका बहुत घनिष्ट सम्बन्ध था, तथापि उसके सम्बन्धमें न तो कोरियासे सलाह ली गई थी और न पहलेसे उसको उसकी कोई सूचना दी गई थी। कोरियाके राजाने यह भी साफ कह दिया कि मार्किस इटोने अपनी सन्धि पर मुझसे जबरदस्ती दस्तखत कराये हैं। इस सम्बन्धमें एक तार अमेरिका भी भेजा गया था। कोरियाके दो राजमंत्री इस घटनासे इतने दुःखी हुए थे कि उन्होंने आत्महत्या कर ली। पर कोरियाके इन विरोधों पर किसी शक्तिने कुछ ध्यान नहीं दिया। सबसे पहले अमेरिकाने ही स्यूलसे अपना राजदूत वापस बुला लिया। इसके बाद और शक्तियोंने भी उसका

अनुकरण किया। कोरियाके राजदूतावास बन्द हो गये और उसके सम्बन्धकी सब बातें टोकियोके द्वारा तै होने लगीं।

१९०६ में कोरियाके दक्षिणी और पूर्वी भागोंमें जापानियोंके विरुद्ध कुछ विद्रोह खड़े हुए थे जिन्हें जापानियोंने सेनाकी सहायतासे दबाया था। कोरियासे बाहर रहनेवाले कुछ कोरियाओंने भी उपद्रव खड़े किये थे। मार्किस इटोने कोरियाके पक्षपाती अनेक कर्मचारियों और नेताओंको पकड़ लिया और राजाको एक प्रकार बिलकुल बन्दी बना लिया। जिन मंत्रियोंने १९०५ वाली सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे, उनकी हत्या करनेके लिए १९०७ में एक षड्यंत्र रचा गया था। उस षड्यंत्रमें सम्मिलित होनेके कारण वहाँके तेंतीस बहुत बड़े बड़े नेताओं आदिको फाँसीकी सजा हुई थी। इसके बाद जून १९०७ में कुछ कोरियन गुप्त रूपसे हेग कान्फ्रेन्समें जा पहुँचे थे और वहाँ उन लोगोंने इस बातकी बहुत बड़ी शिकायत की थी कि जापान हमें जबरदस्ती अपने अधीन बना रहा है। हेग कान्फ्रेन्सने तो उनकी बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया, पर समाचारपत्रोंमें अवश्य बहुत आन्दोलन हुआ था और कोरियाके साथ सहानुभूति प्रकट की गई थी। इस पर जापानी बहुत बिगड़े और उन लोगोंने कोरियाके राजाको यह कहनेके लिए विवश किया कि जो लोग हेग कान्फ्रेन्समें गये हैं, उनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। साथ ही उनसे यह भी मंजूर कराया गया कि जो लोग हेग कान्फ्रेन्समें गये थे, उनको फाँसी दी जायगी और अब हम अपना राज्य छोड़कर अलग हो जायँगे। यह सुनते ही स्यूलमें फिर उपद्रव मचा और वहाँकी सड़कों पर अनेक जापानी मार डाले गये। इसके बदलेमें वहाँकी जापानी सेनाने गोलियोंसे सैकड़ों कोरियनोंको मार डाला। प्रायः एक मास तक सब स्थानोंमें मार-काट होनेके उपरान्त संघटित विद्रोह तो शान्त हो गया, पर अकेले-दुकेले जापानियोंकी

फिर भी हत्या होती ही रही। जापानियोंकी सभी बातोंके साथ वहाँवाले इतनी अधिक घृणा करने लगे कि अन्तमें मार्किस इटोको यह सलाह देनी पड़ी कि जापानसे लोग कोरियामें बसनेके लिए न जायँ। दूसरे वर्ष जापानियोंके द्वारा बारह हजार विद्रोही कोरियन मारे गये। इसमें जापानियोंकी भी जन-हानि हुई थी और उनके भी प्रायः दो हजार आदमी काम आये थे। कोरियाके पास कोई सेना नहीं थी, इसलिए उनके सफल मनोरथ होनेकी कोई विशेष आशा न थी। पर फिर भी उन्होंने अपना आन्दोलन जारी रखा। उधर बहुतसे कोरियन ईसाई हो रहे थे; इसलिए जापान सरकारको यह सन्देह होने लगा कि क्रान्तिकारी लोग षड्यन्त्र रचनेके लिए ही ईसाई धर्मकी ओट ले रहे हैं।

कोरियाके भागे और छिपे हुए राजनीतिक अपराधियोंने अनेक गुप्त सभाएँ स्थापित कर रखी थीं जिनके द्वारा वे देश-विदेशमें जापानी शासनका घोर विरोध करते थे। वे लोग अवसर पड़ने पर अपना काम निकालनेके लिए उपद्रव और बलप्रयोग करनेसे भी नहीं चूकते थे। १९०८ में अमेरिकाके सानफ्रान्सिसको नगरमें दो कोरियनोंने जापानी सरकारके मि० स्टेवेन्स नामक एक सलाह-कारको केवल इसी बातके लिए मार डाला था कि उसने लोगोंसे यह कहा था कि कोरियामें जापान बहुत अच्छा काम कर रहा है। १९०९ में प्रिन्स इटोकी, कोरियासे प्रस्थान करते समय, हार्बिनमें हत्या की गई थी। उसी वर्ष दिसम्बरमें जापानके प्रधान मन्त्रीकी हत्या करनेका उद्योग किया गया था, क्योंकि उसने कहा था कि कोरिया पर जापानका अधिकार होना अनिवार्य है। यद्यपि जापानने कोरियाके प्रत्येक आन्दोलनको दबानेका यथासाध्य उद्योग किया, तथापि आन्दोलन किसी प्रकार न दब सका। लाचार होकर १९०९ के अन्तमें उसने कोरियाको शान्त करनेकी आशा छोड़ दी

और यह निश्चय किया कि उसे पूर्ण रूपसे अपने अधिकारमें कर लिया जाय और उसे अपना अधीनस्थ प्रदेश बना लिया जाय।

मई १९१० में जनरल टेराशी वहाँके रेसिडेण्ट जनरल बनाये गये। वे इस बातका अधिकार-पत्र लेकर कोरिया गये थे कि कोरिया प्रदेश जापान साम्राज्यमें मिला लिया जाय और उसका अधीनस्थ प्रदेश माना जाय। जापान इस बातका पहले ही वादा कर चुका था कि कोरियाकी स्वतन्त्रता बनी रहेगी और उसका कोई प्रदेश छीना न जायगा। पर साथ ही वह यह भी समझता था कि यदि इस प्रदेशको हम पूर्ण रूपसे अपने साम्राज्यमें मिलाकर वह वादा तोड़ना चाहेंगे, तो केवल रूसको छोड़कर और कोई युरोपियन शक्ति इसमें बाधक न होगी। और यदि हम इस सम्बन्धमें रूसके साथ भी समझौता कर लेंगे, तब फिर हमारा मार्ग निष्कण्टक हो जायगा। और शक्तियोंके बिलकुल चुप रहनेका मुख्य कारण यह था कि वे सन्धिकी शर्तोंकी उपेक्षा करते हुए पहले ही वहाँ सब प्रकारके औपनिवेशिक अधिकार प्राप्त कर चुकी थीं। जापान जानता था कि अँगरेजोंने रूसियों और फ्रान्सीसियोंके साथ क्या समझौता किया है। उसको अपने बढ़ते हुए बलका भी ज्ञान था। वह यह भी जानता था कि मिस्रमें अँगरेज लोग किस नीतिसे काम ले रहे हैं। इसके अतिरिक्त मंचूरियाके सम्बन्धमें वह रूससे पहले ही समझौता कर चुका था। इसलिए उसने मंचूरियासे अपनी सारी सेना हटाकर कोरियामें ला रखी। इस प्रकार २२ अगस्त १९१० को कोरियाके राजाको विवश होकर एक ऐसी सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े, जिसके अनुसार कोरिया पर जापानका राज्य पूर्ण रूपसे स्थापित हो गया।

पेट्रोग्रेडमें रहनेवाले कोरियन राजदूतने इस बातका बहुत उद्योग किया था कि रूस इस बात पर राजी न हो कि कोरिया

जापानमें मिला लिया जाय । पर जब उसे किसी प्रकारकी सफलता न हुई, तब उसने अपने देशकी दुर्दशाको अपनी आँखोंसे देखनेसे बचनेके लिए आत्महत्या कर ली । पर स्वयं कोरियामें जापानकी इस कार्रवाईका कोई संघटित विरोध नहीं किया गया । बात यह थी कि चार बरसके लगातार दमनने कोरियाके आन्दोलनकारियोंकी कमर तोड़ दी थी । न तो उनके पास हथियार थे और न कोई उनका मित्र या सहायक था; इसलिए वे लोग कुछ भी न कर सके । कोरियाको अपने राज्यमें मिलाते समय जापानने वहाँवालोंको इस बातका विश्वास दिलाया था कि दस वर्ष तक वहाँके समुद्री करोंमें किसी प्रकारका परिवर्तन न किया जायगा और बन्दरों तथा समुद्र-तटके व्यापारके सम्बन्धमें सार्वराष्ट्रीय नियमोंका पालन किया जायगा । केवल मैसेनपोको उसने अपने जहाजी बेड़ोंका अड्डा बनानेके लिए अपने हाथमें ले लिया था ।

कोरियाके भूतपूर्व राजासे कहा गया था कि आपका पद और मर्यादा दोनों बने रहेंगे; और अब तक आपको तथा आपके पिताको जो वृत्ति मिला करती थी, वह बराबर मिलती रहेगी । उन लोगोंको पहले प्रायः बीस लाख रुपये वार्षिक वृत्ति मिला करती थी । आगे चलकर कोरियन लोग किसी प्रकारका विरोध या षड्यंत्र न करें, इसके लिए जापानने पचहत्तर कोरियनोंको, जिनमें राजपरिवारके भी पाँच आदमी थे, बहुत बड़े बड़े खिताब दे दिये और उनको अपने साम्राज्यका सरदार बना दिया । जापानमें ऐसे सरदारोंको जितनी वृत्ति मिला करती थी, उससे चौगुनी और पँचगुनी वृत्ति भी कोरियाके उन नये सरदारोंके लिए नियत हो गई । इस प्रकार जापानने धन और उपाधियाँ देकर उन लोगोंका मुहँ बन्द करना चाहा । उसने मानों उन लोगोंको इसलिए खरीद लिया कि वे आगे चलकर जापानी शासनका विरोध न करें । पराधीन

देशोंके जो बड़े आदमी विदेशियोंकी दी हुई उपाधियाँ पाकर फूले नहीं समाते, उनको इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए और सोचना चाहिए कि ऐसे उपाधिदानका वास्तविक अभिप्राय क्या होता है। भारतमें भी तो लोगोंको उनका मुँह बन्द करनेके लिए ही उपाधियाँ दी जाती हैं और जरा भी मुँह खोलने पर वे छीन ली जाती हैं। सच पूछिये तो ऐसी उपाधियाँ ही बहुत से लोगोंको देशके प्रति उनका परम कर्तव्य नहीं करने देतीं। अस्तु।

इधर दस बारह बरसोंसे कोरिया जापान साम्राज्यका एक अंग बना हुआ है। इस थोड़े से समयमें ही वहाँकी अवस्थामें आकाश-पातालका अन्तर हो गया है। इसमें सन्देह नहीं कि जापानके शासनके कारण उस देशकी बहुत कुछ आर्थिक उन्नति हुई है। वहाँ सभी स्थानोंमें रेलें और सड़कें आदि बन गई हैं। वहाँ स्कूल और न्यायालय आदि स्थापित हो गये हैं और कृषि तथा व्यापारकी यथेष्ट उन्नति हुई है। पर अधीनस्थ देशोंकी इस प्रकारकी उन्नति करनेमें और सब जगह शासकोंका जो उद्देश्य हुआ करता है, वही उद्देश्य वहाँ जापानका भी है। शिक्षा, पुलिस और फौजदारी अदालतोंका वहाँका प्रबन्ध कुछ भी सन्तोषजनक नहीं है और न वहाँके निवासियोंको अपने देशके लिए कानून बनानेका कोई अधिकार है। शासकके लाभके लिए शासित देशकी जितनी उन्नति हो सकती है, उतनी उन्नति तो वहाँ अवश्य हो गई है; क्योंकि यदि उतनी भी उन्नति न हो, तो फिर किसी देशको अपने अधीन करनेका फल ही क्या? हाँ, शासितोंके लाभके लिए जिस उन्नतिकी आववश्यकता है, उस उन्नतिका वहाँ नाम भी नहीं है।

कोरियाकी आबादी डेढ़ करोड़से कुछ ऊपर है, जिसमेंसे जापानियोंकी संख्या दो प्रति सैंकड़ेके लगभग है। यद्यपि रूस-जापान युद्धके पहलेकी अपेक्षा इस समय वहाँ छः गुने अधिक जापानी

हैं, तथापि जापान सरकार वहाँ जितने जापानियोंको बसाना चाहती है, उसके शतांश जापानी भी अब तक वहाँ नहीं बस सके हैं। वहाँ जो जापानी जाते हैं, वे नगरोंमें ही बसते हैं और प्रायः व्यापार करना चाहते हैं। पर जापान सरकार चाहती है कि जापानी लोग वहाँ जाकर जमीनें लें और खेती-बारी करें। उसकी यह इच्छा इसलिए पूरी नहीं होती कि कोरियावाले जापानियोंके घोर विरोधी हैं और उनके साथ बहुत ही घृणा करते हैं। तात्पर्य यह कि जापानने कोरियाको अपने राज्यमें मिलाते समय जो जो लाभ सोचे थे, वे अब उसको नहीं हो रहे हैं; उसने कोरियासे जो आशाएँ की थीं, वे पूरी नहीं हो रही हैं।

कोरियाके दोनों राजच्युत राजा मर चुके हैं। १९१९ में राजा ली कोरियाके सिंहासन पर बैठे थे। उनकी शिक्षा जापानमें ही हुई थी और उनका विवाह भी एक जापानी राजकुमारीके ही साथ हुआ है। जान पड़ता है कि अपने देशके अन्यान्य रईसों और सरदारोंकी तरह उन्होंने भी यह बात अच्छी तरह मान ली है कि हमारा देश पूर्ण रूपसे जापानके अधीन है। पर वहाँके सर्व साधारण और शिक्षित समाजको अभी तक यह आशा बनी हुई है कि हमारा देश स्वाधीन हो जायगा। १९११ में एक षड्यंत्रका पता चला था जिससे मालूम होता था कि वहाँके ईसाई विदेशी शासनके घोर विरोधी हैं। १९१२ में इस सम्बन्धमें एक मुकदमा चला था, जिसमें सौसे ऊपर आदमियोंको पाँचसे दस बरस तककी कड़ी सजाएँ हुई थीं। इस पर वहाँके ईसाइयोंने बड़ा शोर मचाया था, जिसकी चर्चा युरोप और अमेरिका तकमें हुई थी। १९१४ में शंघाईकी एक कोरियन गुप्त सभाने एक विद्रोह खड़ा करना चाहा था, पर पुलिसने पहले ही उसका पता लगा लिया और उसे रोक दिया।

युरोपीय महायुद्धके समय कोरियावाले बिलकुल चुपचाप थे। मिस्रवालोंकी तरह वे भी जर्मनोंके षड्यंत्रमें नहीं फँसे थे। उनको यह प्रबल आशा थी कि शान्ति महासभा अवश्य हमारे दुःख दूर करेगी। मित्र राष्ट्रोंके बड़े बड़े राजनीतिज्ञोंके इस कथन पर उनका पूरा विश्वास था कि जर्मनीके साथ जो यह युद्ध किया जा रहा है, वह छोटे छोटे देशोंको उनके विदेशी शासकोंके हाथसे छुड़ानेके लिए ही किया जा रहा है। राष्ट्रपति विलसनके आदर्शोंसे भी उनको बहुत कुछ आशा थी। जब अमेरिकाके बाद चीन और स्याम भी युद्धमें सम्मिलित हुए, तब कोरियावालोंने समझ लिया था कि शान्ति-स्थापनके समय बड़ी बड़ी शक्तियाँ हमारे कष्टों पर भी अवश्य ध्यान देंगी। पर अन्तमें उनको भी मालूम हो गया कि "हाथीके दाँत खानेके और होते हैं और दिखानेके और।"

जब युद्ध स्थगित हो गया, तब कोरियामें पहले साधारण रूपसे स्वतंत्रता प्राप्त करनेके लिए उद्योग होने लगा। जापानने अपनी ओरसे यथेष्ट दमन किया। पर ऐसे रोगोंके लिए दमन कोई दवा ही नहीं है, इसलिए जापानको भी वहाँ उसी प्रकार विफलता हुई जिस प्रकार अँगरेजोंको मिस्रमें हुई थी और भारतमें हो रही है। कोरियावालोंने ठीक मार्ग पर चलते हुए एक कदम और भी आगे बढ़ाया और १ मार्च १९१९ को अपनी स्वतंत्रताकी घोषणा कर दी। शान्ति महासभाके लिए उन्होंने अपने कुछ प्रतिनिधि भी चुने थे। अमेरिकामें रहनेवाले कोरियनोंने भी सभाएँ करके स्वतंत्रताके प्रस्ताव स्वीकृत किये थे और शान्ति महासभाको उन प्रस्तावोंकी सूचना तार द्वारा दी थी। शान्ति महासभाके पास शंघाई आदि स्थानोंसे जापानियोंके अत्याचारों आदिके जो समाचार आये थे, वे भी प्रायः वैसे ही थे जैसे मिस्रमें अँगरेजोंके अत्याचारोंके सम्बन्धमें थे। उनमें भी यही कहा गया था कि जापानियोंने हमारे

गाँव जलाये और लूटे हैं, हमारी स्त्रियों और कन्याओंको बेइज्जत किया है, और निहत्थे आदमियों पर बन्दूकें और तोपें चलाई हैं। अर्थात् शासक लोग शासितोंको अपने अधिकारमें रखनेके लिए सब जगह जो काम करते हैं, वही जापानियोंने भी कोरियामें किये थे। उनमें कोई नई बात नहीं थी। स्वयं जापानी समाचारपत्रोंसे भी यह बात मालूम होती है कि निरीह मनुष्योंकी इन हत्याओंका विरोध करनेके लिए टोकियो विश्वविद्यालयके आठ सौसे ऊपर विद्यार्थियोंने असहयोग करके पढ़ना छोड़ दिया था। १४ अप्रैल १९१९ को पाँच हजार कोरियनोंने स्यूलके जापानी सैनिकोंके निवास-स्थान पर आक्रमण किया था। जापानी सैनिक इन लोगोंकी हत्या करते जाते थे और मरे हुए लोगोंका स्थान ग्रहण करनेके लिए कोरियनोंका स्रोत सा उमड़ा चला आता था। जापानियोंने उनके नेता सान पिंग हुईको पकड़ लिया। इस पर २३ अप्रैलको कोरियाके तेरह प्रान्तोंके प्रतिनिधियोंने स्यूलमें एकत्र होकर एक सभा की और डा० सिंगमन र्ही को उनके स्थान पर अपना नेता चुना। डा० र्ही कोरियाके तरुण दलके १८९४ से नेता थे। वे एक बहुत उच्च कुलके और सुशिक्षित आदमी हैं और अमेरिकामें उनका बहुत मान है।

कोरियनोंने पेरिसकी शान्ति महासभामें अपने जिन प्रतिनिधियों-को भेजा था, उनकी वहाँ भी कुछ सुनाई नहीं हुई। शान्ति महासभाके कामोंसे सारे संसारको यह बात मालूम हो गई कि मित्र राष्ट्रोंने आरम्भमें जिन बड़े बड़े सिद्धान्तोंकी घोषणा की थी, उनका प्रयोग वे केवल शत्रु राष्ट्रोंकी प्रजाओंके साथ ही करना चाहते हैं, स्वयं अपनी प्रजाओंके साथ नहीं। संसारने यह भी देख लिया कि राष्ट्र-पति विल्सनमें इतना साहस नहीं है कि वे अपनी कही हुई बातोंको कार्य-रूपमें परिणत कर सकें। इस प्रकार अन्यान्य पराधीन देशोंको

तरह कोरियाको भी शान्ति महासभासे बिलकुल निराश ही होना पड़ा। पर सच पूछिये तो कोरियनोंको राष्ट्र संघसे कोई आशा नहीं है। वे आजकलके शिक्षित और सभ्य संसारसे भी कोई आशा नहीं रखते। उन्हें भरोसा है या तो अपने उद्योगका और या इस बातका कि जापानमें प्रजातंत्र शासनके भावोंकी वृद्धि होगी और तब हमारी भी आशाएँ पूरी होंगी। पर हमें तो इस अन्तिम बातमें भी सन्देह ही है। आगे जिन देशोंमें प्रजातंत्र शासनके भाव पूर्ण रूपसे वर्तमान हैं, वे ही अपने अधीनस्थ देशोंको क्या चार चाँद लगा रहे हैं? यह बात ठीक है कि आजकल जापानमें उदार भावोंकी वृद्धि हो रही है, जिसके कारण वहाँका राजकीय पक्ष कुछ भयभीत भी हो रहा है। इस उदार दलके नेता वाइकाउन्ट केटो हैं। जिस समय कोरियनोंका आन्दोलन खूब जोरों पर था, उस समय इन्होंने कहा था :—

"जापान और कोरियाका विच्छेद तो नहीं हो सकता, पर यदि जापान सरकार यह समझती हो कि जापानी लोग कोरियाकी वर्त्तमान स्थितिसे सन्तुष्ट हैं, तो यह उसकी भयंकर भूल है। हमारे कई नेता बहुत पहलेसे यह समझते थे कि कोरियामें सुधारोंकी आवश्यकता है। मार्शल टेराशीने वहाँके शासनमें जो जो भूलें की हैं, उनसे भी लोग बहुत पहलेसे परिचित हैं और वे चाहते हैं कि कोरियामें सैनिक शासनके बदले सिविल शासन स्थापित किया जाय। आजसे एक पीढ़ी पहलेकी अवस्थाको देखते हुए वहाँकी आर्थिक अवस्था अवश्य ही बहुत अच्छी है। पर फिर भी हमें वहाँके लोगोंकी आत्मिक और मानसिक अवश्यकताओं पर भी ध्यान देना जरूरी है।"

कोरियामें जापानियोंने जो अत्याचार किये थे, उनके विरुद्ध जापानमें बहुत कुछ आन्दोलन हुआ था। इस आन्दोलनका परि-

णाम यह हुआ कि जापानमें सरकारको विवश होकर यह आज्ञा देनी पड़ी कि जिन सैनिकों और अफसरोंने कोरियनों पर अत्याचार किये हैं, उन पर सैनिक न्यायालयोंमें अभियोग चलाया जाय। इस दृष्टिसे देखते हुए तो हम भारतवासियोंसे कोरियन और इन ऑगरेजोंसे जापानी ही बहुत अच्छे ठहरते हैं, क्योंकि जापानमें प्रजाकी पुकारों पर कुछ सुनाई तो होती है। एक हमारा भारत है, जहाँ पंजाब सरीखे हत्याकाण्ड हो जाते हैं, और अन्याय करनेवालों पर अभियोग चलानेकी कौन कहे, उलटे उनके विरुद्ध कुछ कहनेवाले ही जेल भेज दिये जाते हैं। अस्तु, इसके बाद १५ मईको जापानने यह भी स्वीकृत कर लिया कि कोरियाकी शासन-प्रणालीमें सुधारोंकी आवश्यकता है। यह भी घोषणा की गई थी कि यदि कोरियन लोग पूर्ण स्वतंत्रता माँगना छोड़ दें, तो वहाँसे सैनिक शासन हटाया जा सकता है और वहाँवालोंको स्वराज्यके बहुत कुछ अधिकार दिये जा कसते हैं। जापान सरकारकी ओरसे यह भी कहा गया है कि कोरियाको पूर्ण स्वतंत्रता देना नितान्त असम्भव है; क्योंकि यदि कोरिया पूर्ण स्वतंत्र हो जायगा, तो वह जापानकी सैनिक आत्मरक्षामें बहुत बाधक हो सकता है; और साथ ही उसके पूर्ण स्वातंत्र्यसे जापानकी बहुत कुछ आर्थिक हानि भी हो सकती है। दोनों ही बहाने कैसे उम्दा हैं! इसका मतलब सिवा इसके और क्या हो सकता है कि जापान जबरदस्त है, इसलिए उसके पड़ोसियोंको उसके अधिकारमें रहना चाहिए। पर यदि कलको कोरिया जबरदस्त हो जाय और वह जापानको इसी तरह दबाना चाहे, तो क्या उस समय जापान स्वतंत्र होनेका उद्योग न करेगा? क्या परम न्यायवान् परमेश्वरने, "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली कहावत सत्य सिद्ध करनेके लिए ही इस संसारकी सृष्टि की है? हम समझते हैं, कदापि नहीं। वह न्यायी है और न्याय चाहता है।

उसने सबको समान बनाया है और वह सबमें समानता और भ्रातृभाव देखना चाहता है। पर परम आस्तिक बननेवाली ये शासक जातियाँ फिर भी ईश्वरके अस्तित्वसे इनकार करके केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिए नास्तिक और काफिर बन रही हैं। हमें आशा करनी चाहिए कि अन्तमें जापानकी समझमें यह बात अच्छी तरह आ जायगी कि घृणा करनेवाली एक शासित और अधीनस्थ जाति अपने साथ रखनेकी अपेक्षा प्रेम करनेवाला एक स्वतंत्र पड़ोसी रखना कहीं अधिक उत्तम है। पर हाँ, यह बात तब तक नहीं हो सकती, जब तक जापानको यह विश्वास न हो जाय कि हमारे छोड़ते ही कोई और जाति कोरियाकी दुर्बलतासे आर्थिक आदि लाभ न उठाने लगेगी। कोरियाकी स्वतंत्रताका नाश इसी लिए हुआ है कि युरोपियन जातियाँ उसे अपना शिकार बनाना चाहती थीं। अब वह तभी स्वतंत्र हो सकेगा, जब ये युरोपियन जातियाँ उसे शिकार बनानेका विचार छोड़ देंगी। हे ईश्वर! इन युरोपियन जातियोंके केवल दुष्ट विचारों और भावोंसे ही दुर्बल देशोंकी कितनी हानि हो सकती है! ऐसे दुष्ट भाव रखनेवाली जातियों और उनके दुष्ट भावोंका जितना ही शीघ्र अन्त हो जाय, संसारका उतना ही अधिक कल्याण है।

(१८)

रूस-जापान युद्ध

जब जापानने चीन पर विजय प्राप्त कर ली, तब युरोपियन शक्तियोंने बीचमें पड़कर जापानको विजयके लाभ उठानेसे रोक दिया था। जापानने समझा था कि इसमें मुख्य कारण रूस है। जब रूसियोंने मंचूरिया और लियाओटंग प्रायद्वीपमें आगे बढ़ना आरम्भ किया, तब जापानियोंकी यह धारणा और भी दृढ़ हो गई और उन्होंने समझ लिया कि अब हमारे लिए दो ही मार्ग हैं। या तो हम भी रूससे लोहा बजावें और या चीन तथा कोरियाकी तरह उसके अधीन बनें। रूसने पोर्ट आर्थर पर किलेबन्दी करके मानों जापानको ललकारा था। जापानियोंने देखा कि जब हम चीनमें अपना पैर जमाना चाहते थे, तब तो इन युरोपियन शक्तियोंने बीचमें पड़कर हमें रोक दिया था; पर अब जब कि रूसने पोर्ट आर्थरमें किलेबन्दी कर ली है, तब कोई युरोपियन शक्ति चूँ तक नहीं कर सकती। जब रूसने ट्रान्स-साइबेरियन रेल्वे तैयार करके कोरियाकी यालू नदीके तट पर अपने पर जमा लिये और जापानके ठीक सामने पड़नेवाले मेसेनपो बन्दरको जहाजी बेड़ेका अड्डा बनानेके लिए कोरियासे ले लिया, तब जापानके लिए दो ही मार्ग रह गये। एक तो यह कि वह रूसके साथ लड़े; और दूसरा यह कि वह रूसको पूर्वी एशियामें सर्वप्रधान शक्ति बन जाने दे। पर दूसरी बात जापानियोंको स्वप्नमें भी अच्छी नहीं लगती थी। चीनसे युद्ध करनेके बाद दस बारह बरस तक जापानने इस बातके लिए सिर-तोड़ परिश्रम किया कि हम चीन, मंचूरिया और कोरियासे रूसको निकाल दें। इसके लिए उसने बहुत अधिक धन व्यय करके अपनी जल तथा

स्थल सेना खूब बढ़ाई और तैयार की। उसने समझ लिया था कि बिना आर्थिक उन्नति किये सैनिक बल नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिए उसने अपने शिल्प और व्यापारकी भी यथेष्ट उन्नति की। जापानी उत्साह, व्यवस्था और स्वार्थत्यागका भी महत्व समझते थे। इन गुणोंकी भी उनमें कमी न निकली। परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही समयमें जापान युरोपियन शक्तियोंसे टक्कर लेनेके योग्य बन गया। चीनके साथ युद्ध करनेके बाद उसने चीन तथा दूसरी विदेशी शक्तियोंके सम्बन्धमें अपनी क्या नीति रखी थी और कोरियाके सम्बन्धमें उसके क्या भाव थे, इन सब बातोंका वर्णन पिछले प्रकरणोंमें हो चुका है। इस प्रकरणमें हम केवल यह दिखलाना चाहते हैं कि रूसके साथ जापानका प्रत्यक्ष सम्बन्ध कैसा था।

१९०३ में रूसके युद्ध-सचिव जनरल कुरोपेटकिन जापानी सम्राट्के अतिथि बनकर टोकियो गये थे। वहाँ उनका बहुत ही मित्रतापूर्ण आतिथ्य हुआ था। जापानी राजनीतिज्ञोंने इस बात पर बहुत जोर दिया कि जापान कभी रूससे लड़ना नहीं चाहता। उधर रूसके समाचारपत्रोंके भी भाव बुरे नहीं थे। पर स्वयं रूसी राजनीतिज्ञोंमें, सभी युरोपियन राजनीतिज्ञोंकी भाँति, एक बड़ा भारी दोष यह था कि वे मित्रता आदिके सम्बन्धमें जबानी जमा-खर्च करना तो खूब जानते थे, पर कही हुई बातोंको कार्य रूपमें परिणत करनेकी कोई आवश्यकता नहीं समझते थे। वे मित्रताका राग भी अलापते जाते थे और यालू नदीके तट पर बढ़ते भी जाते थे; आर्थर बन्दरकी किलेबन्दी भी करते जाते थे और प्रशान्त महासागरके लिए अपना बेड़ा भी बनाते जाते थे। साथ ही चीनके मंचूरिया प्रान्तमें भी वे अपने पैर बराबर बढ़ाते जाते थे। तात्पर्य यह कि वे जापानको मित्रताके धोखेमें ही रखकर अपना सारा

काम निकालना चाहते थे। कदाचित् वे जापानियोंको भी एशिया-की अन्यान्य जातियोंकी तरह ही समझते थे और उस पर भी अपना युरोपीय जाल फैलाना चाहते थे। उनको यह खबर नहीं थी कि एशियामें भी एक जाति ऐसी है, जो हमारे रंग ढंगसे अच्छी तरह परिचित हो गई है और हमारे ही गजसे हमें नापनेके लिए तैयार हो रही है।

१२ अगस्त १९०३ को पेट्रोग्रेडमें रहनेवाले जापानी राजदूतने यह प्रस्ताव किया कि आपसमें इस बातका समझौता हो जाना चाहिए कि मंचूरिया तथा कोरियामें रूस और जापानका कैसा सम्बन्ध रहेगा। जापान चाहता था कि १८९४ में रूस और जापानने जिस सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे और जिसके अनुसार दोनोंने कोरियाको स्वतंत्र रखनेका वचन दिया था, उस सन्धिकी शर्तें पूरी हों। पर साथ ही वह अपने लिए एक और बात चाहता था। वह यह कि १८९४ में ही उसने कोरियासे उसके प्रदेशमें रेल बनानेका जो अधिकार प्राप्त किया था, रूस भी उसके उस अधिकारको मान्य कर ले। महीनों तक इस बारेमें दोनों राष्ट्रोंमें फिर कोई बात-चीत नहीं हुई। इसके बाद अक्तूबर १९०३ में टोकियोमें वहाँके मन्त्रिमण्डल और वयोवृद्ध राजनीतिज्ञों-की एक परामर्श-सभा हुई थी, जिसमें वयोवृद्ध राजनीतिज्ञोंने मन्त्रि-योंसे कहा था कि जहाँ तक हो सके, आप लोग रूसके साथ हर तरहकी रिआयत करें और उससे बल खायँ।

पर उस समय तक जापानका लोकमत बहुत ही क्षुब्ध हो चुका था। सब लोग यही कहते थे कि यदि इसी तरह बात-चीत करनेमें समय गँवाया जायगा, तो रूसको मंचूरिया तथा लियाओटंगमें तैयारियाँ करनेके लिए यथेष्ट समय मिल जायगा। लोग यह भी समझते थे कि इस समय चाहे रूस इस बातका वादा भले ही कर

दे कि हम चीन और कोरियाकी स्वतंत्रतामें बाधक न होंगे, पर आगे चलकर जब वह अपनी सब तैयारियाँ कर लेगा, तब इन देशोंमें अवश्य पैर पसारेगा और एक न एक दिन हमको उससे अवश्य लड़ना पड़ेगा। ऐसी दशामें लड़ाईको व्यर्थ टालकर शत्रुको और भी तैयार होनेका अवसर देना ठीक नहीं। अन्तमें जापानी मन्त्रिमण्डलने रूससे कहा कि तुम इस बातका वादा करो कि चीन और कोरियाकी स्वतंत्रतामें बाधक न होगे और उनका कोई प्रान्त अपने अधिकारमें न कर लोगे। जापानका यह भी कहना था कि हम रूसमें मंचूरियाका विशेष स्वत्व मानते हैं और उसके बदलेमें रूस कोरियामें हमारा विशेष स्वत्व माने; और इन दोनों देशोंमें हम दोनोंको व्यापार आदि करनेका समान अधिकार प्राप्त हो। सारा नवम्बर बीत गया, पर रूसियोंने कोई उत्तर नहीं दिया। इस पर ५ दिसम्बरको जापानी पार्लीमेण्टका एक अधिवेशन हुआ, जिसमें मन्त्रिमण्डल पर पूरा विश्वास प्रकट किया गया था; पर साथ ही यह भी कहा गया था कि मन्त्रिमण्डल इस काममें जल्दी करे। १० दिसम्बरको सम्राट्ने पार्लीमेण्टसे कहा था कि हमारे मन्त्री जापानके हितोंकी रक्षामें कोई बात उठा न रखेंगे। इस पर पार्लीमेण्टने एक मतसे उत्तर दिया कि इस समय जो अवसर प्राप्त है, मन्त्री लोग उससे लाभ नहीं उठा रहे हैं। इस पर सम्राट्ने चटपट पार्लीमेण्ट तोड़ दी। इसी बीचमें रूसका उत्तर आ चुका था जो किसी प्रकार सन्तोष-जनक नहीं था। साथ ही वह मंचूरियामें बराबर अपनी सेनाएँ भेज रहा था। यह बात छिपी न रह सकी और समाचारपत्र सर-कार पर इस बातके लिए जोर देने लगे कि रूसके साथ तुरन्त युद्धकी घोषणा कर दी जाय।

२१ दिसम्बरको रूससे कहा गया कि तुम एक बार फिर अपने

उत्तर पर विचार कर लो। ६ जनवरीको रूसने उत्तर दिया कि जापान यह बात मंजूर कर ले कि मंचूरिया और लियाओटंगमें वह किसी प्रकारका हस्तक्षेप न करेगा और उनको अपने प्रभाव-क्षेत्रसे बाहर समझेगा। हाँ, सन्धिके अनुसार जो शक्तियाँ मंचूरियामें कोई अधिकार प्राप्त करेंगी, उसमें रूस बाधक न होगा। जापानसे यह भी कहा गया था कि तुम कोरियाके किसी प्रान्त या भागको अपने सैनिक कार्योंमें न ला सकोगे। इसके अतिरिक्त दो एक और भी बातें थीं, पर जापानने उन सबके माननेसे इनकार कर दिया। जापान समझता था कि हमारा यह उत्तर पाकर रूस कुछ नये प्रस्ताव उपस्थित करेगा। पर वह बात नहीं हुई। रूसवाले भी यही समझते थे कि अभी जापान एकाएक लड़नेके लिए तैयार न हो जायगा। पर ६ फरवरी १९०४ को जब पेट्रोग्रेडमें रहनेवाले जापानी राजदूतने अपने लिए राहदारीका परवाना माँगा, तब वहाँके अधिकारियोंके आश्चर्यकी सीमा न रही। ९ फरवरीको रूस सरकारने एक सूचनापत्र प्रकाशित किया, जिसमें जापानी मन्त्री और जापान सरकारकी इस कार्रवाई पर आश्चर्य प्रकट किया गया था। कदाचित् रूसवाले लोगोंको यह दिखलाना चाहते थे कि हम जापानके साथ लड़ना नहीं चाहते, जापान जबरदस्ती हम पर आक्रमण कर रहा है। उनका यह भी कहना था कि मंचूरियामें इस समय मुश्किलसे एक लाख सैनिक होंगे। पर यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो जापान ही आक्रमणकारी नहीं कहा जा सकता। यह आवश्यक नहीं है कि जो पहले आक्रमण करे, वही आक्रमणकारी माना जाय। यदि कोई अपने ऊपर आक्रमण करनेवालेको तैयारीका मौका न देकर पहले आप ही उस पर आक्रमण कर बैठे, तो वह आक्रमणकारी नहीं कहला सकता। उसने शत्रुके आक्रमणसे अपनी रक्षा करनेके लिए ही उस पर आक्रमण किया है। और फिर

आक्रमण भी तो कई प्रकारका होता है। केवल सैनिक आक्रमण ही आक्रमण नहीं है। यदि कोई राष्ट्र अपना साम्राज्य बढ़ानेके लिए ही दूसरे देशोंके प्रान्तोंको अपने अधिकारमें लेना चाहे, और उन देशों अथवा उनके पड़ोसियोंमेंसे कोई राष्ट्र उस पहले राष्ट्र पर आक्रमण कर बैठे, तो इसमें उस साम्राज्यलोलुप राष्ट्रको किसी प्रकारका आश्चर्य न होना चाहिए।

जिस दिन जापानी राजदूतने पेट्रोग्रेडसे प्रस्थान किया, उसके दूसरे ही दिन जापानी एडमिरल उरियूने चेमल्पो बन्दरमें पहुँचकर वहाँके दो रूसी जहाजोंको आज्ञा दी कि तुम चौबीस घण्टेके अन्दर यहाँसे चले जाओ। उस समय उस बन्दरमें फ्रान्स, ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका, इटली आदि देशोंके जितने लड़ाईके जहाज थे, उन सबके कप्तानोंने जापानी एडमिरलकी इस आज्ञाका विरोध किया। पर एडमिरल उरियूने उनके विरोध पर कुछ भी ध्यान न देकर युरोपियन महाशक्तियों पर यह बात प्रकट कर दी कि अब हम किसी बातमें तुम्हारी हुकूमत नहीं मान सकते। चीन-जापान युद्धके दस ही वर्ष बाद पूर्व एशियामें एक नई महाशक्ति खड़ी हो गई थी। दोनों रूसी जहाजोंने भागनेका प्रयत्न किया, पर जब वे भाग न सके, तब फिर उन्होंने उसी बन्दरमें लौटकर अपने आपको डुबा दिया। उसी दिन जापानी बेड़ेने आर्थर बन्दरके सामने रूसी बेड़े पर आक्रमण किया और उसे भारी हानि पहुँचाकर पीछे हटा दिया। एडमिरल टोगोने दो महीने तक रूसी बेड़ेको खूब तंग किया और उसके कई जहाज डुबाये। टोगोकी इच्छा थी कि हम आर्थर बन्दरके मुहाने पर रूसी जहाज डुबा डुबाकर रूसी जहाजोंका वहाँसे निकलना बन्द कर दें। पर इसमें उसको सफलता नहीं हुई। तो भी वह बन्दर पर बराबर गोले बरसाता रहा और उसने बेड़ेको बन्दरसे बाहर न निकलने दिया। रूसियोंके

ब्लैडिवास्टकवाले बेड़ेने भी जापान सागर पर कई आक्रमण किये थे। पर उसका उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ और जापानी सेनाएँ बराबर जापानसे कोरिया पहुँचती रहीं। इधर तो जापानियोंने सारा समुद्र अपने अधिकारमें रखा और उधर कोरिया पर पूरा अधिकार करके वहाँसे मंचूरियामें रूसियों पर आक्रमण करनेकी पूरी तैयारी कर ली। अप्रैलके अन्तमें जापानियोंने स्थल युद्धमें पहली विजय प्राप्त की और वे रूसियोंको भगाकर यालू नदीके उस पार पहुँच गये। इसके बाद जब जापानी और भी आगे बढ़े, तब रूसी लोग अपनी बहुत सी युद्ध-सामग्री पीछे छोड़कर भागे। इसी बीचमें जापानी सेनाका एक दूसरा दल लियाओटंग प्रायद्वीपमें जा उतरा। इस दलने आगे बढ़कर आर्थर बन्दर तक जानेवाली रेलके कुछ भाग पर अधिकार कर लिया। एक तीसरा दल आर्थर बन्दर पर आक्रमण करने लगा। अगस्तमें जब यह दल आर्थर बन्दरके पास पहुँच चला, तब वहाँसे रूसी बेड़ा बाहर निकला। यह पहलेसे ही निश्चित था कि ठीक उसी समय ब्लैडिवास्टकसे भी रूसी बेड़ा बाहर निकले। पर बीचमें ही कुछ भूल हो गई जिससे ब्लैडिवास्टकवाला बेड़ा ठीक समय पर न पहुँच सका और आर्थर बन्दरवाले बेड़ेको जापानी बेड़ेने पूर्ण रूपसे परास्त कर दिया। कई रूसी जहाज डुबा दिये गये, कई भागकर चीनके बन्दरोंमें जा छिपे और कुछ लौटकर फिर अपने स्थान पर जा पहुँचे। इसके तीन दिन बाद ब्लैडिवास्टकवाले बेड़ेको जापानियोंने सुशिमा जलडमरूमध्यमें परास्त किया। उस बेड़ेका एक जहाज तो वहीं डूब गया और दो बिलकुल बेकाम होकर फिर अपने स्थान पर जा पहुँचे। जापानियोंकी यह जीत बड़े मार्केकी हुई। युरोपसे रूसी बेड़ा आ रहा था, पर अभी उसके आनेमें देर थी। इस बीचमें जापानियोंको फिर पूरी तैयारी करनेका अवसर मिल गया। इस

जीतसे जापानियोंका दिल दूना हो गया था। साधारणतः जापानको यह साहस नहीं हो सकता था कि कोरिया और मंचूरियामें लड़नेके लिए अधिक बड़ी सेनाएँ भेजें; क्योंकि रूसमें मंचूरियाने बहुत अधिक सेनाएँ ला रखी थीं। पूर्वी एशियाके रूसी बेड़ेमें जापानी बेड़ेकी अपेक्षा जहाज भी अधिक थे और उनमें तोपें भी अधिक थीं। और यदि उस समय युरोपवाला बेड़ा भी आकर उसमें मिल जाता, तो जापानियोंको बड़ी कठिनताका सामना करना पड़ता। पर जब उसके आनेसे पहले ही जापानियोंने पूर्वी एशियावाले बेड़ेको परास्त कर दिया, तब उनकी हिम्मत बढ़ गई और उन्होंने समझ लिया कि अब रूसी हमसे नहीं जीत सकते।

अगस्तसे अक्तूबर तक जापानियोंकी बराबर कुछ न कुछ जीत ही होती रही, पर वे आर्थर बन्दर पर अधिकार न कर सके। मंचूरियामें रूस खूब सेनाएँ भेज रहा था और वहाँ घमासान युद्ध मचा हुआ था। जापानी यह चाहते थे कि प्रशान्त महासागरसे रूसके युरोपीय बेड़के पहुँचनेसे पहले ही हम आर्थर बन्दर पर अधिकार कर लें; क्योंकि उस बेड़के आ जाने पर फिर आर्थर बन्दर लेना बहुत कठिन हो जायगा। इसलिए उन्होंने आर्थर पर ही अपना सारा जोर लगा दिया और थोड़े ही समयमें वहाँवालों पर यह प्रमाणित कर दिया कि अब आर्थर बन्दरकी रक्षा नहीं हो सकती। १ जनवरी १९०५ को आर्थर बन्दरवालोंने आत्मसमर्पण कर दिया!

अब सारा लियाओटंग प्रायद्वीप और मंचूरियाका कुछ भाग जापानियोंके हाथमें जा चुका था। पर युद्ध आरम्भ होनेके समय मंचूरियामें रूसकी जितनी युद्ध-सामग्री और तोपखाने थे, उसकी अपेक्षा १९०५ के आरम्भमें उसके पास वहाँ कहीं अधिक सामग्री और तोपखाने थे। मार्चके आरम्भमें जापानियोंने मुक-

इनमें अच्छी विजय प्राप्त की थी। यदि वे उसी समय कुछ और आगे बढ़ सकते, तो शीघ्र ही रूसी सेना आत्मसमर्पण कर देती। पर वे लगातार तीन सप्ताह तक लड़ते लड़ते बहुत थक गये थे और बहुत कुछ हानि भी उठा चुके थे, इसलिए तुरन्त आगे न बढ़ सके।

रूसने १५ अक्तूबर १९०४ को ही लिबावसे अपना बाल्टिक-वाला बेड़ा प्रशान्त महासागरमें भेजा था। पर वह बेड़ा कई टुकड़ोंमें आया था और उसे रास्तेमें ही बहुत देर हो गई थी। अन्तमें २७ मई १९०५ को वह बेड़ा कोरियाके तटके सामने पहुँचा। पर लड़ाईमें वह एक घण्टेसे अधिक न ठहर सका और उसके जहाज तितर बितर होकर भागने लगे। उस बेड़ेके छत्तीस जहाजोंमेंसे बाईस जहाज तो डुबा दिये गये, छः पकड़ लिये गये, छः तटस्थ देशोंके बन्दरोंमें भागकर जा छिपे और केवल दो जहाज भागकर ब्लैडिवास्टक पहुँच सके! आप पूछ सकते हैं कि उस युद्धमें जापानियोंकी कितनी हानि हुई? उनकी टारपेडो चलानेवाली केवल तीन नावें डूबीं!

जुलाईमें जापानियोंने सघेलियन टापू ले लिया और ब्लैडि-वास्टक पर आक्रमण करनेके लिए सेना भेज दी। पर वहाँ उनको विजय-प्राप्तिकी पूर्ण आशा नहीं थी। उधर रूसियोंको आशंका होने लगी कि कहीं ब्लैडिवास्टक भी हाथसे न निकल जाय। अतः दोनों ही पक्ष युद्ध रोकना चाहते थे। इसलिए अमेरिकन राष्ट्रपति रूसवेल्टने दोनों पक्षोंके पास सन्धिका प्रस्ताव भेजकर उनको युद्ध रोकनेके लिए कहा। रूसी बेड़ेके नष्ट होनेके थोड़े ही दिनों बाद रूसवेल्टका यह प्रस्ताव स्वीकृत हो गया और मंचूरियाका युद्ध रुक गया।

९ अगस्तको पोर्ट्स्माउथमें रूस और जापानके प्रतिनिधि

सन्धिकी शर्तें तैयार करनेके लिए एकत्र हुए। पहले तो जापानियोंने कहा कि हमें हरजानेके तौर पर एक बड़ी रकम और सघेलियन टापू मिल जाना चाहिए। पर ये दोनों बातें ऐसी थीं, जिनके सम्बन्धमें कुछ निश्चय करनेका अधिकार उन आये हुए रूसी प्रतिनिधियोंको नहीं था। दो सप्ताह तक बातचीत होनेके उपरान्त अन्तमें और सब बातोंके साथ यह भी तै हो गया कि जापान हरजानेके तौर पर नगद कुछ भी न ले और केवल सघेलियन टापूका दक्षिणार्ध ले ले। इस प्रकार पोर्ट्स्माउथकी इस सन्धि पर ५ सितम्बरको हस्ताक्षर हो गये और अक्तूबरमें दोनों देशोंकी ओरसे उसकी स्वीकृति भी हो गई। इस सन्धिके अनुसार रूसने यह मंजूर कर लिया था कि कोरियामें जापानके सर्वप्रधान अधिकार और स्वत्व हैं। उसने आर्थर बन्दरका पट्टा, लियाओटंग प्रायद्वीप, तथा दक्षिणी मंचूरियाकी रेलों और खानों आदिके सम्बन्धके अपने सब अधिकार भी जापानको दे दिये, सघेलियनका दक्षिणार्ध भी दे दिया और अपने प्रशान्त महासागरमें उसे मछलियाँ मारनेका भी अधिकार दे दिया। साथ ही यह भी तै हुआ था कि मंचूरियाको रूस खाली कर दे और उसका सारा अधिकार चीनको रहे। यह भी तै हो गया कि मंचूरियामें रेलों आदिकी रक्षाके लिए रूस और जापानकी कितनी सेना रहे।

पर सन्धिकी ये शर्तें जापानी प्रजाको पसन्द नहीं आईं। वह समझती थी कि हमने युद्धमें रूसको पूर्ण रूपसे परास्त किया है; और युद्ध छेड़नेमें हमारा कोई अपराध नहीं था, इसलिए हमें हरजानेकी पूरी रकम मिलनी चाहिए। वह यह भी नहीं चाहती थी कि मंचूरियामें रूसका किसी प्रकारका अधिकार रहे अथवा व्लैडिवास्टक पर उसका पूरा अधिकार रहे। इसलिए सन्धिकी इन शर्तोंके विरुद्ध जापानियोंने टोकियोमें कुछ उपद्रव और उत्पात भी

किये थे। पर शीघ्र ही उनको यह मालूम हो गया कि केवल हर-जानेकी रकमके लिए अड़ना और लड़ना मानों दूसरेके हाथकी रकम छीननेके लिए अपने हाथकी रकम भी गँवाना है। वे यह भी समझ गये कि सघेलियन, व्लैडिवास्टक और मंचूरियाके सम्बन्धमें जो समझौता हो गया है, वह अच्छा ही हुआ है; क्योंकि इससे रूसके साथ मित्र-भाव बना रहेगा। जापानी राजनीतिज्ञ समझते थे कि हमने रूसको कोरिया और लियाओटंग प्रायद्वीपसे निकाल ही दिया है और मंचूरियाको आपसमें बाँट ही लिया है; अतः अब रूसियोंका कोई डर नहीं है और उन्हें अपना शत्रु नहीं समझना चाहिए। एशियामें रूसके अधीनस्थ और किसी प्रदेश पर तो जापानकी निगाह थी ही नहीं, जिसके लिए वह झगड़ा करता। साइबेरिया और मेरिटाइम आदि प्रदेश बहुत ठण्ढे थे। वहाँ न तो जापानी बस सकते थे और न वहाँ चावल पैदा होता था; इसलिए उनके लिए भी लड़ना निरर्थक ही था। प्रशान्त महासागरमें मछलियाँ मारनेका अधिकार उसे मिल ही चुका था। अब और बाकी ही क्या था जिसके लिए वह लड़ता? पूर्व एशियामें जापान सर्वप्रधान शक्ति बन ही चुका था और कोरिया तथा चीनसे उसने रूसको निकाल ही दिया था। यदि जापानने अपने आपको और साथ ही एशियाके कुछ देशोंको युरोपियन शक्तियोंके अधिकारमें जानेसे रोक लिया, तो इसमें उसने कोई बुरी बात नहीं की थी। अमेरिकाके संयुक्त राज्य भी तो मनरो सिद्धान्तके अनुसार अमेरिकन राष्ट्रोंको युरोपियन शक्तियोंके अधिकारमें जानेसे रोकते हैं। अब आगे चलकर जापान जब और भी बलवान् हो जायगा, तब अवसर पाते ही वह चीनसे भी युरोपियन शक्तियोंको निकाल बाहर करेगा।

(१६)

चीन पर वार

शान्ति महासभामें शाण्टुंगके प्रश्नकी मीमांसा करते समय महाशक्तियोंने जितनी बेईमानी और बद-नीयती दिखलाई थी, उतनी कदाचित् और किसी प्रश्नकी मीमाँसामें न दिखलाई होगी। उसमें ऐतिहासिक स्वत्वोंको ताक पर रख दिया गया था और उन सिद्धान्तोंकी पूरी उपेक्षा की गई थी जिनकी घोषणा मित्र राष्ट्र और अमेरिका आदि बराबर किया करते थे। उन्होंने मानों अपने कार्योंसे यह प्रमाणित कर दिया था कि हममें अभी इतनी नीतिमत्ता नहीं आई है कि हम सारे संसारके हितकी दृष्टिसे कोई राष्ट्र-संघ स्थापित कर सकें। पूर्व एशियामें स्थायी शान्ति स्थापित करनेके बदले उन्होंने अन्याय और अत्याचार किया था और ऐसे साधन उपस्थित कर दिये थे जिनसे आगे चलकर अनेक युद्धोंकी सम्भावना हो गई। जापान तथा युरोपियन शक्तियोंने शाण्टुंगके प्रश्नका निर्णय ठीक उसी ढंगसे किया था, जिस ढंगसे वे आज तक और स्थानोंके सम्बन्धमें निर्णय करते आते थे। इधर पचास वर्षोंमें अमेरिकाने पूर्व एशियाके सम्बन्धमें अपनी जो उदारता और तटस्थता दिखलाई थी, उसका भी उसने इस बार परित्याग कर दिया था।

जेता राष्ट्रोंने जर्मनीको जिस सन्धि पर हस्ताक्षर करनेके लिए बाध्य किया था, उसमें शाण्टुंगके प्रश्नकी जो मीमांसा की गई है, उससे यही सिद्ध होता है कि इस बार भी राजनीतिक व्यवस्थाकी ओटमें आर्थिक लूट मचानेवाली नीतिकी ही विजय हुई है। चान-

जापान युद्धके बाद चीनके साथ महाशक्तियोंका जैसा व्यवहार रहा है, उसीसे हमारे इस कथनकी पुष्टि हो जाती है।

जापानने चीनके साथ इसलिए युद्ध किया था कि युरोपियन महाशक्तियाँ चीनको भी अपने साम्राज्यवादका शिकार न बना लें। इस युद्धका अन्त १७ अप्रैल १८९५ वाली शिमोनोसेकीवाली सन्धिसे हुआ था। इस सन्धिके अनुसार चीनने अपना लियाओटंग प्रायद्वीप और फारमोसा टापू जापानको दे दिया था। उसने हरजानेके तौर पर प्रायः पैंतालिस करोड़ रुपया देना मंजूर किया था और अपने देशमें उसे व्यापार करनेका अधिकार दिया था। इस पर रूसने फ्रान्स और जरमनीको उसका कर इस बातके लिए तैयार किया कि वे सब मिलकर सन्धिकी लियाओटंगवाली शर्तको पूरे होनेसे रोकें। उस सन्धि पर हस्ताक्षर करनेका दुर्भाग्य चीनके प्रधान राजनीतिज्ञ ली हंग चंगको प्राप्त हुआ था। ली हंग चंगने जब देखा कि रूस और फ्रान्स इस प्रकार हमारी सहायता करनेके लिए तैयार हैं, तब वह उन देशोंके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करनेके लिए चीनकी इतनी अधिक हानि करनेको तैयार हो गया, जितनी स्वयं उस सन्धिकी शर्तोंके पूरे होनेसे भी न होती। रूसने सारे उत्तर मंचूरियामें साइबेरियन रेलवे बनानेका अधिकार प्राप्त कर लिया और फ्रान्सने मेकांग तराईमें अपनी सीमा और बढ़ाकर कियंगसी तथा यूनन प्रान्तोंमें रेलों और खानोंके सम्बन्धमें कुछ नये अधिकार प्राप्त कर लिये। इन दोनों महाशक्तियोंको हैंगकावमें बस्तियाँ बसानेके भी अधिकार मिल गये। इसके बाद ली हंग चंगने रूसके साथ एक गुप्त सन्धि की, जिसके अनुसार लियाओटंग प्रायद्वीपमें रूसको वही अधिकार मिल गये, जो जापान प्राप्त करना चाहता था। इसके अतिरिक्त रूसको आर्थर बन्दरमें किलेबन्दी करनेका भी अधिकार मिल गया। इस स्वार्थत्यागके बदलेमें चीन

को रूससे कुछ रकम उधार मिल गई थी। पर वह रकम उस हरजानेवाली रकमकी आधी भी नहीं थी, जो चीनसे जापानको मिलनेवाली थी।

फ्रान्सको मेकांग तराईमें जो नया प्रदेश मिला था, उसका ग्रेट ब्रिटेनने विरोध किया। उसका कहना था कि कई बरस पहले चीनने हमारे साथ जो सन्धि की थी, उसकी शर्तें फ्रान्सको यह नया अधिकार देनेसे टूटती हैं। पर उन शर्तोंको टूटनेसे बचानेके लिए ग्रेट ब्रिटेनने इस बातका कोई उद्योग नहीं किया कि फ्रान्स अपना नया पाया हुआ प्रदेश छोड़ दे; क्योंकि इस प्रकारका उद्योग करनेमें फ्रान्सकी हानि तो हो सकती थी, पर स्वयं ग्रेट ब्रिटेनका कोई लाभ नहीं हो सकता था। पर ग्रेट ब्रिटेन तो उस अवसरसे स्वयं भी लाभ उठाना चाहता था, इसलिए उसने चीनको इस बातके लिए विवश किया कि वह उसे भी बरमाकी सीमाके पास कुछ और प्रदेश दे दे।

जर्मनीने देखा कि रूस, फ्रान्स और ग्रेट ब्रिटेन तो अपने अपने हाथ रँग चुके; एक मैं ही कोरा बचना चाहता हूँ। इसलिए वह भी बहती गंगामें हाथ धोनेके लिए कोई बहाना ढूंढ़ने लगा। साधारणतः संसारके सभी कामोंमें और विशेषतः राजनीतिक क्षेत्रमें, लोगोंको अपना काम निकालनेके लिए सहजमें ही बहाने मिल जाया करते हैं। कहीं जर्मनीके सौभाग्यसे चीनमें उसके दो पादरी मार डाले गये। बस जर्मनीको काफी बहाना मिल गया। उसने चट शाण्टुंग प्रायद्वीपकी क्याऊ चाऊ खाड़ी पर अधिकार कर लिया और ९९ बरसके लिए अपने नामसे उसका ठीका लिखा लिया। ठीका क्या था, राज्य करनेका पूरा पूरा अधिकार था। अब जर्मनी वहाँ किलेबन्दी तक कर सकता था और जंगी जहाज तक रख सकता था। अब उसने दूसरी शक्तियोंका अनुकरण

करते हुए उँगली पकड़ते ही पहुँचा पकड़ना आरम्भ किया और शाण्टुंग प्रायद्वीपमें पुरानी और मँजी हुई चाल चलकर रेलों और खानों आदिका अधिकार प्राप्त किया; और इस प्रकार वह वहाँका धन लूटने लगा। इस पर रूस और ग्रेट ब्रिटेनने भी अपनी कसर निकाल ली। मगर वह कसर जर्मनीका विरोध करके नहीं, बल्कि चीनसे अपने लिए अधिक अधिकार प्राप्त करके निकाली गई थी। आर्थर बन्दर पर रूसका अधिकार तो पहलेसे ही था, पर अब उसने वहाँका पट्टा लिखा लिया और आर्थर बन्दरसे लियाओटंग प्रायद्वीप होते हुए साइबेरियन रेल्वेकी मंचूरियावाली शाखासे मिलानेके लिए एक नई रेल बनानेका अधिकार प्राप्त कर लिया। शाण्टुंगके उत्तरी तट पर आर्थर बन्दरके मुकाबलेमें वाई हाई वाईका पट्टा ग्रेट ब्रिटेनने लिखा लिया। जब रूसने देखा कि शाण्टुंगमें जर्मनी बढ़ता चला जाता है, तब उसने कहा कि हमें भी उसकी तरह मंचूरियामें अधिकार मिलना चाहिए। ऐसी दशामें ग्रेट ब्रिटेन क्यों चूकता? उसने अपने लिए यांग्सीकी तराई तजवीज कर ली। फ्रान्स तो पहले ही चीनके दो दक्षिणी प्रान्तोंमें यथेष्ट अधिकार प्राप्त कर चुका था। जापानने अपने लिए फूकियन प्रान्तमें अधिकार माँगे। इटलीने कहा कि हमें चेकियांग प्रान्तमें रेल बनाने और खानें खोदनेका अधिकार दो और उसके समुद्र तटवाले सानमुन स्थानमें जहाजमें कोयला लादनेके स्टेशन बनानेका पट्टा लिख दो। उस समय तक चीनकी सहनशीलता पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी थी; इसलिए उसने इटलीकी माँग पूरी करनेसे साफ इनकार कर दिया। जो शक्तियाँ चीनके अनेक प्रान्तों पर अधिकार प्राप्त कर चुकी थीं, वे भी इटलीको देखकर उसी तरह गुर्राने लगीं, जिस प्रकार जूठन चाटते हुए कुत्ते किसी आनेवाले कुत्तेको देखकर गुर्राते हैं। लाचार होकर इटलीने

निश्चय कर लिया कि हम अपनी माँग पूरी करनेके लिए बल-प्रयोग नहीं करेंगे। अर्थात् अगर धमकानेसे ही तुम अपना माल हमें दे दो, तो ठीक है; नहीं तो तुम्हारा माल छीननेके लिए इस समय हम तुमको मारें-पीटेंगे नहीं। भला यही रिआयत क्या कम है?

१८९६ से १८९९ तक चीनके साथ जैसी छीनाझपटी होती रही, यदि उसका पूरा विवरण दिया जाय, तो एक अलग पोथा तैयार हो जाय। पेकिंगमें प्रायः सभी शक्तियाँ खूब ही प्रतिद्वन्द्विता करती थीं और हर एक शक्ति दूसरी शक्तियोंको दबाकर अपना काम निकालनेका उद्योग करती थी। प्रत्येक शक्ति लाठी दिखाकर भैंस छीनना चाहती थी। इस सभ्य लूटसे घबराकर शान्तिप्रिय चीनी बिगड़ खड़े हुए और जापानी सचेत हो गये। जापानियोंने युरोपियनोंकी कारिस्तानी अच्छी तरह समझ ली और निश्चय कर लिया कि इनके साथ भी इसी तरह बदला चुकाना चाहिए। गत महा-युद्धके सम्बन्धमें जरमनीको लोग बहुत बदनाम करते हैं। पर ऐसे लोग शायद यह भूल जाते हैं कि गत महायुद्धके समय जरमनीने जो कुछ किया था, वही युरोपियन शक्तियाँ अनेक अवसरों और स्थानों पर पहले भी कर चुकी हैं। इन युरोपियनोंकी ऐसी कार्रवा-इयोंका ही यह परिणाम है कि आज चीनी और जापानी युरोपि-यनोंके साथ इतनी घृणा करते हैं; और जापान भी उन्हींके रास्ते पर चलना चाहता है। युरोपकी सभी महाशक्तियाँ एक सी हैं। उनमेंसे कोई छाँटने या अलग करनेके योग्य नहीं है। सभीने जा-पानके सामने एक ही उदाहरण रखा है, सभीने चीनके साथ एक ही सा व्यवहार किया है। जो काम आज तक सभी युरोपीय महा-शक्तियाँ करती आई थीं, ठीक वही काम १९१४ में जर्मनी करना चाहता था, जिसके लिए वह बेचारा इतना बदनाम किया जाता है। और यदि सच पूछिये तो युरोपीय महायुद्ध स्वयं युरोपीय शक्तियों-

की कूटनीतिका ही परिणाम था। पर फिर भी लोग जान बूझकर सच बात तक पहुँचना नहीं चाहते। वे अपने आपको भी धोखा देते हैं और दूसरोंको भी। इस कूटनीतिके कारण यह युगही कपट-युग बन गया है।

इस अवसर पर दो ऐसी शक्तियाँ खड़ी हो गई, जो चीनको विदेशियोंकी राजनीतिक परतंत्रतामें जाने और आर्थिक लूटसे बचानेवाली थीं। चीनके बन्दरोंमें रहनेवाले व्यापारियों और राज्य-के अधिकारियोंमें अनेक युवक ऐसे थे जो पश्चिमी शिक्षा प्राप्त कर चुके थे और जो यह समझते थे कि जापानने पश्चिमी शिक्षा प्राप्त करके और पश्चिमी सभ्यता ग्रहण करके अपना बल बहुत बढ़ा लिया है और उसके मुकाबलेमें चीन बहुत कमजोर है। ऐसे युवक चीनियोंमें एक प्रकारका असन्तोष उत्पन्न हो चुका था और वे चाहते थे कि हमारा देश किसी प्रकार नष्ट होनेसे बचे। इन तरुण चीनियोंका विश्वास था कि हमारा देश आये दिनके अपमान और दासत्वसे तभी बच सकता है, जब कि हम भी अपने यहाँ पाश्चात्य शिक्षाका प्रचार करें और पाश्चात्य देशोंसे सम्बन्ध स्थापित करके उनकी रीतियाँ ग्रहण करें। वे लोग विदेशी पादरियों और अधिकार चाहनेवालोंसे घृणा नहीं करते थे और समझते थे कि जब तक हमारे देशका पूरा पूरा सुधार न हो, तब तक हमारे पापोंके प्रायश्चित्त स्वरूप हमारे यहाँ विदेशियोंका रहना और हम पर अनेक प्रकारके अत्याचार करना आवश्यक है। जब तक हम लोग अपनी उन्नति न करेंगे, तब तक विदेशियोंका यहाँ आकर प्रभुत्व जमाना और रेलों तथा खानों आदिके सम्बन्धमें अनेक प्रकारके अधिकार प्राप्त करके हमें लूटना अनिवार्य है। उनके हिसाबसे विदेशियोंका प्रभुत्व एक प्रकारसे विदेशियोंका शासनही था। उस प्रभुत्व अथवा शासनसे अपना पीछा छुड़ानेके लिए वे तरुण चीनी यह आवश्यक

समझते थे कि अपने देशकी शासन-प्रणालीमें सुधार किये जायँ, अपनी जल तथा स्थल सेनाका संघटन किया जाय, पाठशालाओं और समाचारपत्रोंके द्वारा लोगोंमें राष्ट्रीयताके भाव जाग्रत किये जायँ और चीनमें शासन करनेवाले मंचू राजवंश और उसके अधिकारियोंका अन्त कर दिया जाय।

इसके अतिरिक्त एक दूसरी प्रतिघातक शक्ति थी जो सुधार तो नहीं करना चाहती थी, पर जो विदेशियोंके आक्रमणसे बहुत ही क्षुब्ध हो चुकी थी और जो चीनको विदेशियोंके आक्रमण से बचाना चाहती थी। ये प्रतिघातक लोग यह तो नहीं चाहते थे कि चीन दृढ़ और संघटित हो जाय, और नये ढंगकी शासन-प्रणाली स्थापित करके विदेशी महाशक्तियोंसे टक्कर लेनेके योग्य बन जाय। पर हाँ, वे विदेशियोंसे घृणा अवश्य करते थे; क्योंकि वे समझते थे कि विदेशियोंके प्रभुत्वसे केवल हमारे अधिकार ही नष्ट नहीं होंगे, बल्कि देशमें एक नई जाग्रति उत्पन्न हो जायगी। १८९८ में जब तरुण चीनियोंने सुधार करना चाहा, तब वे प्रतिघातक और राज पक्षवाले उतने ही भयभीत हुए थे, जितने युरोपियनों और जापानके प्रसारसे भयभीत होते थे। इन प्रतिघातकोंने एक चाल चली और सर्वसाधारणकी अज्ञानता और धर्मान्धतासे लाभ उठाकर उनमें विदेशियोंके प्रति भयङ्कर घृणा उत्पन्न कर दी।

चीन-जापान युद्धके कारण लोगोंमें विदेशियोंके प्रति घृणाका भाव और भी बढ़ गया और चीनमें एक गुप्त सभा स्थापित हो गई जो विदेशियोंके हस्तक्षेपका घोर विरोध करती थी। पादरी और समाचारपत्र इस सभाके सदस्योंको बाक्सर कहते थे। कुछ विशिष्ट क्रियाएँ करके उन सदस्योंको यह दृढ़ विश्वास करा दिया जाता था कि अब तुम पर तलवारों और गोलियोंके वारोंका कुछ भी असर न होगा। उन लोगोंने बौद्ध मन्दिरों आदिमें बैठकर

इस बातकी शपथ की कि हम लोग, जिस तरह होगा, विदेशियों और उनके धर्मको अपने देशसे अवश्य निकाल देंगे। चीनके उत्तरी प्रान्तोंमें यह आन्दोलन खूब बढ़ने लगा और क्याऊ चाऊ, वाई हाई वाई तथा आर्थर बन्दरकी घटनाओंके कारण वह और भी सबल हो गया। विदेशियोंने वहाँ जो रेलें चलाई थीं, जो खानें बनाई थीं और बन्दरों आदिमें जो अधिकार प्राप्त किये थे, उनके कारण चीनियोंमें विदेशियोंके प्रति और भी अधिक घृणा उत्पन्न हो गई थी।

१८९९ में इस नये आन्दोलनका संस्थापक यू सीन शाण्टुंग प्रान्तका गवर्नर नियुक्त हुआ। उसकी नियुक्ति होते ही विदेशियों पर आक्रमण होने लग गये। शाण्टुंगमें कुछ अँगरेज पादरी मार डाले गये थे। इस पर अँगरेज, फ्रान्सीसी, जर्मन और अमेरिकन राजदूतोंने घोर विरोध आरम्भ किया। यद्यपि वहाँकी प्रधान अधिकारिणी राजमाताने कई बार यह कहा कि अपराधियोंको दण्ड दिया जायगा, तथापि शाण्टुंग और चि-ली प्रान्तोंमें विदेशियों पर बराबर आक्रमण होते रहे। मार्च १९०० में उन राजदूतोंने फिर एक विरोधपत्र भेजा। इस बार उस पर इटलीके राजदूतने भी हस्ताक्षर किये थे। उस विरोधका परिणाम यह हुआ कि शाण्टुंगका गवर्नर युआन शी काई बना दिया गया और उसे आज्ञा मिली कि बाक्सर आन्दोलन बिलकुल दबा दो। यही आज्ञा चि-लीके गवर्नरको भी मिली थी।

आगे चलकर राजमाताने अपने कृत्योंसे यह भी प्रमाणित कर दिया कि यद्यपि मैं ऊपरसे बाक्सर आन्दोलनका विरोध करती हूँ, तथापि अन्दर ही अन्दर उसके साथ मेरी पूर्ण सहानुभूति है। उसने चीनके सम्राट्से यह लिखवा लिया कि मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है और मुझे कोई सन्तान नहीं हो सकती,

अतः तुम राज्यके लिए दूसरा उत्तराधिकारी चुन लो। इसके उपरान्त राजमाताने यू चुंग नामक एक राजकुमारको राज्यका अधिकारी चुन लिया। यह यू चुंग पहलेसे ही बाक्सर आन्दोलनका संरक्षक था और पीछेसे आन्दोलनका प्रधान कार्यालय उसीके महलमें चला आया था। इसके उपरान्त बाक्सरोंने एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया, जिसमें कहा गया था कि सम्राट् और उनके साथी राज्य करनेके योग्य नहीं हैं। इसके अतिरिक्त उस घोषणा-पत्रमें इस आशयकी भी कुछ बातें थीं:—

"विदेशी शैतान अपने साथ ईसाई धर्मका सिद्धान्त लेकर यहाँ आये हैं। उन्होंने हमारे अनेक भाइयोंको ईसाई बना लिया है। उनके धर्म नैतिक सिद्धान्तोंसे बिलकुल रहित और छल-कपट-पूर्ण हैं। उन्होंने बहुत से दुष्टों और लोभियोंको अपने धर्ममें मिला लिया है। वे हमारे साथ अत्याचार भी करते हैं और हमारे आद-मियोंको बहकाते भी हैं। यहाँ तक कि हमारे यहाँके बड़े बड़े राज-कर्मचारी भी धनके लोभमें पड़कर इन विदेशियोंके दास बन गये हैं। ये विदेशी शैतान हमारे देशमें रेलें और तार बनाकर, तोपें और बन्दूकें बनाकर, इंजिन और बिजलीके लम्प बनाकर बहुत प्रसन्न हो रहे हैं। × × × इन विदेशियोंको देशसे निकाल देना चाहिए, इनके घर और गिरजे जला दिये जाने चाहिएँ और इनकी सारी सम्पत्ति नष्ट कर दी जानी चाहिए। इनका कहीं नाम-निशान भी न रहने देना चाहिए। ये सब काम तीन बरसमें हो जाने चाहिएँ। अब ये दुष्ट नष्ट होनेसे नहीं बच सकते।"

युरोपियन पार्लीमेण्टों तथा समाचारपत्रोंमें उन दिनों इस बातकी खूब चर्चा हुआ करती थी कि चीनको इस प्रकार बाँट लिया जाय, उसका अमुक अंश हम ले लें, अमुक तुम ले लो, इत्यादि। नव-निर्वाचित सम्राट् यू चुंगके पिता राजकुमार तुआन-

ने उनकी इन चर्चाओंसे खूब काम निकाला। उसके पास इस बातके अनेक प्रमाण थे कि फ्रान्स, रूस, जर्मनी और ग्रेट ब्रिटेन हमारे देशको निगल जाना चाहते हैं। इटलीने जिस पटुता और अन्यायके साथ चीनके सामने अपनी माँग पेश की थी, उसका भी उसके काममें अच्छा उपयोग हुआ। प्रान्तीय गवर्नरके पास सूचनाएँ भेज दी गईं कि शीघ्र ही चीनमें विदेशियोंका कत्ले-आम होनेवाला है। राजकुमार तुआनने खुले आम यह भी कह दिया कि पेकिंगमें रहनेवाले विदेशी राजदूतोंको हम तब तकके लिए पकड़कर ओलमें रखना चाहते हैं, जब तक विदेशी लोग इस बातकी दृढ़ प्रतिज्ञा न कर लें कि हम चीनके कामोंमें किसी प्रकारका हस्तक्षेप न करेंगे।

१३ जून १९०० को पेकिंगमें बाक्सर विद्रोह आरम्भ हुआ। विदेशी शक्तियाँ पहलेसे यह बात नहीं जानती थीं कि यह विद्रोह इतना भीषण होगा। पेकिंगसे तिन्तसिन जानेवाली रेलवे लाइन बिलकुल तोड़ डाली गई और तारके खम्भे उखाड़कर फेंक दिये गये। पेकिंगमें विदेशियोंकी जितनी सम्पत्ति थी, वह सबकी सब लूट ली गई और जला दी गई। विदेशी कब्रिस्तानोंकी कब्रें तोड़कर उनमेंकी लाशें खोद निकाली गईं और जला दी गईं। कई दिनों तक विदेशियोंकी हत्या होती रही। उनके साथ हजारों चीनी ईसाई भी मार डाले गये और अन्तमें पेकिंगकी बड़ी बड़ी दूकानें जला दी गईं। राजकुमार तुआन और राजवंशके दूसरे लोग स्वयं ही ये सब उपद्रव करा रहे थे।

सारे देशमें भयंकर उत्पात मच गया था। विदेशियोंकी स्त्रियाँ और बच्चे, जिन्होंने किसी प्रकार छिप लुककर अपनी जानें बचाई थीं, आ आकर विदेशी राजदूतावासोंमें शरण लेते थे। १९ जूनको विदेशी राजदूतोंको समाचार मिला कि युरोपकी महाशक्ति-

योंने चीनके साथ युद्ध आरम्भ कर दिया है। चीन सरकारने उनसे यह भी कह दिया था कि तुम लोग चौबीस घण्टेके अन्दर यहाँसे चले जाओ, नहीं तो फिर हम तुम्हारी जानके जिम्मेदार न होंगे। पर वे राजदूत यह नहीं जानते थे कि हम यहाँसे किस तरह बाहर निकलें और कैसे जायँ। अतः उन लोगोंने राजकुमार तुआनसे कहा कि आप हम लोगोंके जानेका इन्तजाम कर दीजिये। पर उनको कोई उत्तर न मिला। दूसरे दिन फ्रान्सीसी राजदूतावासमें सब विदेशी राजदूतोंने मिलकर निश्चय किया कि हम सब लोग मिलकर चलें और कहें कि हमें यहाँसे भेजनेकी व्यवस्था कर दी जाय। जब ये लोग रास्तेमें जा रहे थे, तब इनमेंसे जर्मन राजदूत बैरन वान कटलरको वर्दी पहने हुए एक मंचू अफसरने मार डाला। चीनी अधिकारियोंने उन राजदूतोंसे साफ कह दिया कि हम लोग इस बातका जिम्मा नहीं ले सकते कि आप लोग सकुशल तिन्तसिन पहुँच जायँगे।

उस समय ६००० विदेशी और चीनी ईसाई भागकर विदेशी राजदूतावासोंमें छिपे थे, जिनमेंसे आधेके लगभग अँगरेजी राजदूतावासमें थे। दो महीने तक इन लोगों पर बराबर सर्वसाधारण तथा राज्यके सैनिक आक्रमण करते रहे और ये लोग किसी प्रकार लड़-भिड़कर अपनी रक्षा करते रहे। जब चीनियोंने देखा कि सभी विदेशी शक्तियोंकी सम्मिलित सेना इन लोगोंको बचानेके लिए पेकिंगकी ओर आ रही है, तब चीन सरकारने एक नई आज्ञा निकाली, जिसमें कहा गया था कि विदेशियों पर एक बार फिर दया दिखानेके लिए उनके राजदूतोंको सकुशल समुद्र तट तक पहुँचा दिया जाय। पर अब पेकिंगके विदेशियोंने चीनियोंका विश्वास करना ठीक न समझा और कहा कि जब तक हमारे देशकी सेनाएँ न आ जायँगी, तब तक हम यहाँसे न जायँगे। इस बीचमें

जो होगा, सो देखा जायगा। ११ अगस्तको चीनकी सेनाने अँगरेजी राजदूतावास पर गोले बरसाने आरम्भ किये। उसके दो दिन बाद, और विद्रोह उठनेके ठीक दो महीने बाद, विदेशी शक्तियोंकी सेना १३ अगस्तकी दोपहरको पेकिंग पहुँची।

विद्रोह मचनेसे पहले १० जूनको भी एक बार सब महाशक्तियोंकी सम्मिलित सेनाने एडमिरल सेमरकी अधीनतामें पेकिंग पहुँचनेका उद्योग किया था; पर रेलें टूट जानेके कारण और मार्गमें चीनी सेनाकी अधिकताके कारण सेमरको सफलता न हो सकी थी। यदि पीछेसे सहायताके लिए और अधिक सेना न आ जाती, तो बहुत सम्भव था कि सेमरके सैनिक मार्गमें ही मार डाले जाते। जब यह सहायक सेना कुछ आगे बढ़ चुकी, तब उसके पीछे तिन्तसिनमें उपद्रव खड़ा हुआ। १७ जूनको महाशक्तियोंके जहाजोंने गोले बरसाकर टाकूके किले ले लिये। इसके उपरान्त महाशक्तियोंकी सेनाने तिन्तसिन पर भी अधिकार कर लिया। जब सेमर लौटकर तिन्तसिन पहुँचा, तब उसे मालूम हुआ कि पेकिंगमें भी सेना भेजनेकी आवश्यकता है। पेकिंगसे कोई समाचार नहीं आता था और इस बातकी शंका हो रही थी कि कहीं वहाँके सब युरोपियन मार न डाले गये हों। वहाँ आसपास रूसियोंके केवल चार हजार और अँगरेजोंके केवल तीन हजार सैनिक थे। फिलिपाइन्ससे दो हजार अमेरिकन और इण्डो-चाइनासे आठ सौ फ्रान्सीसी सैनिक भेजे गये। जर्मनों, आस्ट्रियनों और इटालियनोंकी उस समय वहाँ कोई सेना मौजूद नहीं थी। इस पर जापानसे सहायता माँगी गई और उसने दस हजार सैनिक भेजे। उनमेंसे आधे सैनिक ४ अगस्तको तिन्तसिनसे रवाना हुए। इन सब लोगोंको पेकिंग पहुँचनेमें नौ दिन लगे। मार्गमें युरोपियन सेनाके बहुत से आदमी मारे गये थे। जिस दिन ये सेनाएँ पेकिंग पहुँचीं,

उसके दूसरे दिन सवेरे ही राजमाता और उसके सब साथी भागकर सैन्शी प्रान्तमें चले गये। पर चीनी लोग फिर भी युरोपियन सेना पर आक्रमण करते ही रहे। अन्तमें २६ अगस्तको युरोपियनोंके हाथमें पेकिंग आया।

जब पेकिंग पर युरोपियनोंका अधिकार हो गया और वहाँके युरोपियन बचा लिये गये, तब महाशक्तियोंके सैनिकोंकी संख्या बढ़ने लगी। उस समय चि-ली प्रान्त पर अधिकार करनेके उपाय सोचे जाने लगे। पर बीचमें ही महाशक्तियोंमें मतभेद हो गया। रूस पहलेसे ही समझता था कि पेकिंगके उत्तर चीनका जितना प्रदेश है, वह सब हमारे हिस्सेका है। उसने महाशक्तियोंको सहायता भी केवल राजदूतोंको बचानेके लिए ही दी थी। इसलिए अब वह कहने लगा कि पेकिंग तुरन्त खाली कर दिया जाय। जापान भी यह नहीं चाहता था कि चीनमें युरोपवाले हस्तक्षेप करें, इसलिए वह कहने लगा कि चीनकी सरकारसे कहा जाय कि वह तुरन्त पेकिंग लौट आवे। जापानी यह सुनकर बहुत उत्तेजित हो गये थे कि बाक्सर विद्रोहसे लाभ उठाकर रूसने अपने बहुत से सैनिक मंचूरियामें भेज दिये हैं और वहाँ चीनी सेना पर आक्रमण करके मकदन पर पूरा अधिकार कर लिया है। रूसियोंने मकदन-का राजमहल भी लूट लिया था और वहाँके अनेक नागरिकोंको मार डाला था। इसके अतिरिक्त सभी महाशक्तियोंको यह आशंका थी कि कहीं जर्मनी इस अवसरसे लाभ उठाकर शाण्टुंगसे चि-ली तक अपना प्रभाव न जमा ले।

इधर तो महाशक्तियोंमें इस प्रकार फूट उत्पन्न हो गई और उधर राजमाताने ली हुंग चंगके द्वारा यह प्रस्ताव कराया कि अब शान्ति हो जाय। महाशक्तियाँ यहाँसे अपनी सेनाएँ हटा लें और मार-काट बन्द कर दें। हम उनको हरजाना भी देंगे और व्यापार

आदिके सम्बन्धमें जो पुरानी सन्धियाँ हैं, उन्हें हम फिरसे मंजूर कर लेंगे और आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन भी कर देंगे। यद्यपि रूस और जापानने बहुत जोर दिया, पर फिर भी दूसरी महाशक्तियाँ यही कहती रहीं कि जब तक सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर न हो जायँगे, तब तक हम लोग पेकिंग और तिन्तसिन न छोड़ेंगे। उलटे उन महाशक्तियोंने इस विचारसे अपनी और भी सेनाएँ पेकिंग भेज दीं जिससे रूस और जापान मनमानी न कर सकें।

महीनों बात-चीतमें ही बीत गये। अन्तमें १९ दिसम्बरको सब महाशक्तियोंने मिलकर चीन सरकारको लिख भेजा कि हम क्या क्या चाहते हैं। उनकी माँगें इस प्रकार थीं—"जो जर्मन राजदूत मारा गया है, उसके सम्बन्धमें चीनी राजवंशका कोई राजकुमार बर्लिन जाकर माफी माँगे; जापानी राजदूतावासका जो चैन्सलर मारा गया है, उसका हरजाना जापानको मिले; बाक्सर विद्रोहके नेताओं और राजकुमार तुआन तथा चुआंगको दण्ड दिया जाय; विदेशियोंकी कब्रिस्तानोंमें जहाँ जहाँ कब्रें खोदी गई हैं, वहाँ वहाँ स्मारक बनाये जायँ; महाशक्तियोंको पेकिंगमें अपने अपने राजदूतावासकी रक्षाके लिए सैनिक रखनेका अधिकार मिले; टाकूके किले और पेकिंग तथा समुद्रके बीचमें पड़नेवाले सब किले तोड़ दिये जायँ और तिन्तसिन-पेकिंग रेलवे पर महाशक्तियोंकी सेनाका अधिकार रहे; चीन सरकार इस बातका जिम्मा ले कि यदि किसी प्रान्तमें सन्धिकी शर्तें तोड़ी जायँगी या आगे कभी विदेशियोंके विरुद्ध कोई विद्रोह होगा, तो उसके लिए उस प्रान्तका गवर्नर जिम्मेदार समझा जायगा; व्यापारके सम्बन्धमें अब तक जो सन्धियाँ हुई हैं, वे दोहराई जायँ; पेकिंगमें राजमहलसे शासन होनेकी जो प्रणाली है, उसमें सुधार हो और विदेशी राजदूतोंको दरबारमें पहुँचकर जो रस्में अदा करनी पड़ती हैं, उनमें भी परिवर्तन हो; और विदेशी

सरकारों, संस्थाओं, धार्मिक सभाओं और व्यक्तियोंको हरजाना दिया जाय।"

१४ जनवरी १९०१ को सन्धिके मसौदे पर हस्ताक्षर हो गये। पर जब कान्फ्रेन्स बैठी और विदेशी राजदूत यह निश्चय करने लगे कि सन्धिकी शर्तें पूरी करनेके लिए क्या व्यवस्था की जाय, तब ली हुंग चंगने समझ लिया कि महाशक्तियोंमें परस्पर मतभेद है। उनकी बातें सर्वसम्मत नहीं होती थीं। ली हुंग चंगने यह उस्तादी की थी कि सब महाशक्तियोंके प्रतिनिधियोंसे अलग अलग मिलकर उनको समझा दिया था कि हम आपका विशेष ध्यान रखेंगे, आप हमें दूसरोंके चंगुलसे बचा दीजिये। उस समय चीन और रूसमें मंचूरियाके सम्बन्धमें एक अलग सन्धिकी बातचीत चल रही थी। रूस कहता था कि यदि तुम उस सन्धिमें हमारे साथ कुछ और रिआयत करो, तो हम तुम्हारी ओरसे इस बातका विरोध करेंगे कि विद्रोहके नेताओंको दण्ड न दिया जाय, अथवा कम दिया जाय। अन्यान्य महाशक्तियोंने भी अपने प्रतिनिधियोंको गुप्त रूपसे इस बातकी सूचना दे दी थी कि दण्ड देनेके प्रश्न पर ज्यादा जोर न दिया जाय। यदि उस समय महाशक्तियाँ चाहतीं, तो चीनको बाक्सर विद्रोहके सम्बन्धमें पूरी पूरी शिक्षा दे सकती थीं। पर सभी शक्तियाँ अपना अपना आर्थिक और राजनीतिक लाभ देखने लग गई और चीनको उचित दण्ड न मिल सका।

एक बात और थी। वह यह कि केवल अमेरिकाको छोड़कर और सभी शक्तियाँ मिलकर चीनसे हरजानेकी बहुत बड़ी रकम माँगती थीं। प्रायः उन सभी शक्तियोंने चीनको अपना क़र्जदार बना रखा था, इसलिए उनको आशा थी कि हमारे साथ चीन और भी रिआयत करेगा और हमें अपने देशमें अनेक प्रकारके आर्थिक सुभीते कर देगा। इस प्रकार वे शक्तियाँ चीनको सदा

अपनी गुलामीमें रखनेका स्वप्न देख रही थीं। मईमें चार रुपये सैंकड़े सूद पर और चालीस बरसके वादे पर चीन पर एक और बहुत बड़ा कर्ज लाद दिया गया। चीनमें विदेशियोंके जितने राज-दूतावास थे, वे सब एक स्थान पर कर दिये गये और उनके चारों ओर किलेबन्दीके ढंगकी दीवारें खड़ी कर दी गई; और उसकी रक्षाके लिए सैनिक नियुक्त कर दिये गये। इसके बाद १७ सितम्बर १९०१ को महाशक्तियोंने पेकिंग खाली कर दिया और ७ जनवरी १९०२ को राजधानी फिर वहाँ वापस आ गई।

इस बीचमें महाशक्तियोंने एक और चाल चली। उन्होंने गुप्त रूपसे चीनके साथ और उनमेंसे कुछने आपसमें भी ऐसे कई सम-झौते कर लिये थे जिनसे उनको अपने प्राप्त अधिकारोंके संरक्षण करने और आगे उनमें वृद्धि करनेमें बहुत सहायता मिल सकती थी। उनमें कुछ समझौते ऐसे भी थे जिनके अनुसार कुछ महाशक्तियाँ चीनमें दूसरी महाशक्तियोंको अपने पैर पसारनेसे रोक भी सकती थीं। तात्पर्य यह है कि वे शक्तियाँ यह चाहती थीं कि हम तो चीनको खूब अच्छी तरह लूटें, और दूसरी शक्तियाँ उससे कुछ भी लाभ न उठा सकें। उधर तो और सब शक्तियाँ ऐसी ऐसी चालें चल रही थीं और इधर ग्रेट ब्रिटेन और जर्मनीमें यह समझौता हो गया कि हम दोनों चीनमें बिलकुल एक ही नीतिसे काम लेंगे। उन दोनोंने परस्पर यह निश्चय कर लिया कि जहाँ जहाँ चीनमें हम लोगोंका बस चलेगा, वहाँ वहाँ हम लोग एक दूसरेके साथ मुक्त-द्वार वाली नीतिका अनुसरण करेंगे; और कोई शक्ति केवल अपने लिए ही कोई नया प्रदेश प्राप्त करनेका उद्योग न करेगी। यह भी निश्चित हुआ था कि यदि बाक्सर विद्रोहसे लाभ उठाकर कोई दूसरी महाशक्ति अपने लिए कोई नया प्रदेश प्राप्त करेगी, तो हम लोग आपसमें ही निश्चय कर लेंगे कि अपने अपने अधिकारोंकी

रक्षाके लिए क्या उपाय किया जाना चाहिए। यों कहनेको तो यह निश्चय हो गया, पर कार्य रूपमें उसकी परिणति न हो सकी। जब रूसने मंचूरियामें विशिष्ट अधिकार प्राप्त कर लिये, तब ग्रेट ब्रिटेनने पेकिंगमें उसका विरोध किया। उक्त निश्चयके अनुसार जर्मनीका कर्तव्य था कि वह भी ग्रेट ब्रिटेनके विरोधका समर्थन करता; पर उसने ऐसा न किया। इधर जब जर्मनीने चीनसे कहा कि तुम इस बातका वादा करो कि यांग्सी तराईमें किसी शक्तिको कोई विशेष अधिकार न दोगे, तब लार्ड लैन्सडाउनने चीनको तार दिया कि यदि तुम किसीको ऐसा वचन दोगे, जिससे यांग्सी प्रान्तमें ग्रेट ब्रिटेनके अधिकार मर्यादित या संकुचित हो जायँगे, तो हम तुम्हारे उस वचन पर कोई ध्यान न देंगे। जब इस तारकी प्रतिलिपि लन्दनमें रहनेवाले जर्मन राजदूतको दिखलाई गई, तब उसने कहा कि जर्मनीकी नीति यह है कि यदि कोई शक्ति चीनसे उसके किसी प्रान्तमें शासन आदिके सम्बन्धमें कोई अधिकार माँगेगी और चीन वह अधिकार देनेसे इनकार करेगा, तो उस दशामें जर्मनी भी चीनका ही समर्थन करेगा। जिस समय मंचूरियामें रूसके विशिष्ट अधिकार प्राप्त करने पर ग्रेट ब्रिटेनने उसका विरोध किया था, उस समय जर्मनीकी तरह फ्रान्सने भी ग्रेट ब्रिटेनके पक्षकी पुष्टि करनेसे इनकार कर दिया था। इसके बाद फ्रान्सने यह घोषणा कर दी कि इस समय हम चीनसे अपनी सेना यही समझकर हटा रहे हैं कि कोई शक्ति चीनसे उसका कोई प्रदेश छीन न सकेगी। पर यदि आगे चलकर कोई शक्ति उसके किसी प्रदेश पर किसी प्रकारका अधिकार करना चाहेगी, अथवा चीनमें कोई आन्तरिक उत्पात खड़ा होगा, तो हमें इस बातका अधिकार प्राप्त रहेगा कि हम हस्तक्षेप करनेके लिए वहाँ अपनी सेना फिरसे भेज सकें।

बाक्सर विद्रोहको दबानेमें जर्मनीने जो कुछ काम किया था,

उस पर संसारका आवश्यकतासे अधिक ध्यान आकृष्ट हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि जर्मन राजदूत केटलरके मारे जानेके कारण जर्मनीको इस बातका विशेष अधिकार प्राप्त था कि वह चीन पर चढ़ाई करे। यद्यपि उस समय उसके पास चीनके कामके लिए बहुत ही थोड़े सैनिक थे, लेकिन फिर भी सब महाशक्तियोंकी सम्मिलित सेनाका नायकत्व जर्मन फील्ड मार्शल वाल्डरसीको ही मिला था। इसका एक कारण था। वह यह कि जापान और रूस तो आपसकी ईर्ष्याके कारण एक दूसरेके सेनापतिको मंजूर नहीं कर सकते थे; और अँगरेज लोग उस समय बोअर युद्धमें फँसे हुए थे। उनको इस बातका डर था कि अँगरेजी सैनिकोंकी कमीके कारण कहीं पेकिंग पर रूस या जापान अपना ही अधिकार न कर लें; इसलिए उन्होंने इस आशासे एक जर्मन सेनापतिका नाम ले दिया कि शायद कैसर ही वहाँ अपनी अधिक सेना भेज सके। पीछेसे ऐसा ही हुआ भी और नवम्बरके अन्तमें चीनमें बीस हजार जरमन सैनिक पहुँच गये थे। इस सम्बन्धमें जरमनीने अपना जो वक्तव्य प्रकाशित किया था, वह बहुत ही शानदार, नपा-तुला और मर्यादित था। जरमनीकी ओरसे यह कहा गया था कि चीनमें केवल स्वयंसेवकोंकी ही सेना भेजी जायगी और उस सेनाका उद्देश्य यह होगा कि पेकिंगके युरोपियनोंकी जान बचाई जाय और केटलरकी हत्या तथा चीनके दूसरे अत्याचारोंका बदला चुकाया जाय। साथ ही यह भी कहा गया था कि चीनको टुकड़े टुकड़े करके आपसमें बाँट लेना जर्मनीकी नीतिके विरुद्ध है। पर उन जर्मन सैनिकोंने चीनमें पहुँचकर जो कुछ किया, उसके कारण जर्मनीकी सारे संसारमें बहुत ही बदनामी हुई। एक तो अँगरेज सैनिकोंको छोड़कर और कोई जर्मन सेनापतिको कुछ समझता ही न था। दूसरे जर्मन सैनिकोंने पेकिंगके राजमहलमें

पहुँचकर वहाँकी वेधशालाके सभी बहुमूल्य यंत्र जब्त कर लिये और जर्मनी भेज दिये। यह कार्रवाई जर्मन प्रजाको बहुत नापसन्द हुई थी। यों तो महाशक्तियोंके सैनिकोंने पहले तिन्तसिनमें और फिर पेकिंगमें खूब ही गहरी लूट मचाई थी, पर वेधशालाके यंत्रोंकी लूट इसलिए बुरी समझी गई थी कि वह सरकारी तौर पर हुई थी और जर्मन सरकारने बड़ी बेहयाईसे लूटका वह माल लेना मंजूर कर लिया था। पीछेसे एक जर्मन समाचारपत्रमें यह भी प्रकाशित हुआ था कि जर्मन सरकार तो वे यंत्र लौटानेके लिए तैयार थी, पर चीन सरकारने उनको वापस लेना ही नहीं मंजूर किया! वारसेल्सकी सन्धि तक ये सब यंत्र जर्मनीमें ही थे और सम्भव है कि अब तक वहीं हों।

१५ मार्च १९०१ को जर्मन रेष्टैगमें चैन्सलर बूलोने कहा कि कुछ शक्तियाँ ऐसी हैं जो चीनमें केवल व्यापारिक अधिकार चाहती हैं, और कुछ ऐसी हैं जो राजनीतिक अधिकार ढूँढती हैं। जर्मनी पहली श्रेणीवाली शक्तियोंमेंसे है; इसलिए उसने इस आशासे ग्रेट ब्रिटेनके साथ समझौता किया था कि जहाँ तक हो सकेगा, दोनों मिलकर चीनको अनेक भागोंमें विभक्त होनेसे बचा सकेंगे। पर यहाँ यह बात ध्यान रखनेके योग्य है कि उस समझौतेमें मंचूरियाके सम्बन्धमें कुछ भी निश्चय नहीं हुआ था। इसका कारण यह था कि वहाँ जर्मनीका कोई विशेष स्वार्थ नहीं था। बूलोने भी उस समय यही कहा था कि मंचूरियासे हमसे कोई मतलब नहीं है। पर फिर भी हमें सब शक्तियोंके साथ मिलकर इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि जब तक चीनका सारा ऋण चुक न जाय, तब तक उसके आय-मार्ग बराबर बने रहें, कम न होने पावें। बस चीनके प्रति युरोपियनोंकी नीतिका निचोड़ बूलोके इस भाषणमें आ गया था। वे लोग केवल अपने लाभका ध्यान रखते थे। भला

जर्मनोंको इस बातसे क्या मतलब कि कोरियाकी स्वतंत्रता नष्ट होती है या मंचूरियामें चीनके अधिकार छीने जाते हैं ? वे शाण्टुंग, वाई हाई वाई, शंघाई और हांगकांगकी चिंता क्यों करने लगे ? आरम्भसे आज तक सभी युरोपियन महाशक्तियाँ चीनके साथ इसी बूलोवाली नीतिका ही पालन करती रहीं और उनके बाद जापानने भी उन्हींका अनुकरण किया। युरोपियनोंकी सदा सब जगह यही नीति रही है कि हमारे अपने स्वार्थ तो सब कुछ हैं और दूसरोंके अधिकार कोई चीज ही नहीं हैं। मानों अधिकारोंका सारा ठीका इन गोरोंके ही नाम है, दूसरोंको ईश्वरने इनका दासत्व करनेके लिए ही बनाया है।

जिस समय पेकिंगके राजदूतावासोंको चीनियोंने घेर रखा था, उस समय ग्रेट ब्रिटेनके उदारमतवादी समझते थे कि पेकिंगके युरोपियनोंकी सहायताके लिए सेना भेजनेमें केवल इसी कारण विलम्ब हो रहा है कि दूसरी शक्तियाँ यह नहीं चाहतीं कि जापान या रूसके द्वारा उन लोगोंका इस विपत्तिसे उद्धार हो। अर्थात् केवल राजनीतिक चाल चलनेके लिए ही उन महाशक्तियोंने अपनी तथा औरोंकी असहाय स्त्रियों और बच्चोंको पेकिंगकी जोखिममें डाल रखा था। और यह बात थी भी बहुत कुछ ठीक ही। इस सम्बन्धमें इन महाशक्तियोंकी नीचता और विचारोंकी तुच्छता उस समय और भी अधिक स्पष्ट हो गई, जब पेकिंगके युरोपियनोंकी रक्षा करनेके लिए भारतके भारतीय सैनिक शंघाई पहुँच गये, पर फिर भी वे जहाज पर केवल इसलिए रोक रखे गये कि कुछ गोरे सैनिक तब तक वहाँ नहीं पहुँचे थे। जब कुछ जर्मन और फ्रान्सीसी सैनिक वहाँ जाकर चीनके तट पर उतर चुके, तब भारतीय सैनिक वहाँ उतारे गये ! जो गोरी जातियाँ केवल राजनीतिक चालें चलनेके लिए ही अपनी निरीह स्त्रियों और बच्चों तकका

बलिदान कर सकती हैं, वे दूसरोंके साथ जो कुछ अन्याय न करें, वही थोड़ा है। बस यही पाश्चात्य सभ्यताका नग्न रूप है। आश्चर्य तो यह है कि ऐसी नीचतापूर्ण सभ्यताके लिए लज्जित होनेके बदले ये मदान्ध जातियाँ उलटे अभिमान करती हैं ! ईश्वर करे, इनका यह अभिमान शीघ्र ही समूल नष्ट हो जाय और इनकी समझमें यह बात आ जाय कि "पृथिवी भ्रातृभावेन भुज्यतां विज्वरो भव।"

२ अगस्तको पार्लीमेण्टमें सर एडवर्ड ग्रेने कहा था कि वर्त्तमान विद्रोहका मुख्य कारण यह है कि लोग समझते हैं कि चीन अब इस योग्य हो गया है कि सब युरोपियन शक्तियाँ मिलकर उसको बाँट लें और उसकी स्वतन्त्रता छीन ली जाय। उस समय कुछ लोग यह भी कहा करते थे कि चीनमें बाक्सर विद्रोह इसलिए खड़ा हुआ है कि जर्मनीने उसका क्याऊ चाऊ ले लिया है और इस प्रकार दूसरी शक्तियोंको भी चीनके अधिक प्रदेश लेनेके लिए उत्तेजित कर दिया है। पर यह बात उस समयके राजनीतिज्ञोंके मनमें नहीं बैठती थी। सर एडवर्ड ग्रेने भी उस विद्रोहका दोष जर्मनीके सिर नहीं मढ़ा था। ब्रिटिश सरकारकी ओरसे भाषण करते हुए मि० ब्राडरिकने भी जर्मनों और विशेषतः वाल्डरसीकी बहुत प्रशंसा की थी। उन्होंने कहा था कि अनेक अंशोंमें जर्मनी और ग्रेट ब्रिटेनके स्वार्थ समान ही थे और ब्रिटिश सरकार जर्मनोंके हस्तक्षेपको बहुत लाभदायक समझती है। उन्होंने यह आशा भी प्रकट की थी कि जर्मनी और इंगलैण्ड मित्र-भाव रखकर अच्छी तरह आगे बढ़ सकते हैं और दोनोंको निश्चित विजय हो सकती है। उन्हें यह आशा थी कि इन दोनों महाशक्तियोंमें अच्छी मित्रता स्थापित हो जायगी।

बाक्सर विद्रोहके दूसरे ही वर्ष रूसने लियाओटंग प्रायद्वीप

और मंचूरिया पर अपना पूरा पूरा अधिकार कर लिया। उस समय कुछ शक्तियोंने रूसके इस कामका विरोध किया था और उसको इससे रोकना चाहा था। पर जर्मनी और फ्रान्सने उन शक्तियोंका साथ देनेसे इनकार कर दिया। इन दोनोंका इनकार करना भी वाजिब ही था; क्योंकि वे तो कई वर्ष पहले ही रूसके साथ इसलिए मिल चुकी थीं कि जापान वह काम न करने पावे जो वे स्वयं करना चाहती थीं। रूसका विरोध ग्रेट ब्रिटेन, जापान और अमेरिकाने किया था। इसी लिए ग्रेट ब्रिटेन और जापानमें मित्रता हो गई, जो आज तक चली चलती है। इससे अमेरिकन सरकारको और भी साहस हुआ और उसने कहा कि चीनका अंग-भंग न होना चाहिए और वहाँ मुक्तद्वार वाणिज्यकी नीतिका पालन होना चाहिए। इसका परिणाम यह हुआ कि चीनवाले अमेरिकाको अपना मित्र समझने लग गये। पर इन तीनोंके मिल जाने पर भी रूसने अपना काम पूरा कर ही लिया। चीन और कोरियाके प्रदेश छीन छीनकर रूस तब तक अपना साम्राज्य बराबर बढ़ाता रहा, जब तक उसका प्रसार जापानके लिए भयप्रद न गया। और जब जापानने देखा कि रूसका अधिक प्रसार हमारे लिए हानिकारक हो सकता है, तब उसने लड़ भिड़कर उसको रोका। मंचूरियाके एक सिरेसे दूसरे सिरे तक ट्रान्स-साइबेरियन रेलवे बनाकर और मंचूरियाके जिन भागोंसे होकर वह रेल गई थी, उन भागोंमें सब प्रकारके आर्थिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त करके भी रूस सन्तुष्ट न हुआ और इस ताकमें लगा रहा कि किसी प्रकार सारा मंचूरिया, कोरिया और लियाओटंग हमारे हाथ आ जाय। उसने मकदनसे होते हुए आर्थर बन्दर तक रेल बनानेका अधिकार तो प्राप्त कर ही लिया था; पर ली हुंग चंगके साथ गुप्त रूपसे बातचीत करके उसने तिन्तसिनमें जमीन लेकर बस्ती बसानेका भी

अधिकार प्राप्त कर लिया। यह स्थान पीहो नदीके बाएँ किनारे पर और अँगरेजोंके अधिकृत प्रदेशके ठीक सामने था। बस फिर क्या था। सभी शक्तियाँ तिन्तसिनमें अधिकार प्राप्त करनेकी चिन्तामें लग गईं और वह स्थान युरोपियन शक्तियोंकी प्रतिद्वन्द्विताका केन्द्र बन गया। सभी शक्तियाँ चीनी राज्यकी उपेक्षा करके वहाँ जमीन पानेके लिए लड़ने लग गईं। १९०१ में रूसने, मंचूरियाके दक्षिण और चि-लीसे सेनाएँ हटाना तो दूर रहा, उलटे ली हंग चंगके द्वारा चीनके साथ एक गुप्त सन्धि करनेका उद्योग आरम्भ कर दिया। पेकिंगमें कुछ लोगोंने ग्रेट ब्रिटेन और जापानके बढ़ावा देने पर रूसकी माँगोंका विरोध शुरू किया। इस पर रूसने चीनको लिख भेजा कि या तो एक निश्चित तिथि तक तुम हमारी ये सब शर्तें मंजूर कर लो या हमारे साथ लड़नेके लिए तैयार हो जाओ। उस समय रूसने जो शर्तें या माँगें पेश की थीं, उनका सारांश यह है:—

"मंचूरियाके शासनका अधिकार तो चीनके हाथमें रहे, पर वहाँ शान्तिरक्षाके लिए वह रूससे अवश्य सहायता ले। मंचूरियन रेलवेकी रक्षाके लिए वहाँ रूसी सैनिक रहें। बिना रूसकी मंजूरीके न तो मंचूरियामें किसी प्रकारकी युद्ध-सामग्री रखी जाय और न कोई सेना उतरे। चीनकी जल तथा स्थल सेनाके संघटनमें रूसियोंके अतिरिक्त और किसी विदेशीसे कोई सहायता न ली जाय। मंचूरिया और लियाओटंगमें जो चीनी अफसर रूसके विरोधी हों, वे नौकरीसे अलग कर दिये जायँ। लियाओटंगकी खाड़ीके उत्तरका किनचाऊ प्रदेश रूसके शासनमें रहे। मंचूरिया, मंगोलिया और तुर्किस्तानमें विदेशियोंको खानोंका ठीका या रेलें बनानेका कोई अधिकार न दिया जाय। बाक्सर विद्रोहके कारण मंचूरियामें रूसकी जो हानि हुई है और जो खर्च पड़ा है, उसके लिए रूसको

हरजाना मिले। मंचरियन रेल्वेको जो क्षति पहुँची है, उसके लिए या तो रूसके साथ कुछ और नई रिआयत की जाय और या पुरानी रिआयतोंमें कुछ और बढ़ाया जाय। और मंचूरियन रेल्वेको चीनकी दीवार तक पहुँचानेका अधिकार दिया जाय।" इन सब माँगोंका मतलब यह था कि पेट्रोग्रेडसे लेकर पेकिंग तक सारा अधिकार रूसका ही रहे।

पहले चीनने रूसकी इन माँगोंका विरोध किया था। जब बाक्सर-वाले झगड़ेको तै करनेके लिए शर्तोंका मसौदा तैयार हो गया और उस पर सबके हस्ताक्षर हो गये, तब रूसने एक नई सन्धिका मसौदा पेश किया। मसौदा क्या था, युद्धकी चुनौती थी। कहा गया था कि या तो यह सन्धि मजूर करो या लड़ लो। उसी अवसर पर ली हुंग चंगकी मृत्यु हो गई। मंचूरियामें तब तक रूसकी सेना मौजूद ही थी; इसलिए चीन यदि रूसकी शर्तें न मंजूर करता तो रूस आप ही उन शर्तोंके अनुसार सब अधिकार प्राप्त कर सकता था। अधिकार तो एक प्रकारसे (बलके रूपमें!) उसके हाथमें थे ही, केवल उनके उपयोगकी देर थी। नवम्बरमें ट्रान्स-साइबेरियन रेल्वे बनकर तैयार हो गई और रूसने लियाओटंग-वाली शाखाको डैल्नी नामक स्थानमें समाप्त करनेका सारा आयो-जन कर लिया। चीन और दूसरी शक्तियोंके विरोध करने पर भी उन सबके अधिकारोंको पददलित करते हुए निउचांग बन्दरसे रूसी लोग नहीं हटे। यह बन्दर सन्धिके अनुसार सार्वराष्ट्रीय हो चुका था।

जनवरी १९०२ में ग्रेट ब्रिटेन और जापानने चीनको सूचना दी कि यदि तुम मंचूरियाके कुल अधिकार केवल रूसियोंको ही दे दोगे, तो हम इसे मंजूर न करेंगे। इसके उपरान्त फरवरीमें एंग्लो-जापानी मित्रताकी शर्तें प्रकाशित हो गईं, जिनमें यह विश्वास

दिलाया गया था कि न तो चीनकी स्वतंत्रता नष्ट की जायगी और न उसका अंग-भंग हो सकेगा। इसके अतिरिक्त वहाँ सब लोगोंको व्यापार आदि करनेका समान अधिकार रहेगा। अमेरिकाने पेट्रोग्रेडमें भी और पेकिंगमें भी रूसके कामोंका घोर विरोध किया था। इस पर रूसने अमेरिकाको विश्वास दिला दिया कि रूसके अधिकारमें चीनके जो प्रदेश रहेंगे, उनमें भी सब लोगोंको व्यापार आदिके सम्बन्धमें समान अधिकार रहेंगे। यही वचन ग्रेट ब्रिटेन और जापानको भी दिया गया। फ्रान्स और जर्मनीने यह अधिकार माँगा ही न था, इसलिए उन दोनोंसे कुछ न कहा गया। पर असल बात यह थी कि फ्रान्सीसी पूँजीदारोंको इस बातका दृढ़ विश्वास था कि मंचूरियामें रूस जो आर्थिक लूट मचावेगा, उसके लाभका सबसे अधिक अंश हमको ही मिलेगा। जर्मनी चुपचाप रूसकी यह सब कार्रवाइयाँ देख रहा था। वह सोचता था कि ज्यों ही रूसको मंचूरियामें कोई नया अधिकार मिलेगा, त्यों ही हम उसकी नजीर देकर शाण्टुंगमें अपने लिए भी वही अधिकार माँगेंगे; और इसी लिए वह अब तक चुप था।

८ अप्रैल १९०२ को रूस और चीनके समझौते पर हस्ताक्षर हो गये। रूसने यह वचन दिया कि अठारह महीनेके अन्दर हम मंचूरियासे अपनी सेनाएँ हटा लेंगे, सारी मंचूरियन रेल्वे चीनको दे देंगे, उसकी रक्षाका भार चीनी सेनाको सौंप देंगे, और मंचूरियाको चीन साम्राज्यका अन्तर्मुक्त प्रदेश समझेंगे। उधर चीनके जिम्मे यह काम था कि वह रेलके प्रबन्धका अधिकार रूसियोंको दे दे और भविष्यमें बिना रूसकी मंजूरीके किसी दूसरी शक्तिको मंचूरियामें रेल बनानेका अधिकार न दे। ये सब बातें तो सारे संसारको बतलाई गई थीं; पर इनके अन्दर कुछ और बातें भी थीं जो रूस उस समझौतेमें शामिल कराना चाहता था। रूसकी

इच्छा थी कि गुप्त रूपसे यह निश्चित हो जाय कि मंचूरियाकी रेल और खानोंका कुल अधिकार और प्रबन्ध रूसो-चीनी बंकके हाथमें रहे। यह बंक रूसियोंका था जो उन्होंने चीनमें खोल रखा था। पर किसी प्रकार इस गुप्त समझौतेकी बात सब शक्तियों पर प्रकट हो गई और यह समझौता न हो सका। हुआ उन्हीं शर्तोंके अनुसार समझौता, जो सारे संसार पर प्रकट थीं। यदि इस गुप्त समझौतेका पता दूसरी शक्तियोंको न लगता, तो उस समय वह भी हो जाता। फिर आगे चलकर जो होता, वह देखा जाता।

जूलाई १९०३ में लियाओटंग प्रायद्वीप तक रेल बन गई। उस समय लक्षणोंसे यही जान पड़ता था कि चीनके साथ रूस अपनी शर्तें पूरी करना नहीं चाहता। मंचूरियासे सेना हटानेके सम्बन्धमें नये नये बहाने ढूँढे जाने लगे; और अन्तमें १९०२ वाली सन्धिके साथका गुप्त समझौता भी हो गया। अब फिर यह निश्चय हो गया कि मंचूरियामें रूसियोंके अतिरिक्त और कोई विदेशी व्यापार न कर सके। पर लन्दन और वाशिंगटनमें रहनेवाले रूसी राजदूतोंने इस बातसे साफ इनकार कर दिया और कह दिया कि इस प्रकारकी कोई बातचीत नहीं हो रही है। पर पेकिंगमें रहनेवाले अमेरिकन राजदूतको इस बातके पुष्ट प्रमाण मिल गये थे कि रूसकी नीयत अच्छी नहीं है। ८ अक्तूबरको मंचूरिया खाली करनेके बदले रूसियोंने आर्थर बन्दरमें अपनी जल तथा स्थल सेनाका प्रदर्शन किया और २८ अक्तूबरको मकदनमें और भी नये सैनिक ला रखे। रूसी सेनापति एलक्जीफने इसके लिए यह बहाना बतलाया था कि बिना मंचूरियाका शासन अपने हाथमें लिये रूस वहाँ सभ्यताका प्रसार नहीं कर सकता। अर्थात् सभ्यताकी ठीकेदारी रूसको मंचूरियाका शासन अपने हाथमें लेनेके लिए बाध्य कर रही है! यदि इन युरोपियन शक्तियों-

को ईश्वरके यहाँसे सभ्यताके प्रसारका पट्टा न मिला होता, तो ये बेचारियाँ क्यों अपना घर-बार छोड़कर सात समुन्दर पारके देशों- में शासन करनेके लिए मारी मारी फिरतीं ? अस्तु, इसी बीचमें लोगोंको मालूम हुआ कि उत्तर मंगोलियामें रूसियोंने अपने किले बना लिये हैं और वे वहाँ व्यापारिक तथा राजनीतिक कार्योंके लिए अपने कारिन्दे भेज रहे हैं। इसके अतिरिक्त कुछ रूसी इंजीनियर वहाँ रेलवेके लिए नाप-जोख भी कर रहे थे। उस समय चीनी सेनाके प्रधान सेनापति युआन शी काई थे। वे चाहते थे कि रूसके साथ युद्ध किया जाय और उसमें जापानसे सहायता ली जाय। पर चीनमें उनकी बात किसीने नहीं सुनी। पेकिंगमें रहनेवाले राजदूत यद्यपि रूसकी इन कार्रवाइयोंका भी बहुत विरोध करते थे और आपसमें भी एक दूसरेका बहुत विरोध करते थे, पर फिर भी वे यह नहीं चाहते थे कि जापानके साथ चीन मिल जाय !

यदि उस समय चीनवाले युआन शी काईकी बात मान लेते, तो आज चीन और जापानमें इतना वैमनस्य न देखनेमें आता। क्योंकि रूस-जापान युद्धके समय चीन और जापान दोनोंके हित समान ही थे। यदि चीन उस समय जापानके साथ मिल जाता और युरोपियनोंकी लूटसे अपने आपको बचानेका उद्योग करता, तो उसका इधरके सोलह सत्रह वर्षोंका इतिहास कुछ और ही होता। जिस समय जापान जीवन-मरणका प्रश्न लेकर रूसके सा- थ लड़ रहा था, उस समय चीन चुपचाप बैठा तमाशा देखता था। जिस प्रकार गत महायुद्धमें फारसने तटस्थ रहकर युद्धके लाभोंसे तो हाथ धोया था और युद्धकी सारी विपत्तियाँ सही थीं, उसी प्रकार उस समय चीनने भी तटस्थ रहकर युद्धके सब प्रकारके कष्ट तो सहे थे और उससे होनेवाले लाभोंसे हाथ धोया था।

मंचूरियामें चीनियोंके हज़ारों घर तहस-नहस हो गये थे और उनकी बहुत सी चीजें युद्धके कामके लिए जबरजस्ती ले ली गई थीं। इसके अतिरिक्त चीनी नागरिकोंको दोनों ही दलोंकी सेनाओंके लिए बेगार करनी पड़ी थी। जापानियों और रूसियोंने चीनियोंके अधिकारोंकी पूरी पूरी उपेक्षा करके उसके घरमें युद्ध ठाना और अन्तमें आपसमें सुलह करके उसके मंचूरिया प्रदेशको आपसमें बाँट लिया!

शिमोनोसेकीकी सन्धिके समयसे लेकर पोर्ट्स्माउथकी सन्धिके समय तक यदि किसी महाशक्तिने चीनका पक्ष लिया, तो केवल अमेरिकाने लिया था। उसका व्यवहार बहुत कुछ आदर्श और निस्स्वार्थ था। राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिए ठीके और पट्टे आदि लिखाने तथा विशिष्ट क्षेत्रोंको अपने प्रभावमें रखनेकी प्रथाको अमेरिका सदासे निन्दनीय और घृणित समझता है। वह इस बातको भी बहुत अनुचित समझता है कि यदि एक शक्ति किसी प्रदेशका कोई अंश दबा बैठे, तो इस बहानेसे दूसरी शक्तियाँ भी उस प्रदेशके दूसरे अंशोंको दबानेके लिए तैयार हो जायँ। यह तो वही बात हुई कि अगर एक डाकूने किसीके घर डाका डाला, तो और डाकुओंको भी उस गरीबके घर डाका डालनेका अधिकार हो गया। जिस संसारमें महाशक्तियाँ इस प्रकारकी नीतिका अनुसरण करती हों, उस संसारमें भला राष्ट्र-संघसे किस उपकारकी आशा की जा सकती है? राष्ट्र-संघमें भी तो इन्हीं महाशक्तियोंकी प्रधानता रहेगी! यदि कोई यह आशा करता हो कि कई राष्ट्रोंके प्रतिनिधियोंके एकत्र होने पर किसी राष्ट्र अथवा उसके प्रतिनिधिको लज्जा आ जायगी, तो वह भूल करता है। यहाँ तो कूट-नीतिका राज्य है। दुर्बलोंके अधिकारोंकी ओर तो कभी कोई भूलकर देखता ही नहीं। ये महाशक्तियाँ सदा एक दूस-

रोंके कार्यों और नीतिका ही अनुकरण करती हैं। फिर चाहे वह नीति और वे कार्य कितने ही गर्हित और निन्दनीय क्यों न हों! यदि एक महाशक्ति चीनके साथ कोई अन्याय करती है, तो पहले सब महाशक्तियाँ मिलकर शोर मचाने लगती हैं और तब आप भी वही अन्याय करने लग जाती हैं। वे कभी किसी दूसरी शक्तिके अन्यायका प्रतिकार नहीं करतीं, बल्कि उस अन्यायको अपने अन्यायका बहाना बना लेती हैं। कोई यह नहीं पूछना चाहता कि चीनके साथ यह अन्याय क्यों हुआ। वे स्वयं भी वही अन्याय करने लग जाती हैं और अपने आपको निर्दोष प्रमाणित करनेके लिए कह देती हैं कि यह अन्याय पहले अमुक शक्तिने किया, इसलिए हम भी वही करनेके लिए विवश हो रहे हैं। इससे भी बढ़कर एक विलक्षणता और है। जब किसी शक्तिको स्वयं ही कोई अन्याय करना होता है और उसे वैसे किसी अन्यायका उदाहरण नहीं मिलता, तो वह केवल यही कहकर उस अन्यायमें प्रवृत्त हो जाती है कि यदि हम ऐसा न करेंगे, तो अमुक शक्ति ही यह काम कर डालेगी। अर्थात् हम यदि आपकी टोपी न छीन लेंगे, तो और कोई आकर छीन लेगा; इसलिए पहले हम ही क्यों न छीन लें? तब सब लोग कहेंगे कि अच्छा बाबा, छीन लो। पर साथ ही कोई आकर आपका रूमाल छीन लेगा, कोई घड़ी ले लेगा, कोई छड़ी पर अधिकार जमावेगा और कोई आपके अंगेका बन्द ही तोड़कर भागेगा। और फिर भी मजा यह कि सब अपने आपको एक दूसरेसे अधिक सभ्य, अधिक शिक्षित, अधिक परोपकारी और अधिक धर्मात्मा बतलावेंगे और कहेंगे कि हम जिसे लूटते हैं, उसे उसका उपकार करनेके लिए लूटते हैं, उसे अपने समान सभ्य, शिक्षित, परोपकारी और धर्मात्मा बनानेके लिए लूटते हैं! ऐसी सभ्यता और शिक्षा आदिका संसारसे जितनी जल्दी नाम-निशान

मिट जाय, उसका उतना ही अधिक कल्याण है। और जब तक यह सभ्यता, यह शिक्षा और परोपकार आदिके ये भाव बने रहेंगे, तब तक बराबर गत युरोपीय महायुद्धकी संशोधित, परिवर्द्धित और परिवर्त्तित आवृत्तियाँ होती रहेंगी। अब या तो संसार इस सभ्यता और शिक्षाका अन्त करे और या ऐसी नई नई आवृत्तियाँ देखनेके लिए तैयार रहे और धन तथा जनके रूपमें उनका मूल्य चुकाता रहे। यदि प्रजा शीघ्र ही सावधान न होगी, तो ये थोड़े से राजनीतिज्ञ सारे संसारको चौपट किये बिना न छोड़ेंगे।

अमेरिकाने स्पेनके साथ युद्ध करके फिलिपाइन्स पर अधिकार प्राप्त किया था और इसीसे वह भी एशियाकी औपनिवेशिक शक्तियोंकी कोटिमें आ गया था। तबसे पूर्वी एशियामें उसकी स्थिति बहुत दृढ़ हो गई थी। उसने अपनी उस स्थितिसे लाभ उठाकर इस बातका उद्योग करना चाहा था कि चीनका अंग-भंग और विभाग न हो सके। जब ग्रेट ब्रिटेन और रूसने आपसमें यह समझौता कर लिया कि हम लोग उसके कुछ प्रदेशोंको बाँट लें, और अपना अपना प्रभुत्व-क्षेत्र नियत कर लें, तब अमेरिकाने अपनी मुक्त-द्वारवाली नीति लोगोंके सामने उपस्थित की। ६ सितम्बर १८९९ को उसने सब महाशक्तियोंसे, जिनमें जापान भी सम्मिलित था, यह कहा कि सब शक्तियाँ मिलकर एक ऐसा सार्वराष्ट्रीय निर्णय कर लें जिससे इस प्रभुत्व-क्षेत्रवाली परिपाटीका सदाके लिए अन्त हो जाय। चीनके किसी विशिष्ट बन्दर अथवा क्षेत्रमें किसी शक्तिको भी कोई विशिष्ट अधिकार न प्राप्त हो; उस देशके अधिकारी अपने इच्छानुसार ऐसा सामुद्रिक कर नियत कर लें जो सब स्थानोंमें और सब देशोंके मालके लिए समान रूपसे प्रयुक्त हुआ करे; और उस कर अथवा रेलोंके भाड़े आदिमें किसी शक्ति अथवा देशके लिए कोई रिआयत न की

जाय। उस समय चीनका अधिकांश व्यापार ग्रेट ब्रिटेनके हाथमें था। उसने अमेरिकाका यह प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया। तब और शक्तियोंसे भी निश्चित उत्तर माँगा गया। पर इसी बीचमें बाक्सर विद्रोह उठ खड़ा हुआ, जिसके कारण मुक्त-द्वारवाली बात तो मानो हवामें उड़ गई और अमेरिकाका प्रस्ताव जहाँका तहाँ रह गया। बाक्सर विद्रोहके समय अमेरिकाने टाकूके किले पर गोलेबारी करनेसे इनकार कर दिया; और जब पेकिंगमें वहाँके गोरे निवासियोंकी रक्षाके लिए सार्वराष्ट्रीय सेनाएँ भेजी जाने लगीं, उस समय भी उसने अपनी सेना भेजनेमें आनाकानी की। इसमें सन्देह नहीं कि सार्वराष्ट्रीय सेनाओंके वहाँ पहुँचनेके कारण बाक्सर दलके उत्पात बहुत कुछ बढ़ गये थे। सभी शक्तियाँ उस अवसरसे लाभ उठाकर अपना अपना काम निकालनेके लिए अधीर हो रही थीं। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इन युरोपियन महाशक्तियोंने उस विद्रोहके कारणको दूर करने और चीनियोंके प्रति अपने सद्भाव प्रकट करनेका कोई उद्योग नहीं किया। उलटे उन्होंने ऐसे ऐसे कार्य किये जिनसे उपद्रव और भी बढ़ जाय और उन्हें हस्तक्षेप करनेका अवसर मिले। उन दिनों युरोपियन समाचारपत्र चीनको ठीक उसी प्रकार बदनाम कर रहे थे, जिस प्रकार उस समय वे मिस्रको बदनाम कर रहे थे, जिस समय जर्मनीके सामने सन्धिपत्र उपस्थित करनेसे पहले ग्रेट ब्रिटेन जल्दीसे अपने मित्रोंसे यह बात मंजूर करा लेना चाहता था कि मिस्र पर हमारा संरक्षण रहे। उस समय भी इसके लिए ग्रेट ब्रिटेनके समाचारपत्र मिस्रके सम्बन्धमें झूठी-सच्ची और उलटी-सीधी खबरें प्रकाशित किया करते थे। अन्तमें जब अमेरिकाने सार्वराष्ट्रीय सेनाके साथ अपनी सेना भी भेजना निश्चित किया, तब उसके मन्त्रीने ३ जुलाई १९०० को कहा था कि अमेरिकाके संयुक्त राज्योंका केवल यही उद्देश्य

है कि कोई ऐसा उपाय निकल आवे जिससे चीनमें स्थायी शान्ति स्थापित हो जाय, उसके प्रदेश छीने न जा सकें, उसके शासन-कार्योंमें कोई हस्तक्षेप न कर सके, सार्वराष्ट्रीय नियमों और सन्धियों आदिके अनुसार उससे मित्र राष्ट्रोंको जो अधिकार प्राप्त हों, उनकी बराबर रक्षा हो सके और संसारकी शान्ति-रक्षाके लिए चीनी साम्राज्यके साथ सभी राष्ट्रोंको व्यापार आदि करनेका समान अधिकार प्राप्त हो जाय।

बाक्सर विद्रोहके शान्त होने पर जब जर्मनी, फ्रान्स और रूसने चीनसे बहुत अधिक हरजाना लेना चाहा था, उस समय अमेरिका उन लोगोंसे सहमत नहीं था। वह अच्छी तरह समझता था कि यह हरजाना केवल चीनका दिवाला निकालनेके लिए माँगा जा रहा है; और जब आगे चलकर वह हरजानेकी रकम न दे सकेगा, तब ये शक्तियाँ उसके बदलेमें उसके प्रदेश छीन लेंगी। ग्रेट ब्रिटेनने चीनके अनेक बन्दरोंका बहुत कुछ सुधार और उन्नति की थी, इसलिए उन बन्दरोंको दूसरी शक्तियोंके हाथमें जानेसे बचानेके उद्देश्यसे उसने भी अमेरिकाका साथ दिया। जापानने भी इसलिए अमेरिकाका साथ दिया था कि वह चाहता था कि चीन पर किसी युरोपियन शक्तिका कोई विशेष अधिकार न रह जाय। पर फिर भी अन्तमें हरजानेकी जो रकम निश्चित हुई थी, वह महाशक्तियोंकी वास्तविक हानिसे इतनी अधिक थी कि अमेरिकाने अपने हिस्सेकी पूरी रकम लेनेसे इन्कार कर दिया था और उसका केवल आधा ही लिया था!

अमेरिका बहुत चाहता था कि मंचूरियामें रूस न घुस सके, पर उसकी कुछ भी न चली। इसके उपरान्त जब रूस-जापान युद्ध समाप्त हो गया और यह निश्चय हो गया कि रूसका अधिकार केवल उत्तरी मंचूरियामें ही रहे, तब भी अमेरिकाने इस

वालका बहुत उद्योग किया था कि वहाँकी म्यूनिस्पेल्टियोंका कुल अधिकार चीनके ही हाथमें रहे और रूसके हाथमें न जाने पावे। पर उस बार भी उसका सारा उद्योग विफल ही हुआ। इसके उपरान्त दिसम्बर १९०९ में एक बार अमेरिकाने फिर इस बातका उद्योग किया था कि मंचूरिया पर फिरसे चीनका अधिकार हो जाय और वहाँ तथा लियाओटंगमें सब देशोंको व्यापार करनेका समान अधिकार मिल जाय। उसका यह प्रस्ताव था कि वहाँकी सब रेलें चीनको वापस मिल जायँ और उनका प्रबन्ध रूसियों और जापानियोंके हाथसे निकलकर चीनियोंके हाथमें चला जाय, पर जापान और रूसने इसका घोर विरोध किया। यही नहीं, एक ब्रिटिश-अमेरिकन कम्पनीको चीनने उत्तर मंचूरियामें रेल बनानेका जो अधिकार दिया था, वह अधिकार भी उन लोगोंने चीनको दबाकर छिनवा दिया। अमेरिकन सरकार पहले यह बात कह चुकी थी कि आवश्यकता पड़ने पर इस कम्पनीको हम सब प्रकारकी राजनीतिक सहायता भी देंगे। पर जब उसका रेल बनानेका अधिकार छिन गया, तब वह अनेक कारणोंसे चुप रह गई। इस प्रकार चीनमें मुक्तद्वारकी नीति स्थापित करनेके उद्योगमें उस बार अमेरिकन सरकारको नीचा भी देखना पड़ा था।

चीनके अनेक राजनीतिज्ञ और दूसरे समझदार इस बातकी बहुत बड़ी शिकायत करते हैं कि युरोपियन शक्तियों तथा जापानने हमारे देशमें बेतरह लूट मचा रखी है। यद्यपि अमेरिका बराबर समय समय पर चीनके साथ सहानुभूति प्रकट करता रहा है और उसको सहायता देनेका वचन देता रहा है, पर फिर भी अब अमेरिका परसे चीनियोंका विश्वास उठ सा गया है। वे समझते हैं कि अमेरिका बातें तो बहुत बड़ी बड़ी करता है, पर समय पड़ने पर काम कुछ भी नहीं करता। गत महायुद्धके समय भी चीनको

अमेरिकाने इस बातका वचन दिया था कि यदि तुम युरोपमें लड़नेके लिए अपनी सेनाएँ भेजोगे, तो हम तुमको उसके व्ययके लिए ऋण देंगे। पर मित्र-राष्ट्र यह नहीं चाहते थे कि युद्ध क्षेत्रमें चीन भी आवे, इसलिए उन्होंने अमेरिका पर दबाव डालकर उसे चीनको ऋण देनेसे रोक दिया। शान्ति महासभाके समय भी चीनी प्रतिनिधि बराबर यही कहा करते थे कि हमें राष्ट्रपति विलसनने इस बातका दृढ़ विश्वास दिलाया था कि बिना किसी देशके निवासियोंकी पूर्ण स्वीकृतिके उस देशके शासन-कार्यों और शासकों आदिमें किसी प्रकारका परिवर्तन न हो सकेगा; और जिस देशके निवासी जिस प्रकार रहना चाहेंगे, वे उसी प्रकार रख जायँगे। पर राष्ट्रपति विलसन तो युरोपकी दावतों, सैरों और आदर-सत्कारके फेरमें पड़कर ऐसे भूले कि फिर उन्होंने कभी अपनी चौदह शर्तोंका नाम भी न लिया! युरोपियन कूट-नीतिज्ञों-के जालसे बचना कोई सहज काम नहीं है।

जब शिक्षित और देशहितैषी चीनियोंने देखा कि सब यूरो-पियन शक्तियाँ मिलकर हमारे देशको खा जाना चाहती हैं, जापान भी हमारा सर्वस्व हरण करनेके लिए हाथ धोकर हमारे पीछे पड़ा हुआ है और हमारा भविष्य हर तरहसे विदेशियोंके हाथमें जाना चाहता है, तब उन्होंने निश्चय किया कि हमारे देशका कल्याण तभी हो सकता है जब हम भी जापानके ढंग पर अपने यहाँ पूरा पूरा सुधार करें। रूस-जापान युद्धके बादसे ही वहाँ सुधारका आन्दोलन जोर पकड़ने लगा था। विदेशोंकी प्रजातंत्र-शासन-प्रणालीका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए चीनका एक शाही कमीशन निकला था, जिसकी रिपोर्टके अनुसार चीनमें १ सितम्बर १९०६ वाली घोषणा हुई थी। उस घोषणामें कहा गया था कि चीनमें शीघ्र ही प्रतिनिधि शासन-की स्थापना होगी और सब लोगोंको प्रतिनिधि चुननेका अधिकार

रहेगा। पर इस सुधारके पहले यह आवश्यक है कि शासन-प्रणाली, कानून, न्याय-विभाग, शिक्षा और सेना आदिके कामोंमें यथेष्ट सुधार किया जाय। तुरन्त ही तदनुसार कार्य भी होने लगा और वहाँ पन्द्रह विश्वविद्यालय और कन्याओंके लिए अनेक विद्यालय खुल गये। हजारों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करनेके लिए अमेरिका, युरोप और जापान चले गये। यह भी निश्चय हो गया कि धीरे धीरे उद्योग करके दस बरसमें अफीमकी सारी पैदावार और खपत बन्द कर दी जाय। राष्ट्रीय आन्दोलनोंके समय जैसा कि प्रायः हुआ करता है, चीनवालोंमें विदेशियोंके प्रति बहुत अधिक घृणा भी उत्पन्न हो गई। लगातार कई वर्षों तक आन्दोलन करनेके उपरान्त चीनने अपनी रक्षाके लिए सबसे अधिक प्रबल उद्योग किया। उसने अपनी सारी पुरानी बातोंको छोड़ दिया और प्रजातंत्र स्थापित करके सारे संसारको चकित कर दिया।

(२०)

चीनमें प्रजातन्त्र

जब तक युरोपवालोंने चीनमें जाकर लूट नहीं मचाई थी, तब तक वहाँ कोई विशिष्ट और निश्चित साम्राज्य नहीं था। एक तो चीन यों ही बहुत विस्तृत देश है; और दूसरे वहाँ गमनागमनके कुछ विशेष साधन नहीं थे, इसलिए वहाँके निवासियों पर राजा और राजवंशका कमसे कम राजनीतिक अधिकार तो बिलकुल नहीं था। हाँ, सामाजिक और

नैतिक दृष्टिसे लोग राजाको अवश्य "राजा" बल्कि ईश्वर समझते थे। प्रायः सभी राजनीतिक और शासन-सम्बन्धी अधिकार प्रान्तीय सूबेदारोंके हाथमें थे। और फिर अपने अधीनस्थ देशकी भौगोलिक परिस्थिति तथा अपनी व्यक्तिगत योग्यताके अनुसार उन सूबेदारोंके अधिकार भी विस्तृत अथवा मर्यादित होते थे। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि सभी सूबेदारोंको समान रूपसे राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे। इस प्रकार चीनमें अनेक ऐसी परिस्थितियोंके कारण प्रान्तीय शासन स्थापित था, जिनमें कभी किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं होता था और न कभी शासकों पर प्रजाका ही किसी प्रकारका दबाव पड़ता था। देशकी भिन्न भिन्न जातियोंको न तो मिलकर विदेशियोंके आक्रमणसे अपनी रक्षा करनी पड़ती थी और न आर्थिक स्वत्वोंके लिए किसीसे लड़ना पड़ता था। अपनी चीजोंको विदेशोंमें बेचनेके लिए वे कभी किसीसे लड़ने भी नहीं जाते थे; इसलिए आजकलकी सी जातीयता और एकताका भाव भी उनमें नहीं था। चीनियोंकी निजकी सभ्यता तो थी, पर उनमें राष्ट्रीयता नहीं थी। जब तक युरोपियनोंने वहाँ पहुँचकर उपद्रव मचाना आरम्भ नहीं किया था, तब तक वहाँवालोंको अपनी रक्षाके लिए कभी जल अथवा स्थल सेनाकी भी आवश्यकता नहीं पड़ी थी; और इसी लिए वहाँ आजकलके से कूटनीतिज्ञोंका भी नितान्त अभाव था। अब अपनी झूठी सभ्यताका अभिमान करनेवाले युरोपियन सोचें कि उन्होंने कैसे सीधे-सादे देशको लूटा था और किस प्रकार उसे भी कुमार्गमें प्रवृत्त होनेके लिए विवश किया था।

उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें जब युरोपियनोंने चीनमें अनुचित हस्तक्षेप आरम्भ किया, तब उसके प्रतिकार-स्वरूप जापानको भी वहाँके कार्योंमें हस्तक्षेप करना पड़ा। बहुत ही थोड़े समयमें

चीनियोंको अपनी निद्रा और एकान्तवासका त्याग करके वर्त्तमान कलुषित राजनीतिके क्षेत्रके उतरना पड़ा। पर मैदानमें आते ही उन्होंने देखा कि हम सिरसे पैर तक विदेशियोंके ऋणसे लदे हैं; सब लोग हमारी अज्ञानतासे लाभ उठाकर हमारे ही देशमें अनेक प्रकारके अधिकार प्राप्त कर चुके हैं और विदेशी हमें चारों ओरसे घेरकर हम पर आक्रमण कर रहे हैं। उस समय ग्रेट ब्रिटेन, रूस और फ्रान्स चीनके आसपासके देशोंमें अपना अधिकार जमाकर चारों ओरसे चीनी प्रदेशों पर अपना अधिकार जमानेके प्रयत्नमें लगे हुए थे। इन शक्तियोंने, और इनका अनुकरण करते हुए पुर्तगाल, जर्मनी और इटलीने भी, चीनके बन्दरों पर अधिकार कर लिया, उसके अरक्षित नगरों पर गोले बरसाये, उसके प्रान्तों और तटों पर अपनी सेनाएँ उतारीं, और अपने अपने लिए प्रभुत्व-क्षेत्र निर्धारित कर लिये। अनेक स्थानोंमें उन्होंने अनेक प्रकारके अधिकार भी प्राप्त कर लिये। इस अवसर पर जापान भी उस लूटमें आकर सम्मिलित हो गया। युरोपियन लोग चीनकी शासन-प्रणाली और रीति-भाँतिसे अपरिचित थे, इसलिए पहले तो उन्होंने अनजानमें ही यह चाहा कि हम पेकिंगमें रहनेवाले राजाको ही अपने जालमें फँसा लें और उसीको सारे चीनके कार्योंके लिए उत्तरदायी बनावें। पर पीछेसे जब उन्होंने यह बात अच्छी तरह समझ ली कि चीनका सम्राट्, वहाँकी रीति-रवाजके अनुसार सारे देशके कृत्योंका उत्तरदायी नहीं हो सकता और उसको वे सब अधिकार नहीं प्राप्त हैं जो किसी युरोपियन सम्राट्को प्राप्त होते हैं, तब भी वे अपना काम निकालनेके लिए जबरदस्ती उसी सम्राट्को सब बातोंके लिए उत्तरदायी बनाने लगे। वे यही कहते रहे कि चाहे सम्राट्को कोई अधिकार हो चाहे न हो, हम तो यही मानेंगे कि उसीको सब अधिकार है और वही सब बातोंका जिम्मेवार है! वे जबरदस्ती

उसे "ठोंक पीटकर हकीम" बनाना चाहते थे और अपने कानून-विरुद्ध कार्योंको कानूनकी दृष्टिसे उचित प्रमाणित करनेके लिए वे एक ही समयमें दो विरोधी कार्य करते थे। अन्दर ही अन्दर तो वे चीनकी एकता नष्ट करके उसके टुकड़े टुकड़े करना चाहते थे और प्रकट रूपसे यह कहते थे कि सारा चीन राजनीतिक दृष्टिसे एक ही है और हम सब कामोंके लिए सम्राट्को ही उत्तरदायी समझेंगे। इस प्रकार वे पहले चीनकी राजनीतिक एकता सिद्ध करके और तब उसे नष्ट करना चाहते थे। ईश्वरने भी सीधे-सादे आदमियोंको खानेके लिए कैसे कैसे राक्षस उत्पन्न करके इस संसारमें छोड़ दिये हैं!

यों तो पहलेके कई प्रकरणोंमें हम यह बतला चुके हैं कि युरोपियन शक्तियों तथा जापानने चीनके साथ कैसे कैसे निन्दनीय व्यवहार किये, किस प्रकार उसको ऋण आदि देकर उसके अधिकार छीने और किस प्रकार उस देशके निवासियोंको तंग करके वहाँ बाक्सर विद्रोह खड़ा कराया। पर जब तक हम दोबारा एक निश्चित क्रमसे यह न बतलावें कि किस प्रकार ये महाशक्तियाँ निरन्तर चीनकी सीमाओं और प्रदेशों पर आक्रमण करती रहीं और किस प्रकार उसे ऋण देकर तथा उसके अधिकार छीनकर उसे अपना गुलाम बनाती रहीं, तब तक पाठक सहजमें यह न समझ सकेंगे कि चीनमें राजनीतिक जाग्रति क्यों और कैसे हुई और वहाँवालोंको किस लिए प्रजातंत्र स्थापित करना पड़ा। यदि मंचू राजवंश और उसके उच्च कर्मचारी बराबर अपने अधिकारोंका उपयोग करते रहते, तो चीनी प्रजातंत्रका आन्दोलन कभी खड़ा ही न होता। पर पेकिंगके पुराने राजकर्मचारी विदेशियोंके आक्रमणोंको चुपचाप सहते जाते थे और इसी लिए लोग समझते थे कि वे भी इन विदेशी शैतानोंके हाथकी कठ-पुतली बन गये हैं।

और बहुतसे अंशोंमें वे लोग विदेशियोंके हाथकी कठ-पुतली थे भी। बस इसी लिए मंचू राजवंशका अन्त हो गया। इधर दस पन्द्रह वर्षोंमें चीनकी सभ्यताने ही विकसित होकर राष्ट्रीयताका रूप धारण किया है। चीनमें एकतंत्री शासन प्रणालीसे प्रजातंत्र शासन प्रणालीका जन्म नहीं हुआ था, बल्कि वहाँ तो बिलकुल एक नये राज्य, एक नये प्रजातंत्रका ही जन्म हुआ था।

नवीन राष्ट्रीय भावोंके उत्पन्न होनेके समय किसी जातिमें जो जो लक्षण दिखाई देते हैं, वे सभी लक्षण चीनमें १९११ वाली राज्यक्रान्तिके पहले प्रत्यक्ष रूपसे दिखाई पड़े थे। जब चीनमें विदेशियोंने अनेक प्रकारके अधिकार प्राप्त कर लिये, तब चीनियोंने समझ लिया कि ये विदेशी लोग हमारी हानि करनेके लिए जबरदस्ती सम्राट्को सारे देशका जिम्मेदार बना रहे हैं। महाशक्तियाँ यही चाहती थीं कि सम्राट् सारे देशका शासन पहले अपने हाथमें ले ले और तब अपने सारे अधिकार हमें दे दे। बाक्सर विद्रोहके बाद महाशक्तियोंमें जो कुछ निर्णय और समझौता हुआ था, ग्रेट ब्रिटेन, रूस और फ्रान्सने जो जो चालें चली थीं, जर्मनी जिस प्रकार पूर्वी एशियाके मामलोंमें आ कूदा था और जापान जिस प्रकार चीनकी रक्षा करनेके बहाने अपना काम निकाल रहा था, उससे चीनियोंने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि ये विदेशी लोग सब अधिकारोंको एक केन्द्रमें स्थापित करके तब उस केन्द्रसे सब अधिकार आपसमें बाँट लेना चाहते हैं। जब पेकिंगकी सरकार ऋणों और हरजानेकी रकमोंके बदलेमें अपने देशकी आयकी भिन्न भिन्न मदें और साधन लोगोंके पास रेहन रखने लग गई, अपने प्रदेश और बन्दर विदेशियोंको सौंपने लग गई और विदेशियोंको लूट मचानेकी आज्ञा देने लग गई, तब चीनी जातिकी आँखें खुलीं और उसने राष्ट्रका रूप धारण किया। उस समय चीनकी प्रजाने

सोचा कि अब हमें अपने राजकीय अधिकारोंकी स्थापना करके अपने देशको इस भीषण आर्थिक नाशसे बचाना चाहिए। महा-शक्तियाँ चाहती थीं कि हम चीनको टुकड़े टुकड़े करके खानेके लिए पहले उसे एक राज्य बना लें; और चीनियोंने सोचा कि विदेशियोंसे अपनी रक्षा करनेके लिए हम अपना एक राज्य बना लें। इसी लिए क्रान्तिसे पहले अनेक ऐसे लक्षण दिखाई देने लग गये थे जिनसे ज्ञान पड़ता था कि चीन अपनी पूर्वी सभ्यताको छोड़कर पश्चिमी राज्यका रूप धारण करना चाहता है।

इस नवीन जाग्रतिका पहला लक्षण तो यह था कि चीनवालों-का ध्यान सैनिक शिक्षाकी ओर आकृष्ट हुआ। यद्यपि चीनकी प्रजा पर बहुत अधिक कर लग चुके थे, तथापि वह बराबर सेना बढ़ाने-के पक्षमें ही रहने लगी। चीनी लोग सैनिक सामग्री एकत्र करने लगे और विदेशी राक्षसोंकी युद्ध-कला सीखने लगे। यों तो चीनवाले पहलेसे ही सेनाके कामके लिए बहुत उपयुक्त थे, पर उनको कभी लड़ने भिड़नेका काम नहीं पड़ता था; और इसी लिए पहले वे लोग सेनामें सम्मिलित भी नहीं होते थे। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तमें प्रान्तीय सूबेदारोंने देखा कि ऐसे बहुत से रंगरूट मिल सकते हैं जो बड़े उत्साहसे सैनिक शिक्षा, विशेषतः पाश्चात्य सैनिक शिक्षा, प्राप्त करना चाहते हैं। बाक्सर विद्रोहके उपरान्त चीनमें सैनिक शिक्षाका जोर बहुत ही बढ़ गया। यहाँ तक कि पाठशालाओंमें विद्यार्थियोंको भी कवायद आदि सिखलाई जाने लगी। बड़े बड़े अमीरों और सरदारोंके लड़के भी सेनामें भर्ती होने लगे। जिन स्थानों और प्रदेशोंके लोगोंको विदेशियोंके आक्रमण सहने और उनके लड़ने भिड़नेके ढंग देखनेका अवसर प्राप्त हुआ था, उन स्थानों और प्रदेशोंमें तो इस सम्बन्धमें सबसे अधिक उत्साह देखनेमें आता था। १९०६ में सुधारकी घोषणा होनेके बाद एक ही

महीनेमें चीनमें इतने अधिक युवक सेनामें भर्ती हुए, जितने पहले वहाँकी स्थायी सेनामें भी नहीं थे! प्रायः सभी प्रान्तीय राजधानियोंमें गोले-बारूदके अनेक कारखाने चलने लगे। वे लोग विदेशसे बन्दूकें आदि भी खूब मँगाने लग गये जिससे विदेशी व्यापारी भी कुछ समयके लिए बहुत प्रसन्न हुए। युआन शी काईने उत्तर चीनमें छः अच्छी सेनाएँ तैयार कर ली थीं जिससे देशमें उनका बल बहुत बढ़ गया था। उन्होंने प्रान्तोंमें भी सेनाएँ तैयार करनेके अनेक अच्छे अच्छे उपाय सोचे थे, पर इस बीचमें कुछ लोग उनसे ईर्ष्या करनेके कारण उनको पदच्युत करनेके उपाय सोचने लग गये। पर इससे देशकी बहुत अधिक क्षति नहीं हुई; क्योंकि लोग प्रबल सेनाकी आवश्यकता बहुत अच्छी तरह समझ चुके थे और बड़े शौकसे सेनामें नाम लिखवाते थे।

राष्ट्रीय जाग्रतिका दूसरा लक्षण यह था कि देशमें शासन, अर्थ-विभाग, शिक्षा और समाज-सुधारमें हाथ लग गया था। सितम्बर १९०६ वाली घोषणाके उपरान्त नम्बरमें ही शासन विभागमें अनेक परिवर्तन हुए, जिनसे पता लगता था कि चीन पाश्चात्य शासन-प्रणाली ग्रहण करना चाहता है। उस बार सारे देशमें पहले पहल बहुत अधिक धन एकत्र करके सरकारको ऋण चुकानेके लिए दिया गया था। इससे पहले चीनियोंने कभी यह नहीं देखा था कि विदेशी लोग आकर बन्दरों, नदीके तटों या प्रान्तों पर उतरते हैं और पेकिंग-का परवाना दिखाकर वहाँकी भूमि पर अधिकार कर लेते हैं और वहाँ मनमाना शासन करने लग जाते हैं। जिस प्रकार विदेशियोंके सैनिक आक्रमणने चीनियोंको अपना सैनिक बल बढ़ानेके लिए विवश किया था, उसी प्रकार विदेशियोंके आर्थिक और शासन सम्बन्धी आक्रमणोंने इन विषयोंमें भी चीनियोंकी आँखें खोल दी थीं। उन्हें अपना अस्तित्व बनाये रखने और

विदेशियोंके चंगुलसे अपने आपको बचाये रखनेके लिए यह सीखना पड़ा कि वर्त्तमान संसारमें लोग किस प्रकार जीवन निर्वाह करते हैं। उन्होंने लम्बी लम्बी चोटियाँ रखना और अपनी स्त्रियोंके पैर छोटे करनेके लिए उनको लोहेके तंग जूते पहनाना छोड़ दिया, अपने यहाँकी सिविल सर्विस परीक्षामें अनेक सुधार किये, विदेशोंमें जाकर अनेक प्रकारकी उपयोगी शिक्षा प्राप्त करना आरम्भ किया, समाचारपत्रों और पुस्तकों आदिका प्रकाशन आरम्भ किया, तिब्बत तथा मंगोलिया पर अपना पुराना अधिकार जमाना चाहा, और इस प्रकारके अनेक ऐसे कार्य किये जिनसे देश एक राष्ट्रका रूप प्राप्त कर सकता था। युरोपियन लोग कहा करते हैं कि चीनमें जो यह जाग्रति और सुधार हुआ, उसका कारण यह था कि हम लोगोंने उसको सभ्य और शिक्षित बनाया। पर इससे बढ़कर झूठ और बेईमानीकी कोई बात हो ही नहीं सकती। असलमें चीनमें ये सब बातें इसलिए हुई थीं कि विदेशियोंने वहाँ बेतरह आर्थिक लूट मचा रखी थी और वहाँके सब राजनीतिक अधिकार छीन लिये थे। कोई डाकू यह नहीं कह सकता कि मैंने किसीको बहादुर बना दिया; क्योंकि उसकी लूटसे बचनेका विचार अवश्य दूसरोंको बहादुर बना सकता है। यही बात चीनके साथ भी हुई थी। जापानियोंकी तरह चीनियोंने भी इसी लिए विवश होकर पाश्चात्य रीति-नीति ग्रहण की थी कि वे विदेशियोंके जालमें फँस-कर नष्ट होनेसे बचना चाहते थे।

जाग्रतिका तीसरा लक्षण यह था कि चीनी लोग अफीमसे अपना पीछा छुड़ाना चाहते थे। जनवरी १९०७ के आरम्भसे ही वहाँके सब चण्डूखाने बन्द कर दिये गये थे और कह दिया गया था कि दस बरसमें अफीमका प्रचार बिलकुल रोक दिया जायगा। केवल कुछ वृद्धों और राजमहलमें रहनेवाले लोगोंको छोड़कर

और सब लोगोंको आज्ञा दे दी गई थी कि अफीम खाना छोड़ दो। कई बरस तक चीनियोंने अफीमका प्रचार रोकनेमें बड़ी तत्परता दिखाई थी; पर प्रान्तीय सूबेदार इस आज्ञाको प्रायः उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते थे। भारत सरकारसे चीनियोंको इस काममें अवश्य बड़ी सहायता मिली थी। भारत सरकारने भी निश्चित कर दिया था कि कुछ विशिष्ट समयके अन्दर भारतसे चीनके लिए अफीम भेजना बिलकुल बन्द कर दिया जाय। इसके अतिरिक्त उसने हांगकांग आदि स्थानोंमें भी चण्डूखाने बन्द कर दिये थे। इस सम्बन्धमें युरोपियन शक्तियों और अमेरिकाने भी चीनकी बहुत कुछ सहायता की थी। जब हम यह देखते हैं कि हांग-कांगके समस्त करका एक चतुर्थांश, सिंगापुर और स्ट्रेट्स सेटि-ल्मेण्ट्सकी आयका आधा और भारत सरकारकी आयका छः प्रति सैकड़ा केवल अफीमसे ही होता था, तब हमें अँगरेज अधिकारि-योंकी इस सम्बन्धमें प्रशंसा ही करनी पड़ती है। चीनके कहने पर ग्रेट ब्रिटेनने यह मंजूर कर लिया था कि हम प्रति वर्ष एक दशमांश अफीम चीनमें भेजना बन्द करते जायँगे और इस प्रकार १९०८ से आरम्भ करके १९१७ तक चीनमें अफीम भेजना बिलकुल बन्द कर देंगे। पर साथ ही यह भी कहा गया था कि यह काम पहले तीन वर्षों तक परीक्षा-रूपमें होगा। इस बीचमें चीनको भी यह प्रमाणित कर देना चाहिए कि वह अपने यहाँ प्रति वर्ष अफीमकी एक दशमांश खपत कम करता जा रहा है। १९११ में ग्रेट ब्रिटेनने कहा कि यदि तुम शीघ्र ही अपने यहाँ अफीमकी पैदावार बन्द कर दो, तो हम भी तत्काल भारतसे वहाँ अफीम भेजना बिलकुल बन्द कर देंगे; और यदि तुम अपने यहाँ उसकी पैदावार पर तिगुना कर लगा दो, तो हम भी बाहरसे वहाँ जाने-वाली अफीम पर तिगुना कर लगा देंगे। जब यह निश्चय हो गया,

तब अन्यान्य महाशक्तियोंने भी अपने अपने अधिकृत प्रदेशोंमें ऐसे कड़े नियम बना दिये, जिनसे अफीमकी पैदावार और खपत बराबर कम होने लगी। २३ जनवरी १९१२ को हेगमें अफीमके सम्बन्धमें एक इकरारनामा हुआ था, जिस पर बारह महाशक्तियोंके हस्ताक्षर हुए थे और जिसके अनुसार सबने मिलकर इस बातका वादा किया था कि हम चीनको अफीमसे पीछा छुड़ानेमें यथासाध्य सहायता देंगे। और बातोंमें चीनवाले भले ही विदेशियोंकी शिकायत करें, पर इसमें सन्देह नहीं कि अफीमसे पीछा छुड़ानेमें सभी महाशक्तियोंने उसकी प्रशंसनीय सहायता की थी; और इसी लिए इस थोड़े समयमें चीन अपनी यह दुष्ट और हानिकारक आदत छोड़ सका है।

जाग्रतिका चौथा लक्षण यह था कि चीनवाले विदेशियोंके विरोधी हो गये थे। यह विरोध कुछ विशिष्ट चीनियोंमें ही नहीं था, बल्कि सभी लोगोंमें था। जो चीनी विदेशोंसे बहुत बड़ी संख्यामें शिक्षा प्राप्त करके लौटते थे, वे अपने देशभाइयोंको यही समझाते थे कि यह बड़ी लज्जाकी बात है कि विदेशी आकर हम लोगोंको हर तरहसे लूटें और हम अपने ही घरमें दूसरोंके गुलाम बनकर रहें। जब कि अमेरिका और ब्रिटिश साम्राज्यमें चीनियोंके जानेमें तरह तरहकी अपमान-जनक बाधाएँ हैं, तब फिर हम अपने देशमें विदेशियोंको क्यों विशिष्ट अधिकार दें? हमारे यहाँके कुली और मजदूर पशुओंकी तरह किराये पर ठीक करके और पशुओंकी ही तरह जहाजों आदिमें भरकर विदेश भेजे जाते हैं और अफ्रीकाकी खानोंमें गुलामोंकी तरह रखे जाते हैं। हम ऐसी बातें क्यों होने दें? दक्षिण चीनवाले अमेरिकाके भी विरोधी हो गये थे और अमेरिकन मालका बहिष्कार करने लग गये थे। जापान सरकारकी तरह चीन सरकारने भी अमेरिकन सरकारसे कहा था

कि चीनियोंके अमेरिकामें प्रवेश करनेके सम्बन्धमें जो कानून हैं, वे ठीक नहीं हैं। उनमें उचित सुधार किया जाय। दक्षिण अफ्रिकामें चीनियोंके साथ जो अनुचित व्यवहार होता था, उसके सम्बन्धमें ग्रेट ब्रिटेनसे भी शिकायत की गई थी। अब तक जो शक्तियाँ चीनमें अनेक प्रकारके विशिष्ट अधिकार प्राप्त करके बड़े सुखसे समय बिताती थीं, उन शक्तियोंको चीनने अपने इतिहासमें पहले पहल इस बातकी धमकी दी थी कि यदि आप लोग हमारी प्रजाके साथ अच्छा व्यवहार न करेंगी और हमारे हितोंका ध्यान न रखेंगी, तो हमको भी विवश होकर आपसे इस बातका बदला लेना पड़ेगा। जो चीनी विदेशमें शिक्षा प्राप्त करने अथवा सैर करनेके लिए जाता था, वह अवश्य ही गोरोंके साथ घृणा करने लग जाता था। इसका कारण यह था कि वह देख लेता था कि सब जगह चीनी लोगोंको ये गोरे बहुत ही तुच्छ और हेय समझते हैं और उनके साथ बहुत ही अनुचित व्यवहार करते हैं। हम समझते हैं कि भारत-वासियोंको इस सम्बन्धमें कुछ विशेष बतलानेकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि उनको स्वयं ही इन सब बातोंका अनुभव होता है। विदेशियोंके प्रति चीनियोंमें घृणाका जो भाव उत्पन्न हो गया था, उसे एक प्रकारसे अच्छा ही समझना चाहिए; क्योंकि इससे उनमें आत्मसम्मानका भाव जाग्रत होता है और वे अपने साथ मनुष्योंका सा व्यवहार चाहते हैं। ज्यों ज्यों चीनमें, केवल चीनमें ही क्यों एशियाके सभी देशोंमें, शिक्षाका प्रचार होता जायगा और वहाँके निवासियोंका विदेशोंके साथ सम्बन्ध बढ़ता जायगा, त्यों त्यों उनमें विदेशियोंके प्रति घृणाका भाव बढ़ता जायगा। और इस घृणाका तभी अन्त होगा, जब ये गोरे भी एशियावालोंको आदमी समझने लगेंगे और उनसे सज्जनताका व्यवहार करने लगेंगे। यदि गोरे इस घृणा-भावका अन्त करना चाहते हों, तो

उनको यही उचित है कि वे तुरन्त सब लोगोंके साथ मानवोचित व्यवहार आरम्भ कर दें।

१९०७में प्रान्तीय सूबेदारोंके अधिकार उनके हाथसे निकलकर पेकिंगकी सरकारके हाथमें जाने लगे। उसी समयसे वहाँ प्रजा-तंत्रका आन्दोलन भी आरम्भ हुआ। इस आन्दोलनके नेता कहते थे कि सभी प्रान्तोंसे एकतंत्री शासन उठ जाना चाहिए और पेकिंग-में प्रजातंत्र अथवा प्रतिनिधिसत्तात्मक शासन स्थापित हो जाना चाहिए; क्योंकि जब तक ऐसा न होगा, तब तक विदेशी लोग बराबर हमारे ऊपर अधिकार जमाते जायँगे और हमारा धन तथा प्रदेश छीनते रहेंगे। उन दिनों सारे चीनमें इसी प्रकारकी बातें होती थीं। चीनमें जितने देव-मंदिर थे, उन सबमें पाठशालाएँ खोल दी गई। प्रत्येक सभा-समाजमें सुधारोंका समर्थन होने लगा और लोग प्रजातंत्र शासनकी इच्छा प्रकट करने लगे। सब जगह यही कहा जाने लगा कि अब विदेशियोंको कोई विशेष अधिकार न दिया जाय। इस आन्दोलनमें स्त्रियाँ भी सम्मिलित होती थीं। उन दिनों चीन समुद्रमें कुछ अँगरेजी जहाज पुलिसका काम करते थे। कैन्टनकी एक सार्वजनिक सभामें इस बातका भी घोर विरोध किया गया था। १९०८ में इस आन्दोलनके नेताओंने सर्व साधारणको विश्वास दिलाया था कि हमें खानों और रेलों पर अधिकार प्राप्त करनेमें सफलता हो सकती है और हम मंचूरियासे रूसियों और जापानियोंका शासन हटा सकते हैं। उसी वर्ष नवम्बर-में वहाँकी महारानी और राजमाता दोनोंका देहान्त हो गया। उस समय नये सम्राट्की अवस्था केवल पाँच वर्षकी थी। उनके पिता राजकुमार चुन, जो अभी बिलकुल नवयुवक थे और जिनको संसारका कोई अनुभव नहीं था, नये सम्राट्के अभिभावक बनाये गये। इस बीचमें पुराने सरदारोंने षडयंत्र रचकर युआन

शी काईको, जिन्होंने सेनाका संघटन किया था और जो नये सुधारों और शासक-प्रणालीका मसौदा तैयार कर रहे थे, राज-कार्यसे बिलकुल अलग कर दिया।

प्रजातंत्र शासनकी स्थापनाके सम्बन्धमें चीनमें सबसे पहला काम यह हुआ कि ३ अक्तूबर १९१० को राजकार्योंके लिए वहाँ एक महासभा स्थापित हुई। इसके दो सौ सदस्य थे, जिनमेंसे आधे सदस्य राज-परिवारके लोग, बड़े बड़े सरदार और जागीरदार आदि थे; और बाकी आधे प्रान्तीय सभाओंके सदस्य थे, जिनका निर्वाचन प्रान्तीय सूबेदारोंने किया था। प्रान्तीय सभाओंके प्रतिनिधियोंने महासभा पर प्रजातंत्र स्थापित करनेके लिए बहुत जोर डाला। इसका परिणाम यह हुआ कि महासभाने सम्राट्के अभिभावकसे कहा कि आप यथासाध्य शीघ्र एक राष्ट्रीय पार्लीमेण्ट स्थापित करें। यद्यपि चीन सरकार पहले यह निश्चय कर चुकी थी कि १९१७ में प्रतिनिधिसत्तात्मक शासन स्थापित किया जायगा, तथापि उस समय वह भी शीघ्र ही शासन-सुधार करनेके लिए तैयार हो गई। ४ नवम्बर १९१० को एक राजकीय घोषणा प्रकाशित हुई जिसमें कहा गया था कि तीन वर्षके अन्दर चीनमें पार्लीमेण्ट स्थापित कर दी जायगी। उसमें यह भी बतलाया गया था कि मन्त्रि-मण्डल तथा पार्लीमेण्टका किस प्रकार संघटन होगा और उसके लिए सदस्य किस प्रकार निर्वाचित किये जायँगे। पर महासभा इस घोषणासे सन्तुष्ट नहीं हुई। वह चाहती थी कि पार्लीमेण्टकी स्थापना और भी शीघ्र हो। साथ ही महासभाने सरकारको यह भी सूचना दे दी थी कि अब आगेसे न तो विदेशियोंसे कोई ऋण लिया जाय और न उनको देशमें कोई विशिष्ट अधिकार ही दिये जायँ।

लेकिन विदेशी राजनीतिज्ञों और पूँजीदारोंको यह बात बहुत

बुरी लगी और उन्होंने इन दोनों बातोंको न माननेके लिए चीन सरकार पर दबाव डाला। सरकारने उनके दबावमें पड़कर महासभाकी इस सूचनाकी उपेक्षा की। बस, चीनमें राज्यक्रान्ति और प्रजातन्त्रकी स्थापना होनेका यही प्रधान और प्रत्यक्ष कारण हुआ। यदि सरकार महासभाकी इस सूचनाकी अवहेलना न करती, तो बहुत सम्भव था कि चीनमें प्रजातन्त्र न स्थापित होता और लोग प्रतिनिधिसत्तात्मक शासनसे ही सन्तुष्ट रहते। चीन वहाँके सम्राट्‌के अधीन एक साम्राज्य बना रहता, जिसमें शासक लोग प्रजा और उसके प्रतिनिधियोंके प्रति उत्तरदायी होते। उसी समय वहाँ जोरोंसे प्लेग फैला। रूस और जापानने देखा कि कहीं ऐसा न हो कि चीनी पूरी तरहसे होशियार हो जायँ; इसलिए उनके होशियार होनेसे पहले ही जहाँ तक हो सके, अपना काम निकाल लेना चाहिए। अतः उन दोनोंने प्लेगवाली विपत्तिके अवसरसे भी लाभ उठाया और चीन तथा संसारकी सभी महाशक्तियोंसे यह मंजूर करा लिया कि मंचूरिया पर हम लोगोंका राज्य है और उसके अमुक अमुक अंश हम लोगोंमें इस प्रकार बँटे हुए हैं। यहाँ यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि पाश्चात्य सभ्यता और कूटनीतिके नशेने रूस और जापानको इतना अन्धा कर दिया था कि जिस प्लेगके समय उनको बेचारे चीनियोंकी सहायता करनी चाहिए थी, उस समय उन लोगोंने चीनके एक प्रदेश पर अपना पूरा पूरा अधिकार जमा लिया। मंगोलियाके जिन नगरोंमें व्यापार आदिका कोई बहाना नहीं हो सकता था, उन नगरोंमें भी रूसियोंने अपने प्रतिनिधि रख दिये। वहाँके मंगोल राजकुमार पेट्रोग्रेड जाने लगे। इधर अँगरेज लोग चीनके कुछ प्रदेश लेकर अपने बरमा देशकी सीमा बढ़ा रहे थे। यूनानका सूबेदार अँगरेजोंको इस कामसे रोकना चाहता था, पर पेकिंग सरकारने उसे

मना कर दिया और कह दिया कि अँगरेजोंको अपनी सीमा बढ़ाने-से मत रोको। ये सब बातें देखकर चीनी लोग बहुत ही भयभीत हुए और सोचने लगे कि शीघ्र ही इन सब बातोंका कोई उपाय होना चाहिए। इसके कुछ ही दिनों बाद कुछ विदेशी पूँजीदारोंको रेलें बनानेका अधिकार दे दिया गया और मंचूरियाके शिल्प तथा मुद्रा-प्रणालीमें सुधार करनेके लिए कुछ विदेशियोंसे ऋण भी ले लिया गया। तात्पर्य यह कि सब महाशक्तियोंने मिलकर ऐसे उपाय रचे और चीन सरकार पर इतना दबाव डाला कि उसे महा-सभाकी सूचनाओंकी उपेक्षा करनी पड़ी। महाशक्तियाँ तो यह चाहती ही थीं कि चीनमें प्रजातंत्रका जोर न बढ़ने पावे। अतः उन्हों-ने आरम्भमें ही उसकी बातोंकी उपेक्षा करके उसे निरुत्साह कर दिया, जिससे आगे चलकर शिकार हाथसे निकल न जाय। पर इन सब बातोंका परिणाम बिलकुल उलटा ही हुआ। तुरन्त दक्षिण चीनमें राज्यक्रान्ति आरम्भ हो गई और प्रजाने राज्यके मंचू सैनिकोंकी हत्या आरम्भ कर दी।

उस समय युआन शी काई अपनी सेनाको लेकर इन क्रान्ति-कारियोंका बहुत अच्छी तरह विरोध और मुकाबला कर रहे थे। वे पेकिंग बुलाये गये और चीनके प्रधान मन्त्री बना दिये गये। पर न तो वे अपने सैनिक बलसे ही और न राजनीतिक चालोंसे ही राज्यक्रान्तिको रोक सके, अथवा मंचू राजवंशकी रक्षा कर सके। धीरे धीरे सभी प्रान्तोंमें वह राज्यक्रान्ति आगकी तरह फैल गई। यांग्सी बेड़ेका एडमिरल भी उस राज्यक्रान्तिमें सम्मिलित हो गया। युआन शी काईकी इच्छा थी कि सभी दलवालोंका एक संयुक्त मन्त्रि-मण्डल स्थापित हो, पर इस उद्योगमें भी उनको सफलता न हुई। जिन लोगोंको वे इस मन्त्रि-मण्डलमें सम्मिलित करना चाहते थे, उनमेंसे भी अनेक प्रजातंत्रमें जा मिले। उस समय तक शंघाई-

में प्रजातंत्रकी घोषणा हो चुकी थी। दिसम्बरके आरम्भमें बालक सम्राट्के अभिभावक या रिजेण्टने इस्तेफा दे दिया। युआन शी काई-ने क्रान्तिकारियोंसे समझौता करना चाहा। पर वे लोग कहते थे कि मंचू राजवंश सिंहासन छोड़ दे और सारे देशमें प्रजातंत्र स्थापित हो जाय। इस क्रान्तिके प्रधान नायक डा० सन् याट् सेन थे जो निर्वासित होनेके कारण चौदह बरस तक विदेशोंमें रह चुके थे और अभी हालमें ही लौटे थे। ३१ दिसम्बरको क्रान्तिकारियोंने एक मत होकर उन्हींको शंघाईमें नये प्रजातंत्रका राष्ट्रपति चुना। ५ जनवरी १९१२ को विदेशी शक्तियोंके नाम एक घोषणापत्र प्रकाशित हुआ, जिसमें उनको सूचना दी गई थी कि चीनमें प्रजा-तंत्र स्थापित हो गया। इसके दो सप्ताह बाद ही एक ऐसी घटना हो गई जिससे आन्दोलनमें नई जान आ गई और उसकी सफलता एक तरहसे निश्चित हो गई। डा० सन् याट् सेनने कह दिया कि यदि सम्राट् सिंहासन छोड़ दें, तो मैं अपने पदसे अलग हो सकता हूँ; और यदि सब प्रान्त मंजूर करें तो युआन शी काई ही इस नये प्रजातंत्रके राष्ट्रपति हो सकते हैं।

विदेशी राजनीतिक भौचक्के होकर सब तमाशा देख रहे थे और प्रजातंत्रका यह आन्दोलन बराबर बढ़ता जाता था। अन्तमें विवश होकर १२ फरवरीको सम्राट्ने तीन घोषणापत्र प्रकाशित किये। उनमेंसे एकमें तो उन्होंने अपने सिंहासन-त्यागकी सूचना दी थी, दूसरेमें प्रजातंत्रकी स्थापनाकी सूचना दी थी और तीसरेमें यह कहा था कि युआन शी काईको इस बातका पूरा अधिकार है कि वे क्रान्तिकारियोंसे बातचीत करके और उनकी स्वीकृतिसे तब तकके लिए एक अस्थायी शासन-प्रणाली निश्चित कर लें, जब तक प्रजा-तंत्रका ठीक ठीक संघटन न हो जाय। १७ फरवरीको सत्रह प्रान्तोंके प्रतिनिधियोंने युआन शी काईको अस्थायी राष्ट्रपति चुना और

निश्चय हुआ कि पश्चिमी तारीखों, महीनों और सनों आदिका व्यवहार किया जाय। युआन शी काईने वादा किया कि प्रजातंत्र स्थापित किया जायगा और चीनी, मंगोल, मंचू, मुसलमान और तिब्बती इन पाँच जातियोंका एक राष्ट्र निर्मित किया जायगा, जिन सबके सूचक चिह्न राष्ट्रीय झण्डे पर होंगे। १ अप्रैलको सन् याट् सेन और उनके मन्त्रियोंने अपना सब अधिकार युआन शी काई और उनके मन्त्रियोंको दे दिया और यह मंजूर कर लिया कि राजधानी नानकिंग न रहकर पेकिंगमें ही रहे। उस समय निश्चित हो गया था कि छः महीनेके अन्दर ही पार्लमेण्टका संघटन हो जाय और उसका अधिवेशन किया जाय।

अमेरिका, युरोप और जापानकी प्रजा चीनके इस नये प्रजातंत्रको अच्छा ही समझती थी। जिस प्रकार तीन वर्ष पहले तुर्कीमें प्रतिनिधिसत्तात्मक राज्य स्थापित होते समय सारे संसारके समाचारपत्रोंने तुर्कीके साथ सहानुभूति प्रकट की थी, उसी प्रकार इस बार उन्होंने चीनके साथ भी सहानुभूति दिखलाई थी। पर युरोपियन राजनीतिज्ञों और चीनमें रहनेवाले युरोपियन व्यापारियोंके भाव कुछ और ही थे। उन लोगोंने अपनी अपनी सरकारों पर इस बातके लिए दबाव डाला था कि वे इस नये प्रजातंत्रको न मानें; और यदि युआन शी काई विदेशी राजदूतोंकी मारफत ऋण न लेकर स्वयं ही विदेशोंसे ऋण लेना चाहें, तो उनको ऋण न लेने दिया जाय। चीनमें सेनाका जो संघटन हुआ था, वह भी जापान और रूसको अच्छा न लगा। जब ये दोनों शक्तियाँ युरोपकी छः महाशक्तियोंके साथ मिल गईं, तब इन्होंने इस बातके लिए जोर लगाया कि चीन जो ऋण ले, उसके बीसवें भागसे अधिक वह सेनाके काममें व्यय न कर सके। इस पर चीनी प्रजातंत्रने युरोपियन राजनीतिज्ञोंको अच्छा चरका दिया। छः महाशक्तियाँ जिन

शर्तों पर चीनको ऋण देना चाहती थीं, उनकी अपेक्षा सहज शर्तों पर चीनी प्रजातंत्रने एक अँगरेजी कोठीसे एक करोड़ पाउण्ड ऋण लेनेकी बातचीत पक्की कर ली। इस पर पेकिंगमें रहनेवाले विदेशी राजदूतोंने बहुत विरोध किया। उनका बाक्सर विद्रोह सम्बन्धी हरजाना बाकी था, इसलिए वे चीनके साथ कुछ कड़ाई करने लगे। इसी बीचमें रूस और ग्रेट ब्रिटेनके परराष्ट्र विभाग बहुत बिगड़ खड़े हुए, क्योंकि चीनका नया प्रजातंत्र यह माननेके लिए तैयार नहीं था कि मंगोलिया और तिब्बत बिलकुल स्वतंत्र हैं। यदि प्रजातंत्र इन दोनों देशोंकी स्वतंत्रता स्वीकृत कर लेता, तो उसका यही अर्थ होता कि ये दोनों देश चीनसे बिलकुल अलग कर लिये गये हैं और आवश्यकता पड़ने पर रूसी और ब्रिटिश साम्राज्योंमें मिलाये जा सकते हैं।

जनवरी १९१३ में चीनकी नई पार्लमेण्टका चुनाव हुआ और ८ अप्रैलको पेकिंगमें उसका पहला अधिवेशन हुआ। उस समय पार्लमेण्टके ५९६ सदस्योंमेंसे २०० सदस्य और राष्ट्र सभा या सिनेटके २७४ सदस्योंमेंसे १७७ सदस्य उपस्थित थे। चीनके इतिहासमें इससे पहले आज तक चीनी प्रान्तोंके इतने अधिक प्रतिनिधि कभी एकत्र नहीं हुए थे। यदि इसके बाद ही प्रजातंत्रके मार्गमें नई नई कठिनाइयाँ न आ पड़तीं, तो अवश्य ही चीनियोंका यह उद्योग बहुत ही आश्चर्यजनक होता। आरम्भसे ही युआन शी काईके पुराने शत्रु और असली क्रान्तिकारी उनका विरोध करने लग गये और शीघ्र ही यांग्सीकी तराईमें एक नया विद्रोह खड़ा हो गया जो सारे दक्षिणी चीनमें फैल गया। इस विद्रोहके नेता डा० सन् यात् सेन और पहलेकी कैन्टनवाली सरकारके दूसरे कर्मचारी थे। पर कदाचित् वह उपद्रव खड़ा होना स्वाभाविक ही था। उस उपद्रवके कारण युआन शी काईको अनेक कठिनाइयाँ

सहनी पड़ी थीं। यदि पेकिंगमें युरोपियन शक्तियाँ अपना अपना षड्यंत्र रोक देतीं, तो बहुत सम्भव था कि युआन शी काईके मार्गमें पड़नेवाली कठिनाइयाँ बहुत ही कम हो जातीं। इन शक्तियोंने अपने अपने पूँजीदारों और बंकोंसे चीनको कुछ ऋण दिलवा दिया था और उसके बदलेमें नमकसे होनेवाली आय और समुद्री करसे होनेवाली बचत रेहन रखवा ली थी। वे शक्तियाँ यह भी चाहती थीं कि अपने हितोंकी रक्षाके लिए हम चीनके अर्थ-विभाग-में अपने निरीक्षक और परामर्शदाता भी रख सकें। जब पुराने क्रान्तिकारियोंने यह देखा कि यह पुरानी बला छूटकर भी नहीं छूटती, तब उन्होंने फिरसे विद्रोह किया था। उस समय तक केवल अमेरिकाने ही युआन शी काई और उनकी सरकारको सरकारी तौर पर स्वीकृत किया था।

यह नया विद्रोह किसी प्रकार शीघ्र ही शान्त हो गया और अक्तूबरमें बहुत अधिक बहुमतसे युआन शी काई ही पाँच वर्षके लिए चीनी प्रजातंत्रके राष्ट्रपति चुने गये। नवम्बरमें पार्लमेण्टमें इस बातका विचार हो रहा था कि राष्ट्रपतिके अधिकार संकुचित और मर्यादित कर दिये जायँ। उस समय युआन शी काईने अपने घोर विरोधी दक्षिणी प्रतिनिधियोंका दल तोड़ दिया और घोषणा कर दी कि उनके पद रिक्त हो गये। जो दल तोड़ा गया था, उसमें सिनेटके सदस्योंमेंसे आधेके लगभग और पार्लमेण्टके सदस्योंमेंसे आधेसे अधिक सदस्य आ गये थे। इसके उपरान्त ११ जनवरी १९१४ को युआन शी काईने पार्लमेण्ट ही तोड़ दी और नये संघ-टनका मसौदा तैयार करनेके लिए एक समिति नियुक्त कर दी। उस समितिने अपनी रिपोर्टमें कहा कि केवल एक पार्लमेण्ट रहे, मन्त्री-मण्डल तोड़ दिया जाय और प्रधान मन्त्रीकी जगह एक सेक्रेटरी आफ स्टेट रहे जो राष्ट्रपतिके आज्ञानुसार काम करे। यह नई पार्ली-

सेनेट न तो सारे देशकी वास्तविक प्रतिनिधि ही हो सकती थी और न उसको पूरे पूरे अधिकार ही थे।

जिस समय युरोपमें महायुद्ध आरम्भ हुआ था, उस समय यद्यपि कुछ शक्तियाँ युआन शी काईके अधिकारको स्वीकृत नहीं करती थीं, तथापि वे ही सारे चीनके कर्ता-धर्ता थे और देशमें सब जगह उन्हींकी आज्ञाएँ चलती थीं। उस समय उनके दोनों ओर दो शत्रु थे जो परस्पर घोर विरोधी बातें करना चाहते थे; और उन दोनों पक्षोंके बीचमें युआन शी काई थे। एक पक्ष तो पुराने क्रान्तिकारियोंका था जो पूर्ण प्रजातंत्र चाहता था और जिसको यह पसन्द नहीं था कि युआन शी काई जो चाहें, वह करें। और दूसरा दल मंचू राजवंशके पक्षपातियोंका था जो पुराने सम्राट्को फिरसे सिंहासन पर बैठाना चाहते थे। उस समय चीनमें एक ऐसा नेता खड़ा हो गया था जो अपने सब काम बहुत ही गुप्त रूपसे करता था। यहाँ तक कि उसका नाम भी किसीको नहीं मालूम था। उसे सब लोग "श्वेत शृगाल" कहा करते थे। उसने एक विलक्षण उत्पात मचा रखा था। मंगोलियामें रूसियोंके षड्यंत्रके विरुद्ध, तिब्बत और यूननमें ग्रेट ब्रिटेनके षडयंत्रके विरुद्ध और दक्षिणी मंचूरियामें जापानके षडयंत्रके विरुद्ध, युआन शी काईको बहुत कुछ लड़ना-झगड़ना और उद्योग करना पड़ता था; और इच्छा न होने पर भी विवश होकर विदेशियोंके ऋण चुकानेके लिए प्रजा पर बहुत अधिक कर लगाना और विदेशियोंसे साथ पहले जो रिआयतें हो चुकी थीं, उन्हें मान्य करना पड़ा था। जब जापान भी महायुद्धमें सम्मिलित हो गया, तब युआन शी काईको शानटुंग प्रायद्वीपमें जर्मनीकी जगह जापानका मुकाबला करना पड़ा।

जून १९१५ में युआन शी काईने एक घोषणापत्र प्रकाशित किया। उसमें उन्हें यह मंजूर करना पड़ा था कि मंचूरिया और

मंगोलियामें दूसरोंको अधिकार देनेके कारण चीनकी बहुत क्षति हुई है और अब देश पर अधिक संकट आनेकी सम्भावना है; क्योंकि जब तक जर्मनी था, तब तक तो कोई विशेष हानि नहीं थी; पर उसके स्थान पर जापानके आ जानेके कारण अब वह राजधानीके दोनों सिरों पर आ बैठा है। देशको विवश होकर जो अपमान सहना पड़ रहा था, उसके लिए उन्होंने बहुत ही दुःख और लज्जा भी प्रकट की थी। उन्होंने यह भी कहा था कि राजनीतिक दृष्टिसे चीनी लोग इतने दुर्बल हो गये थे कि सम्राट्को सिंहासनच्युत करना भी अनिवार्य था और देशके हितोंका थोड़ा बहुत बलिदान भी। तथापि अब सब लोगोंको मिलकर इस नये सुधारको सफल बनानेका उद्योग करना चाहिए। जब हमारा देश सशक्त हो जायगा, तब हम लोग अपनी ये हानियाँ पूरी कर लेंगे।

१९१५ के अन्तमें मित्र राष्ट्रोंके बहुत कुछ विरोध करने पर भी काउन्सिल आफ स्टेटने सब प्रान्तोंसे यों ही परामर्श लेकर युआन शी काईसे कहा कि अब आप चीनके सम्राट् बन जाइये। युआनने भी यह बात मंजूर कर ली। पर इस कारण एक नया विद्रोह खड़ा हो गया। २६ दिसम्बर १९१५ को चीनके यूनन प्रान्तने घोषणा कर दी कि हम चीनसे स्वतंत्र हैं और अब चीनका हम पर कोई अधिकार नहीं है। निश्चित हो चुका था कि ९ फरवरी १९१६ को युआन शी काईका राज्याभिषेक होगा, पर जनवरीके अन्तमें ही युआन शी काईने घोषणा कर दी कि अभी राज्याभिषेक स्थगित रहेगा और कुछ निश्चित नहीं है कि वह कब होगा। पर उनकी इस घोषणासे ही विद्रोह शान्त न हुआ। अप्रैल १९१६ के अन्त तक प्रायः सारा दक्षिणी चीन मुख्य चीनसे अलग हो गया। इन अलग होनेवालोंमें चीनके सात प्रान्त थे। इसके उपरान्त यद्यपि

युआन शी काईने यह घोषणा कर दी कि हम सम्राट् नहीं बनेंगे, तथापि उनके विरुद्ध आन्दोलन बराबर बढ़ने लगा।

पर ६ जूनको युआन शी काईकी मृत्यु हो गई जिससे सारा झगड़ा ही मिट गया। नियमानुसार उपराष्ट्रपति ली युआन हुंग उनके स्थान पर राष्ट्रपति हुए। उन्होंने दो अगस्तको पुरानी पार्लीमेण्टका अधिवेशन किया और इस बातका वचन दिया कि हम पुराने नियमोंके अनुसार ही चलेंगे, उनमें कोई परिवर्तन न करेंगे। उधर दक्षिणवालोंको भी उनके चुनावमें किसी प्रकारकी आपत्ति न थी, इसलिए सब झगड़ा मिट गया और सारे देशमें एकता स्थापित हो गई। पर फिर भी अन्दर ही अन्दर कुछ न कुछ मन-मुटाव बना ही रहा। इसका कारण यह था कि उत्तर और दक्षिण चीनके निवासियोंमें नीतिके सम्बन्धमें मतभेद था। उत्तरके नेताओंकी अपेक्षा दक्षिणके नेता अधिक उदार थे; पर उत्तरी दलवाले सेनाके रंगरूट थे जो युआन शी काईके शिष्य थे। इन लोगोंका यह विश्वास था कि चीनको इस समय सबसे अधिक दो बातोंकी आवश्यकता है। एक तो बहुत बड़ी सेनाकी और दूसरे फ्रान्सकी तरह केन्द्रीभूत शासन-प्रणाली की, जिसमें सारे देशका शासन पेकिंगसे ही हो सके।

चीनके अधिकांश निवासी युरोपीय युद्धसे उदासीन ही थे। युरोपियन शक्तियोंने उनके साथ अब तक जो दुर्व्यवहार किया था, उसके कारण वे लोग यही समझते थे कि इस युद्धके कारण उनकी नीति आदिमें कोई विशेष परिवर्तन न होगा और इसके बाद भी वे हम लोगोंके साथ वही पुराना व्यवहार रखेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि चीनके सैनिक आदि जर्मनीके साथ थोड़ी बहुत सहानुभूति रखते थे। पर उनकी सहानुभूति कुछ विशेष महत्त्वकी नहीं थी; क्योंकि उसी तरहकी सहानुभूति रखनेवाले अनेक व्यक्ति

जापान और रूसमें भी तो थे, और फिर भी ये दोनों देश जर्मनीके साथ लड़ रहे थे। इसके अतिरिक्त इस बातमें भी कोई सन्देह नहीं है कि चीनके उदारमतवादी उन सिद्धान्तोंके पक्षमें थे। जिनकी घोषणा मित्र राष्ट्रोंके राजनीतिज्ञ बराबर किया करते थे। ऐसे लोग जर्मनीकी साम्राज्य-लिप्साकी बहुत निन्दा भी करते थे। पर फिर भी चीन-वालोंको मित्र राष्ट्रों पर विश्वास न था। इसका कारण यह था कि उनमेंके जापान और रूस ये दोनों देश अब भी चीनमें बराबर वही काम कर रहे थे, जो वे जर्मनीको नहीं करने देना चाहते थे। चीनमें एक भी ऐसा शिक्षित न था जो यह न समझता हो कि युरोपमें ग्रेट ब्रिटेनकी नीति कुछ और है और एशियामें कुछ और। प्रारम्भमें चीन महायुद्धसे इसी लिए अलग था कि वह अपने अनुभवसे यह बात अच्छी तरह जानता था कि युरोपियन राजनीतिज्ञ समय पड़ने पर कहनेको तो बड़ी लम्बी चौड़ी बातें कह डालते हैं, पर पीछेसे करते-धरते कुछ भी नहीं।

पर जब अमेरिकाने भी जर्मनीके साथ युद्ध छेड़ दिया, तब परिस्थित बिलकुल बदल गई। चीनी लोग बराबर बड़े ध्यानसे राष्ट्रपति विल्सनकी बातें सुना करते थे। जिन बातोंकी राष्ट्रपति विल्सन घोर निन्दा किया करते थे, उन बातोंको चीनी स्वयं भोग चुके थे; और भविष्यके लिए राष्ट्रपतिने जो सिद्धान्त बतलाये थे, उन सिद्धान्तोंके अनुसार चीनी यह आशा करते थे कि हमें पूर्ण स्वतन्त्रता मिल जायगी और हमारी सब इच्छाएँ पूरी हो जायँगी। इसलिए वे लोग हृदयसे चाहते थे कि राष्ट्रपतिके पक्षकी विजय हो और सारे संसारमें उनके सिद्धान्तोंके अनुसार काम होने लगे। उन बेचारोंको क्या मालूम था कि इसमें युरोपियन राजनीतिज्ञ विल्सनको भी गहरा चकमा देंगे। इस समय तो वे उनकी सब बातोंको मानकर अपना काम निकाल लेंगे और पीछे उनके

सिद्धान्तोंको ताक पर रख देंगे। इसी लिए जब अमेरिकाने चीन-को यह सलाह दी कि तुम भी मित्र राष्ट्रोंकी ओर मिल जाओ, तब चीनने इस आधार पर जर्मनीके साथ राजनीतिक सम्बन्ध तोड़ दिया कि वह पनडुब्बियोंका घोर युद्ध करना चाहता था पर जिस समय अमेरिकाने जर्मनीके साथ युद्धकी घोषणा की, उस समय चीनकी आन्तरिक व्यवस्था ठीक नहीं थी, इसलिए वह अमेरिकाका साथ न दे सका। दक्षिणवाले यह समझते थे कि यदि इस समय युद्ध छिड़ जायगा, तो उत्तरी दल बलवान् होनेके कारण युद्धकी परिस्थितिके बहाने हमको दबा बैठेगा और हमारे साथ अपने सैनिक बलका दुरुपयोग करने लगेगा। इसलिए उन लोगों-ने यह सलाह दी कि युद्ध छेड़नेसे पहले एक नया मन्त्रि-मण्डल स्थापित हो जाय, जिसमें दक्षिणके और अधिक प्रतिनिधि आ जायँ। पर प्रधान मन्त्रीने उनकी यह बात माननेसे इनकार कर दिया। यही कारण था जिससे चीनकी पार्लमेण्टमें जर्मनीके विरोधियों और अमेरिकाके पक्षपातियोंकी अधिकता होने पर भी जर्मनीके साथ युद्ध छेड़नेका प्रस्ताव पास न हो सका था।

राष्ट्रपति लीने यह समझकर प्रधान मन्त्रीको पदच्युत कर दिया कि इससे हम अमेरिकाका पक्ष लेकर युरोपीय महायुद्धमें सम्मिलित हो सकेंगे। इस पर उत्तर चीनके नेता अपने राष्ट्रपति लीके ही विरोधी हो गये। अब दक्षिणवालोंको फिर एक बार अलग और स्वतन्त्र होनेका अवसर मिल गया। इसका परिणाम यह हुआ कि अगस्त १९१७ में चीनमें गृहयुद्ध आरम्भ हो गया। लाचार होकर लीने प्रधान मन्त्रीको फिर उसके पद पर नियुक्त कर दिया। उस समय यद्यपि उत्तर चीनके नेता जर्मनीको उतना बुरा नहीं समझते थे, जर्मनी और उसके शत्रुओंको समान ही समझते थे, तथापि उत्तर चीनने जर्मनीके साथ युद्धकी घोषणा

कर दी। इसकी यह घोषणा कानूनके अनुसार ठीक नहीं थी; क्योंकि उस समय पार्लीमेण्टका अधिवेशन नहीं हो रहा था और सारे देशके प्रतिनिधियोंने युद्ध छेड़नेका प्रस्ताव पास नहीं किया था। यद्यपि दक्षिणके नेता आरम्भसे तब तक बराबर युद्ध छेड़नेके ही पक्षमें थे, तथापि इन लोगोंने इस निर्णयको कानूनकी दृष्टिसे ठीक करनेके लिए कहा कि एक बार फिर पार्लीमेण्टका अधिवेशन हो। पर उत्तरवाले कहते थे कि ऐसा होना असम्भव है, क्योंकि दक्षिणवाले युद्धके विरोधी हैं। युद्धकी घोषणाको कानूनकी दृष्टिसे ठीक करनेके लिए पेकिंगके मन्त्रि-मण्डलने चुनावका एक नया कानून पास किया और एक नई पार्लीमेण्टका संघटन किया। इस पर दक्षिणी दलने पुरानी पार्लीमेण्टके सदस्योंको कैण्टनमें एकत्र होनेके लिए निमन्त्रित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि चीन दो भागोंमें विभक्त हो गया और ये दो भाग युद्ध-कालमें और शान्ति महासभाके अधिवेशनों तक बराबर बने रहे। क्वांगटंग, क्वांसी और यूनशान ये तीनों प्रान्त पूर्ण रूपसे दक्षिणी दलके अधिकारमें थे और केवल कैण्टनवाली पार्लीमेण्टका ही अधिकार मानते थे। चीनमें जो गृहयुद्ध हुआ था, वह अनेक अंशोंमें कार्य-रूपमें नहीं, बल्कि केवल सिद्धान्त-रूपमें ही हुआ था; क्योंकि उत्तरी और दक्षिणी इन दोनों दलोंने कभी एक दूसरेके साथ बलप्रयोग नहीं किया और न उसे जीतनेका ही कोई उद्योग किया। शान्ति महासभाके समय दोनों दलोंके प्रतिनिधि साथ ही पेरिस पहुँचे थे और इन दोनोंकी पर राष्ट्र नीति बिलकुल एक ही थी। दक्षिणवाले जर्मनीके साथ युद्ध तो करना चाहते थे, पर वे युद्धकी कानून-विरुद्ध घोषणाको माननेके लिए तैयार नहीं थे; क्योंकि यदि वे उस घोषणाको मान लेते, तो उसका यह अर्थ होता कि वे पेकिंग-की नई पार्लीमेण्टका अधिकार भी मानते हैं। और नहीं तो मित्र

राष्ट्रोंका साथ देने अथवा जर्मनीको अपना शत्रु समझनेमें वे उत्तरवालोंसे किसी बातमें कम नहीं थे। पर शान्ति महासभामें उत्तरवाले युरोप और अमेरिकाको यह दिखलाना चाहते थे कि हम दोनों एक ही हैं; और इसी लिए उन्होंने अपने प्रतिनिधियोंमें दक्षिणके प्रतिनिधियोंको भी सम्मिलित कर लिया था।

जब शान्ति महासभामें जापानने शाण्टुंग पर अधिकार प्राप्त करनेमें सफलता प्राप्त कर ली और सभी विजयी शक्तियोंने चीनके अधिकारों पर कुछ भी ध्यान न दिया, तब उत्तर और दक्षिण चीनके नेता मिलकर एक हो गये। पेकिंग और कैन्टन दोनोंने मिलकर यह निश्चय कर लिया कि हम वार्सेल्सकी सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे।

इस बातमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं किया जा सकता कि चीन स्वराज्यके योग्य है और एक ही राष्ट्रकी हैसियतसे सब काम कर सकता है। क्योंकि आठ बरस तक लड़ने-झगड़नेके बाद अन्तमें चीनियोंने प्रजातंत्रकी घोषणा कर ही दी। युरोप या अमेरिकामें ऐसा कौन सा देश है जिसमें आरम्भमें आन्तरिक मतभेद, कलह और गृहयुद्ध न हुआ हो? यह कहना ठीक नहीं है कि गोरी जातियाँ ही उत्तमतापूर्वक शासन-कार्य कर सकती हैं। यदि इन गोरी जातियोंके बोझसे बचनेके लिए एशियावाले पश्चिमी ढंगकी शासन-प्रणाली स्थापित करना चाहते हों, तो गोरोंको उचित है कि वे एशियावालोंको कुछ अवसर दें। बिना अवसर दिये ही बीचमें यह चिल्ला उठना ठीक नहीं है कि एशियावाले पाश्चात्य शासनके लिए किसी प्रकार उपयुक्त ही नहीं हैं। बिना परीक्षा लिये किसीको अयोग्य ठहराना कहाँकी नीति है? इन पाश्चात्य देशोंमें ही कौन ऐसा देश है जो एक ही दिनमें उन्नतिके शिखर पर जा पहुँचा हो? यदि युरोपवालोंने धीरे धीरे उन्नति की है, तो फिर

एशियावालोंसे क्योंकर यह आशा की जाती है कि वे एक ही दिनमें सब कुछ सीखकर योग्य बन जायँगे ? उनको भी धीरे धीरे उन्नति करनेका अवसर क्यों नहीं दिया जाता ? इसी लिए न कि ऐसा करनेसे युरोपवालोंके हाथमें फँसी हुई सोनेकी चिड़िया कलकी निकलती आज ही निकल जायगी ? पर इन गोरोंको अब यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि उनकी चालाकियोंसे सभी अधीनस्थ देश परिचित हो गये हैं और उनकी यह धींगाधींगी अधिक समय तक नहीं चल सकती। हाँ, जब तक चल सकती हो, तब तक चाहे जैसे चला लें ।

(२१)

जापानका राजनीतिक विकास

जब पूरबवाले पाश्चात्य जातियोंकी रीति-नीति सीखना चाहते हैं, तब पाश्चात्य जातियोंके लोग मारे अभिमानके फूले नहीं समाते। वे समझते हैं कि पूर्वी देशोंके लोग इसी लिए हमारी सब बातोंकी नकल करते हैं कि हमारी सभ्यता उनकी सभ्यताकी अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है। पर वे बड़ी भूल करते हैं। वे इस बातका ध्यान ही नहीं रखते कि आवश्यकता ही आविष्कारकी जननी है। आज तक मनुष्योंने व्यक्तिशः और समष्टि रूपमें जितने बड़े बड़े उद्योग किये हैं, उनमें उनका उद्देश्य यही रहा है कि हम मनको बुद्धिके अधीन करें, प्रवृत्तिको संकल्पके अधीन बनावें, अपने विचारोंको बाह्य परिस्थितिके अनुकूल करें और सिद्धान्तोंको वास्तविक स्थितिके अनु-

कूल ले चलें। यदि परिस्थितिके अनुकूल बनना केवल ज्ञानका ही विषय होता और प्रत्यक्ष कार्योंसे उसका कोई सम्बन्ध न होता, तो हमारे सामने सामाजिक समस्याएँ रह ही न जातीं। अतः गोरी जातियोंको उचित है कि वे बहुत बना न करें और दूसरोंको अपनी नकल करते देखकर अभिमान न किया करें। पूरबवाले उन्हें श्रेष्ठ समझकर उनका अनुकरण नहीं करते, बल्कि वे प्राकृतिक नियमोंके अनुसार अपने आपको बाह्य परिस्थितिके अनुकूल बनानेका उद्योग करते हैं।

यदि पूर्वी देशोंमेंसे किसी देशने अपने आपको सबसे जल्दी पाश्चात्य साँचेमें ढाला है, तो वह जापानने। प्रायः सत्तर वर्ष पूर्व जापान पर पाश्चात्योंकी छाया पहले पहल पड़ी थी। पर जापान एक द्वीप था, इसी लिए वह युरोपवालोंके अधिकारमें जानेसे बचा रहा। और ज्यों ही युरोपियनोंने उसकी ओर पहले पहल अपनी तोपोंका रुख किया, त्यों ही उसने समझ लिया कि हमें इन गोरोंके दासत्वसे बचनेके लिए किस मार्गका अवलम्बन करना चाहिए। यदि जापान केवल दो ही पीढ़ियोंमें पूरी तरहसे युरोपियन साँचेमें ढल गया, तो उसका कारण यह नहीं है कि वह युरोपियन बनना चाहता था; बल्कि उसका कारण यह था कि वह जापान ही बना रहना चाहता था। वह अपना अस्तित्व मिटाना नहीं चाहता था। जापानियोंने नकल नहीं की थी, बल्कि बड़ी बुद्धिमत्ताका काम किया था। किसी बलवान् शत्रुके विरोधका सबसे अच्छा उपाय यही है कि आप भी उसके समान बलवान् बन जायँ। जापानका आधुनिक इतिहास एक ऐसे राष्ट्रका इतिहास है जो अपनी कमजोरियोंको समझता था और जो अपने आपको युरोपियनोंका शिकार बननेसे रोकनेके लिए और बलमें उनकी बराबरी करनेके लिए उनकी नकल करने लगा था। यदि युरोप-

वाले सभी बातोंमें जापानसे श्रेष्ठ होते और जापान केवल उनकी श्रेष्ठताके कारण ही उनकी नकल करने लगा होता, तो वह उनका धर्म और नैतिक आदर्श भी अवश्य ग्रहण कर लेता। पर वास्तव-में उसने ऐसा नहीं किया। उसने तो युरोपियनोंकी बराबरी करनेके लिए केवल उनकी तरह काम करना सीखा था। उनकी नीति उसने कभी ग्रहण नहीं की। केवल बल या धूर्तता ही श्रेष्ठताका चिह्न नहीं है।

जापानकी आधुनिक शासन-प्रणालीके विकासका उसकी पर-राष्ट्रीय नीतिके साथ ओतप्रोत सम्बन्ध है। दोनोंका एक दूसरे पर समान रूपसे प्रभाव पड़ा है। जब हम यह देखते हैं कि जापानको अपनी परराष्ट्रीय नीति स्थिर करनेके लिए ही आधुनिक प्रजासत्तात्मक शासन-प्रणालीकी शरण लेनी पड़ी थी, और साथ ही इसका भी विचार करते हैं कि गत सत्तर वर्षोंमें वहाँ जितने राजकीय परि-वर्तन हुए हैं, वे सब बाहरी संसारके सम्बन्धके कारण ही हुए हैं, तब हमारे उक्त कथनमें किसी प्रकारके सन्देह अथवा आश्चर्यकी जगह नहीं रह जाती।

जापानके राजकीय जीवनसे इस बातका बहुत अच्छी तरह पता चलता है कि उसने युरोपवालोंकी जो नकल की थी, वह व्यर्थ अथवा शौकके कारण नहीं की थी। और फिर दूसरी बात यह है कि उसने युरोप और अमेरिका आदिकी सब बातें ज्योंकी त्यों नहीं ग्रहण कीं, बल्कि आवश्यकतानुसार उनमें बहुत कुछ परिवर्तन भी किया है। जापानके सम्राट्को अब तक इस बातका पूरा पूरा अधिकार है कि वह जिससे चाहे, उसे मन्त्रि-मण्डलमें रखे; और जब चाहे, तब मन्त्रि-मण्डल तोड़ दे। यदि पार्लमेण्ट सरकारका समर्थन न करे, तो सम्राट्को अधिकार है कि वह पार्लमेण्टको ही तोड़ दे। और विलक्षणता यह है कि जब कभी सम्राट् पार्लमेण्ट

तोड़ देता है, तब नये चुनावमें प्रजा द्वारा अधिकांश सदस्य ऐसे ही चुने जाते हैं जो सम्राट्के नियुक्त किये हुए मन्त्रियोंके ही पक्षमें होते हैं।

चीन-जापान युद्धके बाद जापानके निवासियोंमें राष्ट्रीयता और देशहितैषिताका भाव और भी विशेष रूपसे जाग्रत हुआ था; और वे लोग समझने लगे थे कि अपना राजकीय अस्तित्व बनाये रखनेके लिए यह आवश्यक है कि आधुनिक ढंग पर सेनाका संघटन हो; और सैनिक सामग्री बढ़ानेके लिए यह आवश्यक है कि हम लोग अधिक करोंका भार उठावें। उसी समयसे वहाँकी सरकार देशके राजनीतिक दलों आदिको भी स्वीकृत करने लगी थी। अब वहाँ तीन राजनीतिक दल हो गये हैं। रूस-जापान युद्धके समय वहाँ वृद्ध राजनीतिज्ञों और सरदारोंका एक दल था जो देशका वास्तविक शासक था। उस दलके लोग सम्राट्को जो परामर्श देते थे, उसीके अनुसार सब काम होते थे। देशके किसी दूसरे दलको उनका विरोध करनेका साहस नहीं होता था। सर्व सधारण इस नीतिसे सन्तुष्ट नहीं थे, इसलिए रूस-जापान-युद्ध छिड़नेसे कुछ पहले ही वहाँका लोकमत जोर पड़ने लगा और राजनीतिक कार्यों पर उसका प्रभाव पड़ने लगा। सर्वसाधारणका कहना था कि जापान इस समय जो सहनशीलता दिखला रहा है, उसके कारण चीन जबरदस्त होता जा रहा है। वह एशियाई समुद्रोंमें अपनी जलसेना भी बढ़ा रहा है और मंचूरियामें अपनी स्थल सेना भी। सरकारके पक्षका समर्थन करनेके लिए उस समय सम्राट्ने जो भाषण किया था, उसकी बातें भी लोगोंको ग्राह्य नहीं हुई और पार्लमेण्टने सरकारकी निन्दाका प्रस्ताव पास कर ही डाला। इस पर सम्राट्ने पार्लमेण्ट तोड़ दी। इसके डेढ़ वर्ष बाद, युद्ध समाप्त हो जाने पर, जब पोर्ट्स्माउथकी सन्धिकी शर्तें प्रकाशित की गईं, तब भी लोकमत बहुत

क्षुब्ध हुआ था। यहाँ तक कि टोकियोमें भीषण दंगा भी हो गया था। जापानकी पार्लीमेण्ट, समाचारपत्रों और सर्व साधारणने एक स्वरसे सरकारकी निन्दा की थी और कहा था कि सरकारको रूससे पूरा हरजाना और सारा सघेलियन ले लेना चाहिए था।

रूस-जापान युद्धके आठ दस बरस बादके समयमें जापानमें लोकमतका जोर और भी बढ़ गया और वहाँके शासनमें प्रजातंत्रका तत्व और भी अधिक प्रविष्ट हो गया। इसकी वजह यह थी कि रूस-जापान युद्धके कारण जापान-निवासी अनेक नये नये और भारी ऋणोंसे लद गये थे। इतना होने पर भी वहाँके राजनीतिज्ञ बराबर इस बात पर जोर दिया करते थे कि जल तथा स्थल सेनामें और भी वृद्धि की जाय। समाचारपत्र इस नीतिका घोर विरोध करते थे; और ज्यों ज्यों उन पत्रोंके पाठकोंकी संख्या बढ़ती जाती थी, त्यों त्यों लोकमत सेना-वृद्धिके प्रतिकूल होता जाता था। जब सरकारकी बदनामी बहुत बढ़ गई, तब १९१४ के आरम्भमें वहाँके मन्त्रि-मण्डलने विवश होकर इस्तेफा दे दिया और इस प्रकार प्रजातंत्रवाद या लोकमतकी बहुत बड़ी विजय हुई। उस समय मार्क्विस ओकुमा प्रधान मन्त्री बनाये गये। वे किसी विशिष्ट दल अथवा वर्गसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे। उन्होंने सभी दलोंके लोगोंको मिलाकर एक नया मन्त्रि-मण्डल बनाया। इससे बहुतसे लोग तो सन्तुष्ट हो गये; पर फिर भी एक दल ऐसा था जो सन्तुष्ट नहीं हुआ। उस दलको सन्तुष्ट करनेके लिए वाइकाउण्ट केटो परराष्ट्र सचिव बना दिये गये और तब फिर पार्लीमेण्टके चुनावमें बहुमत ऐसे ही लोगोंका हो गया, जो सरकारका समर्थन करनेवाले थे।

दिसम्बर १९१४ में मार्किस ओकुमाके लिए विकट परीक्षाका समय आया। उस समय फिर सैनिक व्यय बढ़ानेका प्रश्न उठा हुआ था और उसके निराकरणमें ओकुमाके मंत्रि-मंडलकी गहरी

हार हुई थी। यदि उस समय ओकुमा पार्लामेण्टके निर्णयकी केवल उपेक्षा ही कर जाते, तो भी कुछ विशेष क्षति न होती और सम्राट् उनको बचा लेते। पर वे पार्लामेण्टको तोड़नेके लिए जोर लगाने लगे। यद्यपि उस समय उनकी अवस्था पचहत्तर वर्षकी थी और उनकी एक टाँग कटी होनेके कारण लकड़ीकी थी, तथापि वे सारे देशमें घूम घूमकर व्याख्यान देने लगे और लोगोंको सेना बढ़ानेकी आवश्यकता समझाने लगे। जिन जिन स्थानों पर वे किसी कारणसे स्वयं न पहुँच सकते थे, उन उन स्थानों पर वे अपने व्याख्यानोंको फोनोग्राफमें भरकर भेजते थे। उनके इस कठिन परिश्रमका परिणाम यह हुआ कि जब २५ मार्च १९१५ को पार्लामेण्टका चुनाव हुआ, तब सरकारके पक्षकी भारी जीत हो गई। पहले तो मन्त्रियोंका पक्ष निर्बल था, क्योंकि उनके समर्थकों-की संख्या कम थी; पर इस चुनावके उपरान्त उनकी संख्या विरोधियोंकी अपेक्षा चालीस अधिक हो गई। बस फिर सरकारकी विजयका क्या पूछना था!

३ अक्तूबर १९१६ को मार्किस ओकुमाने यह कहकर इस्तेफा दे दिया कि अब मेरी अवस्था बहुत अधिक हो गई है। पर साधारणतः लोगोंका यह विश्वास था कि जो दल पहले अधिकारारूढ़ था और जिसने अपनी बदनामी दूर करनेके लिए कुछ दिनों तक ओकुमाका प्रधान मन्त्री रहना स्वीकृत कर लिया था, उसी दलने अब यह देखकर कि हमारी बदनामी दूर हो गई है, फिरसे अपने हाथमें अधिकार लेनेके उद्देश्यसे ओकुमाको पदत्याग करनेके लिए विवश किया था। ओकुमाने अलग होते समय कहा था कि केटोको मेरे स्थान पर नियुक्त कर दिया जाय। पर जब सम्राट्ने यह बात न मानी, तब लोगोंका उक्त सन्देह और भी दृढ़ हो गया। पिछले चुनावमें केटोका दल बहुत प्रबल था; और यदि इस बार केटोके हाथ-

में ही जापानका शासन रहने दिया जाता, तो उसमें कोई अनुचित और हानिकारक बात न होती। ओकुमाके विरोधियोंने सम्राट्से कहा कि इस समय कोरियाके गवर्नर जनरल काउण्ट टेराची प्रधान मन्त्री बना दिये जायँ; क्योंकि इससे सब लोग सन्तुष्ट भी हो जायँगे और नये राजनीतिक दलोंका जोर भी टूट जायगा। सम्राट्ने यही बात मान ली। पर टेराची न तो किसी राजनीतिक दलसे ही सम्बन्ध रखते थे और न पार्लमेण्टमें कोई उनका समर्थक या सहायक ही था। उन्होंने नये राजनीतिक दलोंके लोगोंको पूछा भी नहीं, और पुराने सरदारों आदिका ही मन्त्रि-मण्डल संघटित कर दिया। इससे लोगोंने समझ लिया कि अब फिर उसी पुराने ढंगसे काम करनेका उद्योग किया जायगा और शासन-कार्योंमें लोकमतका कुछ भी आदर न होगा। जब नये मन्त्री पार्लमेण्टमें पहुँचे, तब उनको देखते ही राष्ट्रीय दलके एक वृद्ध नेताने उठकर इस आशयका एक प्रस्ताव उपस्थित किया कि हम लोगोंको इन नये मन्त्रियों पर विश्वास नहीं है। इन प्रस्तावक महाशयका नाम इनुकाई था। यदि दूसरे दलके लोग भी इनुकाई-की सहायता करते, तो उनका प्रस्ताव अवश्य स्वीकृत हो जाता। पर फिर भी टेराचीने पार्लमेण्ट तोड़ दी। दूसरे चुनावमें टेराची-के समर्थकोंकी संख्या बढ़ गई, ओकुमा-केटो दलकी पूरी पूरी हार हो गई और इनुकाईके राष्ट्रीय दलवालोंको पार्लमेण्टमें बहुत ही थोड़े स्थान मिले।

ये सब बातें यहाँ इतने विस्तारसे केवल इसी लिए कही गई हैं जिसमें पाठकोंको यह मालूम हो जाय कि जापानमें जो राज-नीतिक दलबन्दी है, वह पुराने सरदारों और नये विचारवालोंके कारण है, न कि राजनीतिक सिद्धान्तोंमें मतभेदके कारण। अब भी वहाँ पुराने सरदारोंका ही जोर है। बीचमें कुछ दिनोंके लिए उन

सरदारोंने अपने आपको बदनामीसे बचानेके लिए शासनकी बाग-डोर आधुनिक ढंगके राजनीतिक दलोंके हाथमें दे दी थी; और अब वे फिर स्वयं ही अधिकारी बन गये हैं। इससे यह स्पष्ट है कि जापानमें उस प्रकारकी कोई विशेष राजनीतिक दलबन्दी नहीं है, जैसी पाश्चात्य देशोंमें है। अर्थात् जापानने पाश्चात्य बातोंका पूरा पूरा अनुकरण नहीं किया है, बल्कि उसने उसमेंसे अपने मतलबकी ही बातें ले ली हैं और बाकी सब बातें छोड़ दी हैं। पर वहाँ सबसे बड़ी कठिनता यह है कि न तो पुराने सरदार आदि ही प्रजाके सच्चे प्रतिनिधि हैं और न आधुनिक राजनीतिक दलोंके नेता ही। वहाँकी प्रजा जो बातें चाहती है, उनकी तो कहीं सुनाई ही नहीं होती। वहाँके शिक्षितोंमें भी अभी तक प्रजातंत्र अथवा प्रतिनिधि शासन-के भाव अच्छी तरह नहीं फैले हैं। वहाँके गरीब आदमी तो शिक्षा प्राप्त करके सरकारी नौकरीमें लग जाते हैं और व्यापारी आदि धनिक लोग पुराने ढंग पर चले चलते हैं। वहाँ कोई ऐसा दल खड़ा ही नहीं होता जो नये नये राजनीतिक सिद्धान्तोंको लोगोंके सामने रखे अथवा सर्व साधारणके हितोंकी रक्षा करनेका उद्योग करे। वहाँके अधिकांश निवासी राजनीतिक दलबन्दियोंकी ओर-से सदा उदासीन ही रहते हैं। प्रायः वे यही कहते हैं कि हम तो सम्राट्के दलके हैं; और सम्राट् ही सरकारका संघटन करते हैं, इसलिए हम सम्राट्के साथ साथ सरकारके दलके भी हैं; राज-नीतिक दलबन्दियोंसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। वहाँके अधि-कांश समाचारपत्र भी राजपक्षके ही हैं। पार्लीमेण्टके पक्षके समा-चारपत्र एक तो यों ही थोड़े हैं; और जो हैं भी, उनके पाठकोंकी संख्या बहुत कम है।

यदि जापानको युरोपियनों और अमेरिकनोंके आक्रमणका भय न होता, तो वहाँ पूर्ण एकतन्त्री शासन ही रहता। पार्लीमेण्ट

और मन्त्रि-मण्डल आदिका वहाँ जो ढोंग रचा गया है, वह केवल अपने देशको विदेशियोंके आक्रमणसे बचानेके लिए है। आरम्भमें जापानमें संघटित शासन प्रणालीकी स्थापनाका जो उद्देश्य था, वही उद्देश्य उसके विकासके समय भी लोगोंके सामने रहा है। जापानने नई रीति-नीति इसलिए नहीं ग्रहण की थी कि हम भी युरोपियन बन जायँ अथवा सब बातोंमें युरोपियन राज्यों और राष्ट्रोंके समान हो जायँ। उसने तो केवल अपने आपको युरोपियन राष्ट्रोंके समान बनानेके लिए कुछ नवीन बातोंका आश्रय लिया था। उन्होंने आदिसे अन्त तक सब बातें अपनी निजकी ही रखी हैं। न तो उन्होंने अपने पुराने विचार और पुराने आदर्श छोड़े हैं और न पुरानी सभ्यताका ही परित्याग किया है।

जब जापान यथेष्ट बलवान् हो गया, तब वह बड़ी शानसे इस बात पर जोर देने लगा कि हमारे देशमें भी और पराये देशोंमें भी हमारे अधिकारोंका पूरा पूरा आदर हो। कुछ लोग जापानकी इसलिए निन्दा करते हैं कि उसकी साम्राज्य-लिप्सा और युद्ध-प्रियता बहुत बढ़ती जा रही है। पर उन लोगोंको कदाचित् यह नहीं मालूम है कि जापानी भी एशियाके प्रूशियन हैं। जिस प्रकार जर्मनीके प्रूशियन लोग स्वभावतः युद्धप्रिय हैं, उसी प्रकार जापानी भी स्वभावतः क्षत्रिय और लड़ाके हैं। वे भी सदा दूसरों पर विजय प्राप्त करनेकी ही चिन्तामें मग्न रहते हैं। उनकी इस क्षत्रिय-वृत्तिको देखकर अनेक युरोपियनों और अमेरिकनोंको भय होने लग गया है। जापानने कोरियामें जो कुछ किया है, अथवा चीनमें वह जो कुछ कर रहा है, उसे देखकर गोरी जातियोंको यह आशंका होने लग गई है कि कहीं किसी दिन वह हम लोगों पर भी अपना हाथ साफ करनेकी कोशिश न करने लगे। जो गोरे अब तक बराबर यही समझते रहे हैं कि सारे संसार पर शासन करनेका पट्टा ईश्वरने हमारे ही नाम

लिख दिया है, उनका जापानसे भयभीत होना बहुत ही स्वाभाविक है। युरोपियनोंका व्यवहार देखकर अब जापान भी उनसे कहने लग गया है कि या तो तुम सीधी तरहसे हमारे पड़ोसी बनकर चुपचाप बैठे रहो और या हमारी तोपोंकी मार सहनेके लिए तैयार हो जाओ। युरोपियन राष्ट्र यह चाहते हैं कि जिस तरह हम एशियाके दूसरे देशोंको लूटते हैं और वे देश चुपचाप हमारा सारा अत्याचार सह लेते हैं, उसी प्रकार हम जापानको भी लूटें और वह भी चुपचाप हमारे सब अत्याचार सहता चले। पर जापान यह कहता है कि एशियामें तुम लोगोंको हमारे रहते ऐसी लूट मचानेका कोई अधिकार नहीं है। तुम लोग अपने घर जाओ और एशियाके देशोंको हमें लूटने दो। इन युरोपियन और अमेरिकन ठठेरोंको अब एशियाके एक ठठेरेका मुकाबला करना पड़ रहा है और इसी लिए वे मन ही मन जापानसे भयभीत हो रहे हैं। उन्हें डर लग रहा है कि कहीं जापान हमें बोरिया-बन्धना बाँधकर एशियासे प्रस्थान करनेके लिए विवश न करे। पर यहीं पहुँचकर वे इस प्राकृतिक नियमको भूल जाते हैं कि एक ही मनुष्य या राष्ट्र सदा बलवान् और युवक नहीं बना रह सकता। इस सृष्टिका यही नियम है कि एक जाता है और दूसरा आकर उसका स्थान ग्रहण करता है। जब आज तक संसार-में सैकड़ों हजारों बड़े बड़े साम्राज्य उत्पन्न होकर नष्ट हो गये, तब ये युरोपके राष्ट्र किस गिनतीमें हैं! एक बात और है। अब संसार जिस रास्ते पर चल रहा है, उससे तो विचारशीलोंको जापानकी अभी इष्ट-सिद्धिमें भी शंका हो रही है। अब तो इस लूट-वाले युगका अन्त ही हो जाना चाहिए और ऐसे युगका आविर्भाव होना चाहिए जिसमें कोई बलवान् न रह जाय और सब समान रहें, कोई लूटनेवाला न रह जाय और सब लोग भाई भाईकी

तरह निर्वाह करें। लक्षणोंसे जान पड़ता है कि सबकी समानता-वाला युग चाहे अभी कुछ दूर हो, पर फिर भी इस लूटवाले युगका अन्त दूर नहीं है। ईश्वर करे, वह युग शीघ्र आवे और संसार इन गोरोंका असह्य बोझ ढोनेसे बच जाय।

सोलहवीं शताब्दीके मध्यमें कुछ पुर्तगालियों, डचों और स्पेनियोंने पहले पहल जापान जाकर वहाँ अड्डा जमाना चाहा था। उन्होंने पहले तो वहाँ अपने पादरी भेजे; और जब देखा कि उन पादरियोंकी वहाँ खूब आव-भगत हुई, तब और आगे पैर पसारनेके लिए अपने व्यापारी भेजे। उन लोगोंकी कार्रवाइयोंसे जापानवालोंको यह मालूम हो गया कि ये विदेशी व्यापारके बहाने हमारे देश पर ही अधिकार जमाना चाहते हैं। इसलिए उन लोगोंने उन विदेशियोंको जबरदस्ती और सेनाकी सहायतासे अपने देशसे निकाल दिया। इसके बाद तीन सौ बरसों तक जापानवाले इन विदेशियोंके आक्रमणों और षड़यन्त्रोंसे रक्षित रहे। तीन सौ वर्ष बाद उन्होंने देखा कि स्पेनियों और डचों आदिने हमारे साथ जो व्यवहार किया था, वही व्यवहार अँगरेज, फ्रान्सीसी और रूसी आदि चीनके साथ कर रहे हैं। ठीक उसी समय जापानने दोबारा विदेशियोंको अपने देशमें व्यापार करनेकी आज्ञा दी थी। पर उसी समय उसको यह भी मालूम हो गया था कि युरोपकी जातियाँ एशियावालोंके साथ बहुत ही अनुचित और निन्दनीय व्यवहार करती हैं। १८४० में जापानने देखा कि अँगरेज लोग चीनको अफीमका व्यापार बन्द करनेसे जबरदस्ती रोक रहे हैं; और जब चीन नहीं मानता है, तब वे उसके साथ भीषण युद्ध छेड़ देते हैं। यों तो ग्रेट ब्रिटेनके सिर पर छोटे मोटे हजारों कलंक हैं, पर चीनके साथ अफीमके व्यापारके लिए उसका युद्ध बहुत बड़े बड़े कलंकोंमेंसे है। उस युद्धमें ग्रेट ब्रिटेनने चीनियोंको अफीमका व्यापार जारी

रखनेके लिए विवश किया, उससे हांगकांग छीन लिया और इस प्रकार दूसरी शक्तियोंके सामने चीनको लूटनेका एक अच्छा उदाहरण खड़ा कर दिया। इसके उपरान्त १८५७—१८६० में जो युद्ध हुआ था, उसमें फ्रान्सने ग्रेट ब्रिटेनका साथ दिया था और इन दोनोंने मिलकर पेकिंग पर अपना अधिकार जा जमाया था। इन दोनों युद्धोंमें चीनसे हरजानेकी बहुत बड़ी बड़ी रकमें वसूल की गई थीं। विदेशियोंके ये सब अत्याचार देखकर जापानवाले सचेत हो गये और उन्होंने सोचा कि हमें कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे ये युरोपियन हमारी भी ऐसी ही दुर्दशा न कर सकें, जैसी वे एशियाके और देशोंकी कर रहे हैं। इसी लिए जापानने अपना सैनिक बल बढ़ाया, और इसी लिए उसने अपने प्राचीन एकतन्त्री राज्यको बनाये रखकर भी युरोपियन ढंगकी शासन-प्रणाली प्रचलित की। इन सब बातोंका तात्पर्य यही था कि वह इन गोरोंके हाथसे मरना नहीं चाहता था, बल्कि वह चाहता था कि हमारा अस्तित्व बना रहे; और यदि हो सके, तो किसी दिन हम भी इनको इसका कुछ मजा चखावें, हम भी इनसे कुछ बदला चुकावें। पचास वर्ष तक तो जापान केवल इसी आशा पर जीता और अपनी उन्नति करता रहा कि किसी दिन हमारी सेना भी आर्थर बन्दरके किलों पर गोले बरसावेगी और हमारे जहाज भी प्रशान्त महासागरसे रूसी जहाजोंको मार भगावेंगे।

ग्रेट ब्रिटेन और रूस केवल हांगकांग और ब्लैडिवास्टक लेकर ही सन्तुष्ट नहीं हुए। अँगरेज लोग शंघाईके पासका चूसन द्वीपपुंज भी लेना चाहते थे। कोरिया और जापानके बीचके जलडमरूमध्यवाले मूस टापू और हैमिल्टन बन्दर पर भी उनकी दृष्टि गड़ी हुई थी। रूस चाहता था कि हम सुशिमा टापू भी ले लें जिसमें कोरियन जलडमरूमध्य पर हमारा पूरा पूरा अधिकार हो जाय। इस

प्रकार ये दोनों ही अपना अपना उद्देश्य सिद्ध करना चाहते थे, पर साथ ही दोनों एक दूसरेके काममें बाधक भी होते थे। लोगोंको बराबर यही सन्देह बना रहता था कि या तो ये दोनों महाशक्तियाँ आपसमें समझौता कर लेंगी और या लड़ जायँगी। इन दोनोंको इस कामसे कोई रोकना भी नहीं चाहता था; क्योंकि सभी युरोपियन शक्तियाँ यही समझती थीं कि एशियावालोंको तो किसी बातका अधिकार है ही नहीं; युरोपियन उनके साथ जैसा चाहें, वैसा व्यवहार करें। यदि कभी कोई युरोपियन शक्ति किसी दूसरी युरोपियन शक्तिके मुकाबलेमें किसी एशियाई देशका पक्ष लेती भी थी, तो केवल अपने लाभके लिए, न कि उस देशके लाभके लिए। इस नीतिका सबसे अच्छा प्रमाण उस समय मिला था, जिस समय जापानने उठकर अपने पैरों पर खड़े होनेका उद्योग आरम्भ किया था और जब वह अपने आपको इन युरोपियन शक्तियोंके समान बनानेके लिए विवश किया जा रहा था। उसी अवसर पर यह भी मालूम हो गया था कि युरोपियन शक्तियाँ जापानकी उन्नतिसे कितनी भयभीत हो रही थीं। जब १८६० में अँगरेजों और फ्रान्सीसियोंने पेकिंग पर अधिकार कर लिया था, तब रूसने चीनकी सहायता की थी। पर इस सहायताके बदलेमें उसने चीनसे उसका मैरिटाइम प्रान्त अपने लिए माँगा था। चीनने भी रूसकी बात मान ली; इसलिए रूसी व्लैडिवास्टक तक पहुँच गये और जापानके सामने एशियाका जितना देश था, वह सब उनके हाथ आ गया। इसके उपरान्त रूसने तुरन्त ही यह कहा कि हमको सघेलियन टापूका दक्षिणार्ध मिल जाना चाहिए। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टिसे शघेलियन टापू जापानका ही एक अंग था, तथापि जापान उस समय इतना बलवान् नहीं था कि रूसका मुकाबला कर सकता। इसलिए उसने अपने सघेलियन

सम्बन्धी सब अधिकार छोड़ दिये और उनके बदलेमें क्यूराइल टापू ले लिया।

लगातार तीस वर्षों तक जापानी राजनीतिज्ञ अपने देशकी आर्थिक और नैतिक उन्नतिके प्रयत्नमें लगे रहे। साथ ही वे लोग बराबर इस बातकी भी तैयारी करते रहे कि अब यदि कोई युरोपियन शक्ति पूर्वी एशियामें अपना अधिकार बढ़ाना चाहे, तो हम उससे लड़ भी सकें। जापान यह नहीं चाहता था कि कोरिया पर रूसियोंका अधिकार हो; इसलिए उसने चीनसे कहा कि आओ, हम तुम मिलकर कोरियाकी रक्षा और उन्नति करें जिसमें वह एक स्वतंत्र देश बना रहे। पर दुर्भाग्यवश चीनके राजनीतिज्ञोंकी समझमें यह बात नहीं आई कि कोरिया और युरोपियन शक्तियोंके सम्बन्धमें चीन और जापानकी नीतिका सदा एक रहना ही दोनोंके लिए लाभदायक है। इसलिए चीनने जापानकी बात माननेसे यह कहकर इन्कार कर दिया कि कोरिया हमारा करद राज्य है और उसमें हम तुमको कोई हस्तक्षेप न करने देंगे। इसलिए १८९४ में जापानने कोरियाको रूसके हाथमें जानेसे बचानेके लिए चीनके साथ युद्ध किया था। उस युद्धके अन्तमें शिमोनोसेकीकी जो सन्धि हुई थी, उसकी शर्तोंके सम्बन्धमें युरोपमें बड़ा हो-हुल्लड़ मचा था। रूस, फ्रान्स और जर्मनी मिलकर जापानको इस बातके लिए विवश करना चाहते थे कि वह चीनसे मिलनेवाले हरजानेकी रकम कम कर दे और यह कह दे कि हम लियाओटंग प्रायद्वीप नहीं लेंगे। यदि ये तीनों महाशक्तियाँ केवल चीनकी रक्षाके विचारसे इस प्रकारका कोई उद्योग करतीं, तो उनका वह उद्योग बहुत ही युक्तियुक्त और न्यायसंगत होता। उस दशामें उनके उस उद्योगका फल यह होता कि पूर्व एशियामें शान्ति स्थापित हो जाती और यह सिद्ध हो जाता

कि ये तीनों शक्तियाँ जापानकी सच्ची शुभचिंतक हैं। पर संसारको शीघ्र ही इस बातका पता लग गया कि जिन उद्देश्योंसे प्रेरित होकर इन तीनों शक्तियोंने जापान पर, अपनी माँग कम करनेके लिए दबाव डाला था, वे उद्देश्य बहुत ही नीच और निन्दनीय थे। रूस तो यह चाहता था कि लियाओटंग पर जापानके बदलेमें हमारा अधिकार हो जाय। जर्मनीने जापानको शाण्टुंग प्रायद्वीपमें जो काम करनेसे रोका था, वही काम उसने पीछेसे आप कर डाला। और फ्रान्सने चीनसे समझौता करके यह निश्चय कर लिया कि चीनके दो दक्षिणी प्रान्तों पर केवल हमारा ही अधिकार रहे; उन दोनों प्रान्तोंको हमारे अतिरिक्त और कोई देश न लूट सके। इन युरोपियन शक्तियोंने चीनको जापानके हाथसे बचानेका जो उद्योग किया था, और उस उद्योगके उपरान्त आप जो कुछ कार्रवाई की थी, उसके कारण जापान पर बड़ा विलक्षण प्रभाव पड़ा था। तब तक इन युरोपियन शक्तियोंकी न्याय-प्रियता और मित्रता आदिके सम्बन्धमें जापानको जो थोड़ा बहुत विश्वास बच रहा था, वह भी इस बार जाता रहा। जापानने समझ लिया कि इन युरोपियनोंका कभी विश्वास नहीं करना चाहिए और इनके साथ भी वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा व्यवहार वे आपसमें और साथ ही एशियावालोंके साथ करते हैं। जब अफ्रीकामें युरोपियन शक्तियाँ वहाँके देशोंका आपसमें बँटवारा कर चुकीं, तब उन्होंने पूर्वी एशियाकी ओर दृष्टिपात किया था और वे चाहती थीं कि चीनको भी तरबूजकी तरह काटकर आपसमें बाँट खायँ। यदि इतने पर भी जापान इन युरोपियनोंका विश्वास करता तो आज वह इस उन्नत दशामें न दिखाई देता। आज उसकी गणना भी युरोपियनोंके भारत, फारस, चीन आदि शिकारोंमें होती। ऐसी दशामें यदि कोई यह सन्देह करे कि आजकल भारतका

नरम दल अँगरेजोंका जो विश्वास कर रहा है, उसके लिए आगे चलकर उसको पछताना पड़ेगा, तो इसमें किसीको कुछ आश्चर्य न होना चाहिए।

जिस समय चीन-जापान युद्ध हुआ था, उस समय समझदार जापानी यह नहीं समझते थे कि हमने चीनमें विजय पाई है। उस युद्धके प्रधान जापानी अधिकारी जनरल काकमी थे जो जापानके माल्के कहे जाते हैं। विजयका आनन्द मनाने और काकमीका आदर-सत्कार करनेके लिए कुछ जापानियोंने उनको एक भोज दिया था। उस भोजके अवसर पर किसी जापानीने यह प्रस्ताव किया था कि इस युद्धकी विजयका कोई स्मारक बनाया जाय। यह प्रस्ताव सुनकर जनरल काकसीने बहुत ही क्रुद्ध होकर काँपते हुए स्वरमें कहा था—"स्मारक बनानेका कोई कारण ही नहीं है। हम लोगोंने केवल इसी उद्देश्यसे युद्ध किया था कि हम चीनको यह विश्वास दिला दें कि हम दोनों मिलकर साथ साथ चलना चाहते हैं। पर हमारा वह उद्देश्य सफल नहीं हुआ। वास्तवमें चीन पर हमारी विजयका केवल यही परिणाम हुआ है कि युरोपियन चोरोंने आकर उसको आपसमें बाँट लिया है।" काकसीका कहना अक्षरशः सत्य था।

उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तमें युरोपियन शक्तियाँ चीनमें जो राजनीतिक चालें चल रही थीं, उनको देखकर जापानियोंने समझ लिया कि अब हमारी रक्षा केवल इसीमें है कि हम भी अपना सैनिक बल बढ़ाकर इन युरोपियनोंका मुकाबला करें। चीन या तो युरोपियन आक्रमणको रोकनेमें असमर्थ था और या वह उस आक्रमणको रोकना ही नहीं चाहता था। अमेरिका यह चाहता था कि चीनमें सभी देशोंके लोगोंको जाने, रहने और व्यापार आदि करनेका समान अधिकार प्राप्त हो। पर युरोपियन शक्तियाँ

भला इस प्रस्तावको कैसे मान सकती थीं? उनके मुँहमें तो बहुत दिनोंसे शिकारका खून लग चुका था। अतः जापानकी रक्षाका उस समय इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था कि वह अपनी जल तथा स्थल सेना बढ़ावे। जापानी समझते थे कि हमें इस समय दुनियाँ भरके सब काम छोड़ देने चाहिएँ और इस बातका उद्योग करना चाहिए जिसमें सब युरोपियन लोग पूर्वी एशियामें और आगे न बढ़ सकें। इसी लिए जापानमें प्रजा पर बहुत अधिक कर लगाये जाते थे; और उन करोंसे जो आय होती थी, वह या तो युद्ध-सम्बन्धी ऋण चुकाने और या सैनिक बल बढ़ानेमें खर्च की जाती थी। यदि युरोपवाले उस समय अमेरिका-की बात मान लेते, तो जापान भी उनके साथ मिल जाता; और फिर चीन या कोरियामें किसी विदेशी शक्तिको कोई विशिष्ट अधिकार न रह जाता। पर युरोपियन शक्तियोंने अमेरिकाकी बात मानी ही नहीं। ऐसी दशामें यदि जापानने बीसवीं शताब्दीके आरम्भसे अब तक पूर्वी एशियामें युरोपवालोंकी राजनीतिक चालें चलकर और दाँव-पेंच दिखाकर अपना काम निकाला, तो क्या बुरा किया? और फिर अपनी उस नीतिके लिए जापान दोषी है या उसे ऐसी चालें चलनेके लिए विवश करनेवाली युरोपियन महाशक्तियाँ अपराधी हैं?

रूसको युद्धमें परास्त करके जापान भी एक महाशक्ति बन गया। उसने केवल अपने उद्योगसे ही रूस पर विजय प्राप्त की थी। रूस-जापान युद्ध छिड़नेसे पहले चीनके साथ जापान जो सम-झौता और व्यवहार करना चाहता था, उससे अमेरिका पूर्ण रूपसे सहमत था और जापानके साथ उसकी पूरी सहानुभूति थी। लेकिन फिर भी अमेरिकाने न तो जापान पर ही और न रूस पर ही अपनी ओरसे कोई दबाव डाला। यद्यपि ग्रेट ब्रिटेन और

जापानमें पहलेसे मित्रता थी और समझौता हो चुका था, तथापि ग्रेट ब्रिटेनने उस युद्धमें जापानकी नैतिक या आर्थिक सहायताके अतिरिक्त और किसी प्रकारकी सहायता नहीं की थी। जापानको रूस पर विजय प्राप्त करनेके लिए बहुत कुछ त्याग और बलिदान करना पड़ा था ; लेकिन फिर भी उसे पूर्ण विजय नहीं प्राप्त हुई थी। मंचूरियामें रूसका अधिकार बना ही रह गया और चीन तथा जापानका पारस्परिक वैमनस्य भी कम न हो सका। जापान-ने रूसके साथ केवल इसी लिए युद्ध किया था कि चीन पर रूस-का कोई विशेष प्रभाव न रहे। पर चीनियों अथवा एशियाके दूसरे पराधीन देशोंके निवासियोंने इस सम्बन्धमें जापानका कुछ भी उपकार न माना और न उनके राजनीतिक जीवन पर जापानकी उस विजयका कोई विशेष प्रभाव ही पड़ा। जापानके उस बलिदान-का चीन पर अवश्य थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ा था। रूस-जापान युद्धके बाद चीनमें इस बातका कुछ आन्दोलन अवश्य आरम्भ हुआ था कि चीनके जो अधिकार दूसरी शक्तियोंके पास रेहन हैं, वे वापस ले लिये जायँ। एक युरोपियन महाशक्ति पर जापानको विजय प्राप्त करते देखकर ही नवयुवक चीनियोंमें स्फूर्ति हुई थी और उन्होंने सुधारके लिए वह आन्दोलन आरम्भ किया था जिसके कारण चीनमें मंचू राजवंशका अन्त हो गया और प्रजातंत्रकी स्थापना हुई।

एक ओर तो जापान यह उद्योग कर रहा था कि चीन और कोरियामें युरोपियनोंका प्रभुत्व और अधिक न होने पावे; और दूसरी ओर वह इस उद्योगमें लगा था कि अब तक कई सन्धियाँ करके हमने जो अधिकार छोड़ रखे हैं, वे वापस ले लिये जायँ। इस सम्बन्धमें सबसे पहले यह उद्योग हुआ था कि १८७१ में राज-कुमार इवाकुरा पुरानी सन्धियोंमें परिवर्त्तन करानेके लिए युरोप

और अमेरिका गये थे। जापान चाहता था कि न्याय-विभागमें हमें अपने देशमें सब प्रकारकी स्वतंत्रता रहे और हम अपने यहाँके आयात और निर्यात कर आदि अपने इच्छानुसार लगा सकें। पर उस समय उसे इस उद्योगमें कोई सफलता नहीं हुई। अन्तमें चीन-जापान युद्धके समय उसकी यह उचित आकांक्षा पूरी होने लगी थी। १८९४ में ग्रेट ब्रिटेनने यह मंजूर कर लिया कि अब जापानमें हमारा कोई विशिष्ट अधिकार न रहेगा। इसके उपरान्त १८९५ से १८९७ तक धीरे धीरे अमेरिका, इटली, रूस, जर्मनी, फ्रान्स और आस्ट्रिया-हंगरीने भी जापानमें अपने अपने विशिष्ट अधिकार त्याग दिये। इससे यह सिद्ध हो गया कि जापान भी अपने यहाँके न्याय और कर-विभागोंमें युरोपियन और अमेरिकन ढंग पर काम करना चाहता था। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ा एक और लाभ यह हुआ कि युरोपियन और अमेरिकन राष्ट्र भी यह बात मानने लग गये कि जापान भी कोई गराय-मान्य शक्ति है। जिस दिन ग्रेट ब्रिटेनने यह मान लिया कि जापानके साथ समानताका व्यवहार होना चाहिए, उसके दस बरसके अन्दर ग्रेट ब्रिटेन और जापानके साथ प्रसिद्ध सन्धि हो गई। पहला समझौता १९०२ में हुआ था जिसके अनुसार दोनों शक्तियोंने पूर्वी एशियामें शान्ति स्थापित करने और उसे बनाये रखनेकी जिम्मेदारी ली थी। इसके उपरान्त १९०५ में दोनों शक्तियोंमें मित्रतापूर्ण सन्धि हो गई। उस सन्धिसे दोनोंको लाभ हुआ। १९११ में उस सन्धिमें फिर कुछ सुधार और परिवर्तन हुए और १९२१ में फिर उसकी आवृत्ति की गई। अँगरेजों और फ्रान्सीसियों तथा अँगरेजों और रूसियोंमें जो सन्धियाँ हुई थीं, उनका पूर्वी एशिया पर तुरन्त ही प्रभाव पड़ा। जापानने १९०७ में फ्रान्सके साथ और १९०७ तथा १९१० में रूसके साथ समझौता कर लिया। अब अफ्रिकाकी तरह एशियामें भी जर्मनी

अकेला पड़ गया। इसके उपरान्त गत युरोपीय महायुद्धमें सम्मि-लित होनेके कारण तथा १९१६ में रूसके साथ नई मित्रतापूर्ण सन्धि करनेके कारण जापानका महत्व और भी बढ़ गया और उसकी गणना महाशक्तियोंमें होने लगी। अब लोग उसे संसारकी महाशक्तियोंकी टक्करकी महाशक्ति मानते हैं।

जब इस प्रकार लड़-भिड़कर और कूटनीतिका सहारा लेकर जापान महाशक्तियोंमें सम्मिलित हो गया, तब वह अपना साम्रा-ज्य बढ़ानेकी चिन्तामें लगा। कुछ लोगोंका कहना है कि जापानकी यह उन्नति उसके धार्मिक विश्वासोंके कारण हुई है। जापानवाले यह समझते हैं कि ईश्वरने हमारी सृष्टि इसलिए की है कि हम एशियाकी समस्त जातियोंको शिक्षा देने, उनमें एकता उत्पन्न करने, उनकी रक्षा करने और उनको स्वतंत्र बनानेका काम अपने हाथमें लें। अर्थात् उनका धर्म ही उनको इस बातकी प्रेरणा करता है कि वे अपना साम्राज्य बढ़ावें और दूसरे देशोंको स्वतंत्र और शिक्षित बनानेके लिए अपनी अधीनतामें लावें। यहाँ यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि उनका यह विश्वास जर्मन साम्राज्यवादियोंके विश्वाससे बहुत कुछ मिलता जुलता है।

जापानियोंके इस धार्मिक विश्वासको जाने दीजिये और उसकी वर्तमान परिस्थिति पर विचार कीजिये तो पता चलेगा कि उसकी इस साम्राज्य-लिप्साका कारण कुछ और ही है। इस समय संसारमें जापान, जर्मनी और इटली ये तीनों राष्ट्र ऐसे हैं जो अपना अपना साम्राज्य बढ़ाना चाहते हैं। इसका कारण यह है कि ये तीनों राष्ट्र आर्थिक और राजनीतिक दृष्टिसे उस समय बलवान् हुए थे और महाशक्तियोंके वर्गमें आये थे, जिस समय संसारकी और सब महाशक्तियाँ अपने अपने साम्राज्यका यथेष्ट प्रसार कर चुकी थीं और जब कि इन तीनों महाशक्तियोंके लिए संसारके बहुत ही थोड़े

देश या स्थान बच रहे थे। जर्मनी और इटलीकी तरह जापानकी जन-संख्या भी दिन दूनी और रात चौगुनी होती जा रही है। जर्मनी और इटलीकी तरह जापानको भी अपनी दिन पर दिन बढ़ती हुई प्रजाके निर्वाहके लिए कच्चे मालकी आवश्यकता है और तैयार मालकी खपतके लिए खरीददारोंकी जरूरत है। जापानको नये नये देशोंकी भी आवश्यकता है, जिनमें उसकी बढ़ती हुई प्रजा जाकर बसे। ऐसी दशामें जापानको बढ़ते हुए देखकर लोगोंको उसके साथ द्वेष या वैर नहीं करना चाहिए, बल्कि उसके साथ सहानुभूति प्रकट करनी चाहिए। जर्मनी जिन कारणोंसे अपना साम्राज्य बढ़ाना चाहता थ, वे कारण गत युरोपीय महायुद्धके कारण नष्ट नहीं हुए, बल्कि उलटे और बढ़ गये हैं। इस दृष्टिसे महाशक्तियोंको एक नई शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए और उनको जापानके साथ अधिक उदारतापूर्ण व्यवहार करना चाहिए। जब तक महाशक्तियाँ रोटीके टुकड़ेके लिए कुत्तोंकी तरह आपसमें लड़ना-भिड़ना न छोड़ेंगी और जब तक वे यह न समझेंगी कि संसारमें मिल जुलकर और भ्रातृभावसे रहनेकी ही नीति सर्वश्रेष्ठ है, तब तक संसारमें कभी स्थायी शान्ति स्थापित नहीं हो सकती।

इधर कुछ दिनोंसे लोगोंको यह शंका हो रही है कि शीघ्र ही अमेरिका और जापानमें युद्ध होगा। पर यदि सच पूछा जाय तो जापान एशियाका नेता है और वह यह चाहता है कि एशियामें गोरोंका प्रभुत्व नष्ट हो जाय। स्वयं एशियावाले भी यही चाहते हैं कि हम पर गोरोंका शासन न हो और गोरी जातियाँ हमारे देशमें आकर हमारे साथ समानता और मित्रताका व्यवहार करें। जब तक अमेरिका और युरोपवाले इस बातके प्रयत्नमें रहेंगे कि अपने देशों, और साथ ही अफ्रिकामें भी एशियावालों-

को घुसने न दें और जब तक वे लोग एशियामें अपना प्रभुत्व बनाये रखनेका उद्योग करते रहेंगे, तब तक एशियावाले कभी शान्त न होंगे। अपने घरोंको पूर्ण रूपसे सुरक्षित रखने और साथ ही दूसरोंके घरों पर भी अधिकार बनाये रखनेकी नीति कभी सुखकर नहीं हो सकती। यदि आज गोरी जातियाँ एशिया परसे अपना अधिकार हटा लें, तो फिर उनको जापान आदिके आक्रमणकी कभी कोई आशंका नहीं रह सकती। उस समय उनको जापानसे डरनेका कोई कारण ही न रह जायगा। यह तो गोरी जातियोंकी अपहरणवाली नीति ही है जो जापानको भी इनका अनुकरण करनेके लिए विवश कर रही है।

जापानमें प्रजातंत्रवादके विकासके भी अनेक लक्षण दिखाई दे रहे हैं। कुछ लोगोंको आशा हो रही है कि वहाँसे भी एकतंत्री शासन-प्रणाली उठ जायगी और उसके स्थानमें प्रजातंत्र स्थापित हो जायगा। ऐसे अवसर पर यदि गोरी जातियाँ अपनी पुरानी हानिकारक नीति बदल दें, तो बहुत सम्भव है कि अनेक झगड़े मिट जायँ और संसारमें शान्ति स्थापित हो जाय। १९१६ के अन्तसे जापानमें प्रजातंत्रका आन्दोलन जोर पकड़ने लगा है। इस आन्दोलनका बहुत कुछ प्रभाव जापानकी पर-राष्ट्रनीति पर पड़ता और पड़ सकता है। पर युरोप और अमेरिका उस समय युद्धमें लिप्त थे, इसलिए वे लोग जापानके इस नये आन्दोलन पर विशेष ध्यान नहीं दे सके थे। जब शाण्टुंगसे जर्मन लोग निकाल दिये गये और पीछेसे रूसका भी अन्त हो गया, तब जापानियों-को अच्छी तरह साँस लेनेका अवसर मिला और उनकी चिन्ता कम हुई। युरोपवालोंको आपसमें कटते-मरते देखकर जापानवाले बहुत ही प्रसन्न हो रहे थे। वे समझते थे कि युरोपके धन और जनका बहुत मजेमें नाश हो रहा है। जिस समय युरोपवाले व्या-

पारकी ओर बिलकुल ध्यान ही नहीं दे सकते थे और उनके जहाज आदि युद्धके कामोंमें लगकर नष्ट हो रहे थे, उस समय जापानियोंको अपना व्यापार आदि बढ़ानेका बहुत अच्छा अवसर मिला। साथ ही उन्होंने यह भी समझ लिया कि अब हमें पूर्वी एशियामें युरोपियनोंका कोई डर नहीं रहना चाहिए। इस प्रकार वे रक्षित भी हो गये और धनवान् भी; और तब वे अपने यहाँके राजनीतिक सुधारोंमें लग गये। मतदाताओंकी संख्या बढ़ाई गई और लोगोंको भाषण तथा लेखन-स्वातंत्र्य अधिकतर मानमें दिया जाने लगा। सब दलोंके लोग मिलकर काम करने लगे और अपनी उन्नतिके नये नये उपाय सोचने लगे। अब यदि जापानको सार्वराष्ट्रीय झगड़ोंमें न पड़ना पड़े, तो शीघ्र ही वहाँ ग्रेट ब्रिटेनके ढंगका शासन स्थापित हो जायगा। सब काम प्रजाके प्रतिनिधि करेंगे और राजाका अधिकार नाम मात्रको रह जायगा।

इस समय जापानके लिए उन्नति करनेका बहुत अच्छा अवसर है। यदि युरोपियन साम्राज्य-लिप्सा जापानको तंग न करेगी, तो फिर उसके मार्गमें और कोई कठिनता न रह जायगी। जर्मनीकी साम्राज्य-लिप्साका परिणाम देखकर जापानवाले उससे शिक्षा ग्रहण करना चाहते हैं। अनेक जापानियोंका यह विचार है कि अब सब लोगोंको सनहशीलता और भ्रातृभावसे काम लेना चाहिए। वे कोरिया और चीनके साथ भी मित्रता स्थापित करना चाहते हैं। यदि सब महाशक्तियाँ आपसकी लड़ाई-भिड़ाई छोड़कर शान्तिपूर्वक रहना चाहें और दूसरोंके अधिकारों पर आक्रमण करना छोड़ दें, तो जापानवाले भी हर तरहसे उनका साथ देनेके लिए तैयार हैं। एशियाके दूसरे देश भी यह बात बड़ी प्रसन्नतासे मान लेंगे; क्योंकि उनकी इच्छा केवल यही है कि हम इन गोरोंके बोझसे बच जायँ। एशियाके किसी देशकी यह इच्छा नहीं

है कि हम दूसरोंके अधिकार छीनें या उनको अपने अ
वे स्वयं स्वतंत्र होना चाहते हैं, और कुछ भी नहीं चा
बात तभी हो सकती है जब युरोपवाले अपनी वर्त्तम
नीतिका त्याग करें। यदि गत महायुद्धकी ठोकर ख
जायँ, तो उनका भी कल्याण है और सारे संसा
नहीं तो फिर विधाताको कोई ऐसा आयोजन करना
में उनको कोई और भारी ठोकर लगे। पर वे इतना सम
कि इस ठोकरसे तो वे किसी तरह सँभल भी सकते हैं, पर
चलकर उनको जो ठोकर लगेगी, उससे सँभलना क्या, बचना भी
कठिन हो जायगा। क्या हम आशा करें कि युरोपवाले अभीसे
सँभल जायँगे; या वे विधाताका विधान ही पूरा कराके छोड़ेंगे?
अब तक उनके सँभलनेका अवसर तो है; पर दुर्भाग्यवश उनके
सँभलनेके कोई लक्षण दिखाई नहीं देते। आगे ईश्वर जाने। तो
भी इस समय प्रत्येक बुद्धिमान्‌को अपने कर्तव्यका पालन करना
चाहिए और इन मदान्ध गोरोंको ठीक मार्ग पर लानेका प्रयत्न
करना चाहिए, जिसमें सबका कल्याण हो।

(२२)

[ए]शियासे जरमनीका प्रस्थान

[ज]रमन सचिव प्रिन्स बिसमार्कने जरमनीकी सब आर्थिक और राजनीतिक कठिनाइयाँ दूर कर दीं और उसका साम्राज्य स्थापित कर दिया, तब जर[मनी]को अपना विस्तार करने और उपनिवेश आदि प्राप्त करनेकी चिन्ता हुई। उत्तरी और दक्षिणी अमेरिकामें उसकी दाल नहीं गल सकती थी, क्योंकि वहाँ मनरोवाले सिद्धान्तका राज्य था। तुर्की साम्राज्यका भी कोई अंश उसको नहीं मिल सकता था; क्योंकि बर्लिनकी कांग्रेसके अनुसार उसके सम्बन्धमें सब बातें निश्चित हो चुकी थीं और उसका कोई देश लिया नहीं जा सकता था। आस्ट्रेलिया, न्यू जीलैण्ड तथा संसारके दूसरे अधिकांश टापू अँगरेजोंके हाथमें थे। संसारमें एक एशिया ही ऐसा महादेश था, जिस पर युरोपियन लोग मनमाना अधिकार कर सकते थे। पर उसके भी सभी प्रदेश ग्रेट ब्रिटेन, फ्रान्स और रूसके हाथमें जा चुके थे। ट्यूनिस पर फ्रान्सने अभी हालमें ही अधिकार किया था और मिस्रमें अंगरेज अपना अड्डा जमा रहे थे। ये दोनों शक्तियाँ अफ्रिकामें भी अपना अधिकार बढ़ानेकी चिन्ता कर रही थीं। यद्यपि अफ्रिकाके अन्तिम बँटवारेमें जरमनीको भी कुछ हिस्सा मिला था, पर उसके जितने अच्छे देश थे, उन सब पर पहलेसे ही दूसरोंका अधिकार हो चुका था। प्रशान्त महासागरके टापुओंकी भी यही दशा थी। १८८३ और १८८४ में जरमनीने टोगोलैण्ड, कैमरून और दक्षिण-पश्चिम तथा पूर्व अफ्रिकामें अपना झण्डा गाड़ा। प्रशान्त महासागरमें उसे न्यू गायना और

उसके पासका द्वीपपुंज मिल गया। १८८६ में सोलोमन और मार्शल टापुओंमेंके कुछ टापू भी उसके हाथ आ गये। जब अमेरिकाने स्पेनसे लड़कर उसे प्रशान्त महासागरसे निकाल दिया, तब १८९९ में जरमनीको कैरोलिन, पेल्यू और मेरियाना आदि टापू खरीदनेका अवसर मिला। १४ नवम्बर १८९९ को ग्रेट ब्रिटेन और जरमनीमें एक समझौता हुआ था, जिसे बादमें अमेरिकाने भी मान लिया था। उस समझौतेके अनुसार जरमनीने सोलोमन द्वीपपुंजके कुछ टापू ग्रेट ब्रिटेनको दे दिये और बदलेमें समोअन टापुओंके सबसे बड़े दो टापुओं, सवाई और उपोलू, पर पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया। जरमनीके अधिकृत इन सब प्रदेशोंका क्षेत्र फल एक लाख वर्ग मील था, जिसका तीन चतुर्थांश केवल न्यू गायनामें था। न्यू गायनाके अतिरिक्त जरमनीके अधिकारमें और जो प्रदेश थे, उनकी आबादी कठिनतासे पचास हज़ार नहीं होगी।

प्रशान्त महासागरके टापुओंसे जरमनीको आय कम होती थी और उनके लिए उसे व्यय अधिक करना पड़ता था। वहाँ न तो जरमन लोग बस सकते थे और न कोई बड़ा व्यापार कर सकते थे। हाँ, पादरी लोग वहाँ कुछ धर्मप्रचार अवश्य कर सकते थे। यदि उन टापुओंका कोई विशेष उपयोग हो सकता था, तो वह केवल जहाजी बेड़ोंके लिए। उनके कारण जरमनीका ऐसे स्थानों पर अधिकार हो गया था, जो अमेरिका और आस्ट्रेलिया तथा एशिया और आस्ट्रेलियाके मार्गमें पड़ते थे। वहाँसे जहाजों पर कोयला लद सकता था और समुद्री तथा बिना तारके तार लगाये जा सकते थे। बस अड्डा अड्डा और खैर सल्ला। लेकिन फिर भी जरमनीके लिए वही सब कुछ था; क्योंकि उसके पास उन स्थानोंके अतिरिक्त और कुछ था ही नहीं। लोग अपने

एक ही एक कुरूप लड़केको देखकर भी तो सन्तुष्ट होते हैं। दूसरोंके कई कई और सुन्दर लड़के उनके किसी काम तो आते ही नहीं।

पहलेसे जरमनीका समुद्र पर तो कोई अधिकार था ही नहीं, इसलिए जब युरोपीय महायुद्ध आरम्भ हुआ, तब वह अपने इन द्वीपोंकी रक्षा न कर सका। युद्ध छिड़ते ही सितम्बर १९१४ में आस्ट्रेलियावालोंने न्यू गायना पर अधिकार कर लिया। न्यू जीलैण्डने समोआ पर अधिकार करनेके लिए कुछ सेना भेज दी। दूसरे द्वीपपुंजों पर जापानी जा पहुँचे। १९१४ के अन्तमें ग्रेट ब्रिटेन और जापानने आपसमें मिलकर निश्चय कर लिया कि हम लोग यह लूटका माल इस तरह बाँट लें। समोआ पर न्यू जीलैण्डका अधिकार हो गया; भूमध्य रेखाके दक्षिणमें जितने जरमन टापू थे, वे सब आस्ट्रेलियाको मिल गये; और उसके उत्तरके टापू जापानके हाथमें चले गये। वार्सेलसकी सन्धिके अनुसार यह निश्चय हुआ कि प्रशान्त महासागरमें जरमनीके जितने टापू थे, उन सब परसे उसका अधिकार उठ जाय और ग्रेट ब्रिटेन तथा जापान अपने समझौतेके अनुसार उन्हें आपसमें बाँट लें।

एशियामें जर्मनीके अधिकारमें चीनका एक शाण्टुंग प्रायद्वीप ही ऐसा था जिसका आर्थिक दृष्टिसे कुछ महत्व हो सकता था। जर्मनीने क्याऊ चाऊ पर किस प्रकार अधिकार प्राप्त किया, किस प्रकार उसकी उन्नति की और अन्तमें वह किस प्रकार उसके हाथसे निकल गया, हम इसका वर्णन कुछ विस्तारसे करना चाहते हैं; क्योंकि शाण्टुंगके सम्बन्धमें सन्धिके समय सब राष्ट्रोंमें बहुत चख चख हुई थी।

जब १८९५ में रूस, फ्रान्स और जर्मनीने बीचमें पड़कर शिमोनोसेकीकी सन्धिवाली शर्तोंको पूरे होनेसे रोका था, तब इन

तीनोंने आपसमें मिलकर यह निश्चय किया था कि हम लोग चीनको जापानके हाथमें पड़नेसे जो बचाते हैं, उसके बदलमें वह हम लोगोंको कुछ दे। रूसने तो छूटते ही सीधे उन स्थानों पर जा अधिकार जमाया जिन स्थानोंसे जापान निकाला गया था। चीनके एक प्रान्तका सारा समुद्र तट और एक दूसरे प्रान्तके समुद्र तटका कुछ अंश पहलेसे ही फ्रान्सके हाथमें था। अब उसने उसके यूनन और क्वांग्सी प्रान्तमें भी अनेक नये अधिकार प्राप्त कर लिये और क्वांग चाऊ नामक बढ़िया बन्दरके पट्टेकी भी गुप्त रूसने बात-चीत कर ली। अब जर्मनीका एशियाई बेड़ा इस तलाशमें निकला कि चीनके समुद्र तट पर कौन सा ऐसा बढ़िया बन्दर है, जहाँ जहाजी बेड़ा अच्छी तरह रह सके। इस कामके लिए जर्मन सरकारकी ओरसे जो कमीशन नियुक्त हुआ था, उसने जाँच पड़ताल करके सिफारिश की कि शाण्टुंग प्रायद्वीपकी क्याऊ चाऊवाली खाड़ी इस कामके लिए बहुत अधिक उपयुक्त है।

इसी बीचमें एक ऐसी दुर्घटना हो गई जिससे जर्मनीको अपना काम निकालनेका बहुत बढ़िया बहाना हाथ आ गया। नवम्बर १८९७ में शाण्टुंग प्रान्तमें दो जर्मन पादरियोंकी हत्या हो हो गई। बस फिर क्या था, जर्मनीके लड़ाईके चार जहाज झट क्याऊ चाऊकी खाड़ीमें जा पहुँचे और वहाँ उन्होंने जर्मन झण्डा गाड़ दिया। कई महीनों तक बात चीत होनेके उपरान्त ६ मार्च १८९८ को एक सन्धि हुई, जिसके अनुसार क्याऊ चाऊकी खाड़ीके आस पासका बहुत सा प्रान्त जर्मनीको ९९ वर्षके ठीके पर मिल गया। उस सन्धिके आरम्भमें लिखा था कि चीनके सम्राट् जर्मनी-के साथ मित्रता स्थापित करना चाहते हैं और अपने साम्राज्य को सैनिक कार्योंके लिए सबल बनाना चाहते हैं, इसी लिए यह सन्धि की जा रही है। जर्मनीके नाम जो पट्टा लिखा गया था,

उसमें लिखा था कि अन्यान्य शक्तियोंकी तरह जर्मनीके पास भी चीनी समुद्र तट पर एक ऐसा स्थान होना चाहिए जहाँ वह अपने जहाजोंकी मरम्मत आदि कर सके, उनके लिए आवश्यक सामग्री रख सके और सब प्रकारकी व्यवस्थाएँ कर सके। दूसरी बात यह थी कि जर्मनीको शाण्टुंग प्रान्तमें दो रेल्वे लाइनें बनाने और कुछ खानें खोदनेका अधिकार मिला था। तीसरी बात यह थी कि चीनने इस बातका वादा किया था कि यदि शाण्टुंग प्रान्तमें कोई ऐसी बात खड़ी होगी, जिसके लिए विदेशियोंसे धन या जन आदि लेनेकी आवश्यकता होगी, तो उस समय सबसे पहले जर्मन व्यापारियोंसे यह पूछा जायगा कि क्या आप लोग यह काम कर सकते हैं और इसके लिए धन अथवा जन आदिका प्रबन्ध कर सकते हैं? इसके उपरान्त २१ मार्च १९०० को एक दूसरा शर्तनामा लिखा गया था जिसमें क्याऊ चाऊवाली रेल बनानेकी शर्तें थीं।

कुछ अमेरिकन और युरोपियन लेखक प्रायः यह कहा करते हैं कि जर्मनीने चीनसे क्याऊ चाऊका ठीका लेकर और आर्थिक अधिकार प्राप्त करके बिलकुल नई बात की थी और चीनने उसका बहुत विरोध किया था। पर वास्तवमें यह बात बिलकुल झूठ है। जरमनीने शाण्टुंगमें जिस प्रकारके अधिकार प्राप्त किये थे, उस प्रकारके अधिकार पहले भी कई विदेशी शक्तियाँ चीनसे जबरदस्ती प्राप्त कर चुकी थीं। स्वयं चीनके अनेक अधिकारी यह बात मानते हैं कि जर्मनीने हमारे साथ कोई विशेष अनुचित व्यवहार नहीं किया। वैसा व्यवहार पहले भी हमारे साथ अनेक युरोपियन शक्तियाँ कर चुकी हैं। चीनने अपने प्रतिनिधियोंकी मार्फत शान्ति महासभामें जो कागज-पत्र भेजे थे, उनसे भी यही पता चलता है कि शाण्टुंगमें जर्मनीके प्रति चीनको जितनी शिकायत थी, उतनी ही शिकायत मंचूरियामें रूसियोंके प्रति और लियाओटंगमें जापा-

नियोंके प्रति थी। चीनके प्रतिनिधियोंने यह भी कहा था कि युरोपियनोंके कारण हमारी उतनी अधिक हानि नहीं होती, जितनी जापानियोंके कारण होती है; क्योंकि युरोपियनोंकी अपेक्षा जापानियोंकी रहन-सहन कम व्यय-साध्य होती है और इसलिए वे प्रतिद्वन्द्विता करके चीनियोंको अधिक हानि पहुँचाते हैं। पर चीनियोंको दूसरे युरोपियनोंसे इस बातका डर नहीं रहता।

जर्मनोंने चीनसे ठीकेमें जो प्रदेश लिया था, उसमें वे वहाँके निवासियों पर कोई विशेष अत्याचार नहीं करते थे। उन्होंने उस प्रदेशकी आर्थिक उन्नति की थी और प्रजाकी स्वास्थ्य-रक्षाके अनेक उपाय किये थे। उनके शासनकी सबसे अच्छी बात यह थी कि वे गाँवके बड़े-बूढ़ोंके द्वारा ही कर आदि उगाहते थे। रूस और जापानने तो रेलोंके सम्बन्धमें जो अधिकार प्राप्त किये थे, उनके द्वारा वे लोग वहाँ अपना सैनिक शासन और अधिकार दृढ़ करते थे; पर जर्मन लोग ऐसा नहीं करते थे। जब क्याऊ चाऊमें रेल बन गई, तब जर्मनीने वहाँसे अपनी सेना हटा ली थी। अपने प्रदेशमें वे एक हजारसे भी कम सैनिक रखते थे।१९११ में जो नया शर्तनामा हुआ था, उसके अनुसार जर्मनीने खानोंके सम्बन्धमें अपने वे अधिकार भी त्याग दिये थे, जो उसे १८९८ वाले शर्तनामेके अनुसार प्राप्त हुए थे। क्याऊ चाऊ खाड़ीके सिंगताऊ बन्दर पर उन्होंने अपनी पूरी किलेबन्दी अवश्य की थी। वहाँ वे अपना जहाजी बेड़ा तो रखते ही थे, पर साथ ही वे उसे व्यापारिक दृष्टिसे भी बहुत अधिक उपयोगी बनाते जाते थे। १८९९ में सिंगताऊ एक छोटा सा गाँव था, जिसमें थोड़े से मछुए रहते थे। पर १९१४ में वह एक बहुत बड़ा बन्दर बन गया था, जो करोड़ों रूपये लगाकर बहुत उपयोगी बनाया गया था।

प्रशान्त महासागरमें जर्मनीके जो टापू थे, व्यापारिक दृष्टिसे

उनका कोई विशेष महत्व नहीं था। अफ्रिकाके उपनिवेशोंमें भी जरमनीने जितना अधिक परिश्रम और व्यय किया था, उसे देखते हुए वहाँ भी उसे कोई विशेष आर्थिक लाभ नहीं हुआ था। पर क्याऊ चाऊके उपनिवेशके सम्बन्धमें यह बात नहीं थी। वहाँ जरमनीको यह दिखलानेका अवसर मिला था कि यदि परिस्थिति अनुकूल हो, तो हम भी किसी देशकी कहाँ तक उन्नति कर सकते हैं। वहाँ जरमन कर्मचारियों, इंजीनियरों और व्यापारियों आदिने बहुत ही अच्छा काम कर दिखलाया था। १८९८ में ही दो कम्पनियाँ खड़ी की गई थीं, जिनका काम शाण्टुंगमें प्राप्त किये हुए अधिकारोंका सदुपयोग करना था। एक कम्पनीने रेल बनाई थी और दूसरीने कोयले और लोहेकी खानें चलाई थीं। इसके बाद १९१३ में खानोंवाली कम्पनी रेलवाली कम्पनीमें मिला दी गई। क्याऊ चाऊको हाथसे खोनेसे छः महीने पहले जरमनीने वहाँ दो और रेलें बनानेका अधिकार प्राप्त किया था; और जून १९१४ में यह निश्चय हुआ था कि यदि जरमनी चाहे तो शाण्टुंगमें बननेवाली एक और रेलके लिए ऋण भी दे सकता है। पर इसी बीचमें जरमनीके हाथसे क्याऊ चाऊ छिन गया और ये दोनों बातें न हो सकीं।

अगस्त १९१४ के आरम्भमें ही ब्रिटिश सरकारने जापानसे कहा था कि हमारा तुम्हारा जो इकरारनामा है, उसके अनुसार तुम भी आकर इस लड़ाईमें हमारी ओर सम्मिलित हो जाओ। जापानको यह भी सुझाया गया था कि जरमन जहाजोंके कारण व्यापारको बहुत धक्का पहुँचनेकी सम्भावना है, इसलिए यहाँ ब्रिटिश साम्राज्य और जापानके हितकी दृष्टिसे पूर्वी एशियामें शान्ति स्थापित रखनेका प्रश्न उत्पन्न होता है। अतः तुमको हमारा साथ देना चाहिए। पर वास्तवमें बात यह थी कि अँगरेज

लोग चाहते थे कि चीनमें जरमनोंका कुछ भी प्रभुत्व न रह जाय। अपने इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिए उन्होंने जापानको यह लालच दिलाया था कि जरमनीके नाम क्याऊ चाऊका जो ठीका है और शाण्टुंगमें उसे जो अधिकार प्राप्त हैं, वे सब तुम ले लो। इस पर जापानकी पार्लमेण्टमें कहा गया था कि हम लोग युरोपीय युद्धमें सम्मिलित नहीं होना चाहते। पर ग्रेट ब्रिटेनसे हमारी जो मित्रता है, वह हमारे लिए बहुत लाभदायक है; और पूर्वी एशियामें शान्ति बनाये रखनेके लिए यह आवश्यक है कि वह मित्रता और भी दृढ़ की जाय। हम झगड़ा करना नहीं चाहते और शान्त उपायोंसे ही काम निकालना चाहते हैं। इसलिए हम जरमन सरकारको एक सलाह देते हैं। पर पाठकोंको यह सुनकर विस्मित न होना चाहिए कि वह सलाह एक चुनौतीके रूपमें थी। १५ अगस्त १९१४ को जर्मनीको यह सलाह दी गई थी कि चीन और जापानके आस पासके समुद्रोंमें तुम्हारे जितने लड़ाईके जहाज हैं, उन सबको तुम हटा लो और १५ सितम्बर तक क्याऊ चाऊका सारा अधिकार जापानी अधिकारियोंके सपुर्द कर दो, जिसमें वह प्रदेश चीनको फिर लौटा दिया जाय। यह भी कहा गया था कि २३ अगस्तकी दोपहर तक तुम हमारी यह सलाह बिना किसी रद-बदलके ज्योंकी त्यों मान लो। पर जर्मनीने जापानकी वह सलाह नहीं मानी। भला वह यह सलाह क्या मानता और इसका क्या उत्तर देता ? इस सलाहके गर्भमें तो चुनौती थी। लेकिन अगर सच पूछिये तो इसमें जापानका भी कोई दोष नहीं था। इस प्रकार सलाहके रूपमें चुनौती देना भी तो उसने इन्हीं युरोपियनोंसे ही सीखा था। जिस समय जापानने चीनका लियाओटंग प्रायद्वीप ले लिया, उस समय वह प्रदेश चीनको लौटाने तथा शिमोनोसेकीकी सन्धिमें

बाधा डालनेके लिए रूस, फ्रान्स और जर्मनीने भी तो जापानको इसी प्रकार सलाहके रूपमें चुनौती दी थी। कहीं दस बरसमें जाकर जापानने रूससे उस सलाहका बदला लिया था; और अब बीस बरस बाद उसे जर्मनीसे बदला लेनेका अवसर मिला था। ऐसा अवसर भला वह कब छोड़ सकता था ?

२३ अगस्त १९१४ को जापानने जर्मनीके साथ युद्धकी घोषणा कर दी। जापानी बेड़ेने पहुँचकर क्याऊ चाऊ पर घेरा डाल दिया। उस समय सिंगताऊके किलेमें जर्मनीके केवल चार हजार सैनिक और नाविक थे। उनको न तो जल मार्गसे ही और न स्थल मार्गसे ही कोई सहायता पहुँच सकती थी। यद्यपि इस सम्बन्धमें पहले चीनसे कोई सम्मति नहीं ली गई थी, तथापि चीनने भी उस अवसरसे लाभ उठाना चाहा और मित्र राष्ट्रोंका पक्ष ग्रहण कर लिया। उसने कहा कि यदि हमसे कहा जाय तो हम स्थल मार्गसे सिंगताऊ पर आक्रमण करनेके लिए अपनी सेना भेज सकते हैं। यदि उस समय उसकी बात मान ली जाती, तो जापानको वहाँ एक भी सैनिक भेजनेकी आवश्यकता न पड़ती। पर उसकी बात नहीं मानी गई। जर्मनीके सिंगताऊ किले पर अधिकार करनेके बदले जापानने लंगकाऊमें अपने बीस हजार सैनिक उतार दिये। यह स्थान शानटुंगके उत्तरी तट पर जर्मनोंके स्थानसे डेढ़ सौ मीलकी दूरी पर था। जापानी वहाँ पहुँचकर जम गये और उन्होंने जर्मनों पर आक्रमण करनेमें कोई विशेष तत्परता नहीं दिखाई; क्योंकि वे समझते ही थे कि जर्मनोंको यहाँसे निकालनेमें अधिक विलम्ब न लगेगा। इसलिए तब तक कुछ और प्रान्त अपने अधिकारमें करनेका आयोजन क्यों न किया जाय ? सितम्बरके महीनेमें जापानियोंने जर्मनोंकी उस रेल पर अधिकार कर लिया जो क्याऊ चाऊकी खाड़ीसे चिनन तक जाती थी और उनकी खानों आदिको भी

अपने हाथमें ले लिया। बात केवल यहीं तक नहीं रही। जापानियोंने प्रायद्वीपके बड़े बड़े नगर भी ले लिये, जिनमें कभी जर्मन लोग गये तक नहीं थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने वहाँके चीनी डाकखानों और तारघरों पर भी अपना अधिकार जमा लिया और रेलवेके चीनी कर्मचारियोंको भी मार भगाया। सिंगताऊ पर अधिकार करनेका काम तो दस ही पाँच दिनोंका था, पर फिर भी अक्तूबरके अन्त तक उस पर आक्रमण नहीं किया गया। और जब आक्रमण हुआ भी, तब उसमें पन्द्रह सौ अँगरेज सैनिकोंने भी उस पर गोलेबारी करनेमें सहायता दी। इस बीचमें जापानने चीनके सबसे अधिक सम्पन्न प्रान्तमें ऐसे ढंगसे अपना अधिकार कर लिया, जिस ढंगसे अधिकार करनेका विचार कदाचित् स्वप्नमें भी जर्मनोंको न हुआ होगा।

७ नवम्बर १९१४ को सिंगताऊके किले पर जापानियोंका अधिकार हुआ। जापानियोंने वहाँके गवर्नर और दूसरे अधिकारियोंके साथ इतनी रिआयत की कि उनकी तलवारें उन्हींके पास रहने दीं और जब वे अधिकारी टोकियोमें लाये गये, तब वहाँ जापानी स्त्रियोंने उनका स्वागत किया और उपहार-स्वरूप उनको फूलोंके गुच्छे दिये।

लेकिन उस समय भी चीनके भिन्न भिन्न भागोंमें हजारों जर्मन मौजूद थे। अगस्त १९१७ में चीनने भी जर्मनीके साथ युद्धकी घोषणा कर दी। पहले तो चीनमें जर्मनोंके साथ कोई छेड़-छाड़ नहीं की गई, पर पीछेसे जब अँगरेजों और फ्रान्सीसियोंने चीन सरकार पर बहुत जोर डाला, तब चीनने उन सब जर्मनोंको नजरबन्द कर दिया, उनको दिये हुए अधिकार छीन लिये और उनकी धार्मिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाएँ बन्द कर दीं। जब युद्धमें जर्मनी पूर्ण रूपसे परास्त हो गया, तब वहाँके सब जर्मन निकालकर जर्मनी

भेज दिये गये। स्याममें भी जर्मनों और उनके कार-बारकी यही दशा हुई। साथ ही एशियाके दूसरे देशोंमेंसे भी, जिनमें तुर्की साम्राज्य भी सम्मिलित था, धीरे धीरे सभी जर्मन और उनकी सब बातें निकल गईं।

वार्सेल्सकी सन्धिके अनुसार जर्मनीको एशियामें केवल अपने अधिकृत प्रदेश ही नहीं छोड़ने पड़े थे, बल्कि सारे एशियामें व्यापार या धर्म-प्रचार आदि करनेका अधिकार भी त्यागना पड़ा था।
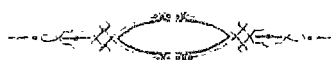
(२३)

चीन, जापान और युरोपीय युद्ध

जिस समय जापानने रूसके साथ युद्धकी घोषणा की थी, उस समय अमेरिकाने इस बात पर जोर दिया था कि युद्ध कालमें और उसके उपरान्त चीनकी तटस्थता नष्ट न की जाय और उसका कोई प्रदेश छीना न जाय। अमेरिकाके इस निःस्वार्थ हस्तक्षेपके कारण चीनने उसके प्रति बहुत कृतज्ञता प्रकट की थी। पर सदाके नियमानुसार अमेरिका उस समय भी एक सूचनापत्र भेजकर ही सन्तुष्ट हो गया था। जिस ढंगसे युद्ध छिड़ा था, उस ढंगको देखते हुए यह बात एक प्रकारसे बिलकुल असम्भव ही थी कि योद्धा लोग अमेरिकाकी बात मानें। रूस तो मंचूरियामें अपना अड्डा जमाये बैठा ही था। उसने कह दिया कि यदि जापान यहाँ आकर हम पर आक्रमण न करेगा, तो हम उससे यहाँ नहीं लड़ेंगे। पर कोरिया पर आक्रमण करनेके लिए रूसने मंचूरियामें अपना सैनिक केन्द्र

स्थापित किया था और लियाओटंग प्रायद्वीपमें अपने जहाजों-का अड्डा बनाया था। जापान इन्हीं दोनों स्थानोंसे रूसको निकालना चाहता था, इसलिए उसने महाशक्तियोंसे कह दिया कि चीनके जिन प्रान्तों पर रूसने अधिकार कर रखा है, उन प्रान्तोंमें हमें युद्ध अवश्य करना पड़ेगा। अमेरिकासे जापानने कहा था कि हम इसी लिए युद्ध कर रहे हैं जिसमें चीन पर रूसका कोई अनुचित दबाव न पड़ सके। यदि रूस सब प्रकारसे चीनकी तटस्थता बनी रहने दे और उसके साथ कोई अनुचित व्यवहार न करे, तो हम भी चीनकी तटस्थता कभी भंग न करेंगे। हम तो केवल चीनकी तटस्थताकी रक्षा करनेके लिए ही युद्ध करनेको विवश हुए हैं; क्योंकि चीन स्वयं अपनी तटस्थताकी रक्षा नहीं कर सकता।

इस घटनाके दस वर्ष बाद जब जापानने जर्मनीके साथ युद्धकी घोषणा की, तब फिर वही परिस्थिति उत्पन्न हो गई। जर्मनीने चीनसे इस बातकी शिकायत की कि जो प्रदेश हमें ठीकेमें मिला था, उसके बाहर जापानने अपनी सेना उतारकर अच्छा काम नहीं किया है; और शाण्टुंग प्रान्तमें जर्मन रेलों पर जापानी सेनाने अधिकार कर लिया है; उसे इस कामसे रोका जाय। इस पर चीनके राष्ट्र-पति युआनने जापान और ग्रेट ब्रिटेनको लिख भेजा कि हमारी तटस्थता भंग की जा रही है। पर साथ ही उन्होंने जर्मनीसे भी कह दिया कि हम जापानियों और अँगरेजोंका मुकाबला करनेमें असमर्थ हैं। मित्र राष्ट्रोंने यह कहकर जापानकी पीठ ठोंकी कि वह इस बार भी जो कुछ कर रहा है, वह चीनके हितकी दृष्टिसे ही कर रहा है। यदि क्याऊ चाऊ पर जापान आक्रमण न करता तो जर्मनी वहाँ अपने जहाजी बेड़ेका अड्डा कायम कर लेता। बेचारा चीन वास्तवमें असमर्थ था और वह दूसरोंको इस बातके लिए

विवश नहीं कर सकता था कि वे उसकी तटस्थता नष्ट न करें; इसलिए उसकी तटस्थताकी रक्षा न हो सकी और उसके प्रदेशोंमें योद्धाओंने मनमाना उपद्रव मचाया।

जिस प्रकार दस बरस पहले जापानियोंने रूसको लियाओटंग प्रायद्वीप और दक्षिण मंचूरियासे निकालकर वहाँ अपना अधिकार कर लिया था, उसी प्रकार इस बार भी उन्होंने शाण्टुंग प्रायद्वीपसे जर्मनोंको निकालकर उस पर कब्जा कर लिया। २८ दिसम्बर १९१४ को उन्होंने क्याऊ चाऊसे व्यापारिक कार्य फिर आरम्भ कर दिये। अब उस प्रायद्वीपमें जर्मन नहीं रह गये थे। लेकिन फिर भी जापानियोंने जर्मन रेलों और खानों पर अपना सैनिक अधिकार बनाये रखा। चीनने जापानको याद दिलाया कि तुमने यही कहकर क्याऊ चाऊ पर अधिकार किया था कि यह चीनको लौटा दिया जायगा। इसलिए अब तुम वह हमें लौटा दो। इस पर जापानने साफ कह दिया कि इस बारेमें हमने तुमको तो कोई वचन दिया ही नहीं था; इसलिए अभी चुपचाप बैठे रहो। जब लड़ाई खतम हो जायगी, तब इस बात पर विचार किया जायगा। जापानने जर्मनीसे यही कहा था न कि तुम क्याऊ चाऊ खाली कर दो जिसमें वह चीनको लौटा दिया जाय! पर जर्मनीने उसे खाली तो किया ही नहीं। जापानको लड़कर जर्मनोंको वहाँसे निकालना पड़ा था। तब फिर क्याऊ चाऊ चीनको कैसे लौटा दिया जाता? चीन तो क्याऊ चाऊ पानेका तभी अधिकारी हो सकता था जब कि जापानकी चुनौती पाते ही जर्मनी उसे खाली कर देता। जापानने तो यही समझकर जर्मनीको चुनौती दी थी कि वह मानेगा तो है ही नहीं, बस फिर सहजमें हो हम लड़ाईके बहानेसे क्याऊ चाऊ पर अधिकार कर लेंगे। बस आजकल इसीका नाम सभ्यता है और इसीका नाम राजनीति!

जापानने चीनके साथ व्यर्थ बकवाद करनेमें कोई लाभ नहीं देखा; इसलिए उसने उसके साथ बात चीत करना बन्द कर दिया। भला मूर्खों और असभ्योंके साथ कोई क्या सिर खपावे । यदि चीन समर्थ और समझदार होता, तो वह जर्मनोंको अपने यहाँ घुसने ही क्यों देता? या वह जर्मनों और जापानियों दोनोंको मार-पीटकर निकाल देता और जापानको यह कहनेका अवसर ही न देता कि हमने यह प्रदेश जीतकर लिया है और इसका निपटारा युद्धके बाद होगा । युरोपीय शक्तियाँ उस समय आपसमें लड़-मर रही थीं। अमेरिका जबानी जमा खर्चके सिवा और कुछ कर ही नहीं सकता था। जापानने ऐसे मौकेको गनीमत समझा और बहती गंगामें कुछ और भी हाथ धोना चाहा। ३ दिसम्बर १९१४ को पेकिंगमें रहनेवाले जापानी राजदूतने वहाँके मन्त्रीके हाथमें एक पत्र दिया जिसमें चीन सरकारके सामने उपस्थित करनेके लिए इक्कीस शर्तें लिखी हुई थीं। ये सब शर्तें पाँच वर्गोंमें विभक्त थीं। जापानी राजदूतने चीनी मन्त्रीसे साफ कह दिया कि इसमेंसे पहले चार वर्गोंकी शर्तें आपको बिना किसी प्रकारके परिवर्तनके स्वीकृत करनी पड़ेंगी; क्योंकि पूर्वी एशियामें जापानकी स्थिति दृढ़ करनेके लिए इन शर्तोंका पूरा होना परम आवश्यक है। और यदि चीन इन शर्तोंको न मानेगा, तो जापान इनको जबरदस्ती पूरा करानेमें अपनी ओरसे कोई बात उठा न रखेगा। हाँ पाँचवें वर्गकी शर्तोंमें थोड़ा बहुत परिवर्तन हो सकता है। इस बीचमें चीनके परराष्ट्र सचिव बराबर इस बातका विरोध करते रहे कि जापानने शाण्टुंगमें अपने सैनिक क्यों रख छोड़े हैं और वहाँकी रेलों पर क्यों अधिकार कर लिया है। जब तक जापानके इन कामोंका चीन विरोध करता रहा, तब तब जापानी राजदूतने अपनी इक्कीस शर्तोंको अपने पास छिपा रखा था। यद्यपि उसके

पास वे सब शर्तें पहले ही पहुँच चुकी थीं, तथापि उसने उनको छः सप्ताह तक न तो प्रकट ही किया था और न चीनी मन्त्रीके सामने पेश ही किया था। उन शर्तोंको अपने पास रखकर वह मानों चीनके विरोधका तमाशा देख रहा था। १६ जनवरी १९१५ को चीनी सरकारने जापानी राजदूतको एक पत्र भेजा जिसमें लिखा था कि सिंगताऊ पर जापानको अधिकार किये दो महीने हो गये। वहाँसे जर्मनोंका सैनिक केन्द्र नष्ट हो गया। ग्रेट ब्रिटेन और जापान वहाँसे धीरे धीरे अपनी सेनाएँ हटा रहे हैं। इन सब बातोंसे सिद्ध होता है कि अब उस क्षेत्रमें युद्ध नहीं हो रहा है। इसलिए अब वहाँसे जापानका भी सैनिक अधिकार उठ जाना चाहिए। चीन और जापानमें बराबर सब झगड़े आपसमें ही तै होते रहे हैं और कभी उनके लिए लड़ाई-झगड़ेकी नौबत नहीं आई है। अतः हम आशा करते हैं कि जापान सरकार पूर्वी एशियामें शान्ति बनाये रखेगी और आपसकी मित्रता न तोड़ेगी।

जब चीन सरकारने इस प्रकार जापानसे सिंगताऊ खाली करनेके लिए कहा, तब जापानी राजदूतने उन इक्कीस शर्तोंको, छः सप्ताह तक अपने पास छिपाये रखनेके उपरान्त, चीन सरकारके उस पत्रके उत्तरके रूपमें चीनी मन्त्रीके सामने पेश कर दिया— चीनके गुड़ माँगने पर उसे ढेला खींच मारा। पहले वर्गकी शर्तें शाण्टुंग प्रान्तसे सम्बन्ध रखती थीं। उनमें जापानने कहा था कि शाण्टुंग प्रान्तमें सन्धियों, समझौतों और इकरारनामों आदिके अनुसार जर्मनीको जो अधिकार प्राप्त हैं, उनके सम्बन्धमें हम आगे चलकर जर्मनीसे समझ लेंगे। पर तुम अभी, पहलेसे ही, यह मंजूर कर लो कि हम जर्मनीके साथ शाण्टुंगके सम्बन्धमें जो समझौता करेंगे, वह हर तरहसे तुमको मंजूर होगा। अर्थात् यदि हम जर्मनीको किसी प्रकार वे सब अधिकार त्यागनेके लिए विवश

अथवा सहमत कर लें और वे सब अधिकार स्वयं ले लें, तो तुमको उसमें कोई आपत्ति न होगी। जापानका यह भी कहना था कि तुम यह बात अभीसे मंजूर कर लो कि शाण्टुंगसे चि-ली और क्यांग्सू जानेवाली रेलों आदिको बनानेका जो अधिकार जर्मनोंको दिया गया है, जर्मनोंके बाद वह अधिकार जापानियोंको ही प्राप्त होगा, और किसीको न दिया जा सकेगा। दूसरे वर्गकी शर्तोंमें यह कहा गया था कि दक्षिणी मंचूरिया और पूर्वी मंगोलियामें जापान और जापानी प्रजाको विशिष्ट अधिकार प्राप्त होंगे। इसमें सबसे अधिक महत्वकी माँग यह थी कि पहले रूसको रेलों आदिके सम्बन्धमें जो ठीके दिये गये थे, वे अब जापानको ९९ वर्षके लिए दे दिये जायँ। तीसरे वर्गकी शर्तोंमें कहा गया था कि यांग्सी तराईमें लोहेका जो सबसे बड़ा करखाना है, उसमें आगेसे केवल जापानियोंका ही रुपया लगा करे और उसका सारा नफा जापानियोंको मिला करे। चौथे वर्गमें केवल एक ही शर्त थी जिसमें कहा गया था कि चीन इस बातकी घोषणा करे कि चीनी समुद्र तटकी कोई खाड़ी, बन्दर या टापू किसी दूसरी शक्तिको ठीके पर या और किसी प्रकार न दिया जायगा। ये सब शर्तें तो ऐसी थीं, जिनके लिए यह कहा गया था कि चीन इन सबको बिना किसी प्रकारके परिवर्तनके ज्योंकी त्यों मान ले। केवल पाँचवाँ वर्ग ही ऐसा था जिसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन हो सकता था। उस वर्गमें कहा गया था कि चीन अपने यहाँके राजनीति, अर्थ और सेना विभागमें जापानी परामर्शदाता नियुक्त करे; युद्ध आदिके लिए उसे जितनी सामग्रीकी आवश्यकता हो, उसकी कमसे कम आधी सामग्री वह केवल जापानसे ही खरीदा करे जापानको रेलों आदिके सम्बन्धमें अधिकार दे और जापानी धर्म्मप्रचारकोंके लिए अपने देशमें धर्म्मप्रचार करनेका सुभीता कर दे। साथ ही यह भी कहा गया था कि यदि

चीन किसी दूसरी शक्तिको अपने फूकिन प्रान्तमें कोई विशिष्ट अधिकार देना चाहे, तो जापानको अधिकार रहे कि वह चीनको ऐसा करनेसे रोक सके।

कदाचित् पाठकोंको यह बतलानेकी आवश्यकता न होगी कि जापानने ये सब शर्तें चीनको पूरी तरहसे अपना गुलाम बनानेके लिए ही पेश की थीं। इस पर चीनमें बड़ा हाहाकार मचा। हाहाकार मचना स्वाभाविक भी था। चीनी कहने लगे कि सारा संसार आकर देखे कि जापान हमारे साथ कैसा अन्याय कर रहा है। मित्र राष्ट्र जिन बातोंको रोकनेके लिए इतना बड़ा युद्ध कर रहे हैं, उनका साथी जापान हमारे साथ वही सब बातें कर रहा है। बेचारे चीनको क्या मालूम था कि मित्र राष्ट्र संसारसे सबलोंका अत्याचार दूर करनेके लिए नहीं लड़ रहे हैं, बल्कि स्वयं निष्कण्टक अत्याचार करनेके उद्देश्यसे एक सबल कण्टकको अपने मार्गसे हटानेके लिए युद्ध कर रहे हैं। सीधा सादा चीन क्या जाने कि इस युरोपीय सभ्यताके युगमें दुर्बल होना ही महापाप है। भला संसारको क्या गरज पड़ी थी कि एक सबलके मुँहसे उसका कौर छीनने आता और भविष्यके लिए उस सबलको अपने मार्गका कण्टक बनाता। केवल अमेरिकाने दबे शब्दोंमें जापानकी इस कार्रवाईका विरोध किया। बाकी सभी युरोपीय शक्तियाँ जापानकी माँगोंके रूपमें तो कुछ परिवर्तन अवश्य करना चाहती थीं, पर सिद्धान्ततः वे सब जापानके पक्षमें ही थीं। उन सभी शक्तियोंने गुप्त रूपसे जापानको यह विश्वास दिला दिया था कि तुम चीनको जैसे चाहो वैसे काटो, जैसे चाहो वैसे भूनो और जैसे चाहो वैसे खाओ; हम तुम्हारे काममें कोई बाधा न डालेंगे। लेकिन हाँ, इतना ध्यान अवश्य रखना कि चीनसे फ्रान्स और ग्रेट ब्रिटेनको जो लाभ हो रहा है, उसमें किसी प्रकारकी न्यूनता न आने पावे।

जापानसे यह भी कहा गया था कि रूसके हाथसे जो प्रदेश बच निकला है, उसके सम्बन्धमें भी तुम सब बातें पक्की कर लो।

जापान यह तो जानता ही था कि मित्र राष्ट्र हमारे कामोंमें बाधक न होंगे, इसलिए उसने चीनके विरोधोंका सदाके लिए अन्त कर देना ही उचित समझा और ७ मई १९१५ को उसे अन्तिम चुनौती दे दी। वह चुनौती ठीक वैसी ही थी, जैसी साल भर पहले युरोपीय युद्धके आरम्भमें आस्ट्रिया-हंगरीने सरबियाको दी थी। जापानने कह दिया कि यदि चीन पहले चारों वर्गोंकी शर्तोंको पूर्ण और साथ ही पाँचवें वर्गकी फूकिनवाली शर्तको बिना चीं-चपड़ किये न मान लेगा, तो हम उसे ठीक मार्ग पर लाने और अपनी शर्तें मनवानेके लिए अपनी पूरी शक्तिसे काम लेंगे। जापानने पाँचवें वर्गकी बाकी शर्तों पर केवल इसी लिए जोर नहीं दिया था कि उनके कारण चीनमें जापानके दूसरे मित्रोंकी हानि हो सकती थी। यदि जापान उन शर्तोंके लिए भी जोर देता, तो बहुत सम्भव था कि उसके सब मित्र उससे बिगड़ जाते और उसके उद्देश्यकी सिद्धिमें बाधक बन बैठते। और उन शर्तोंमें इतना अधिक दम भी नहीं था, जिसके लिए जापान अपने मित्रोंसे बिगाड़ कर बैठता। उस समय अमेरिका फिर जबानी विरोध करके अपने कर्तव्यसे मुक्त हो गया। सारे संसारमें एक भी ऐसी न्यायशील अथवा दयालु शक्ति न दिखाई दी जो उस समय बेचारे चीनके आड़े आती और उसका पक्ष लेकर कुछ भी विरोध करती। स्वयं चीन सब प्रकारसे असमर्थ था ही। यदि वह समर्थ ही होता तो यह नौबत ही क्यों आती? तब तो वह आप ही दूसरे दुर्बल देशों पर इस प्रकारके अत्याचार किया करता और संसारकी सारी महाशक्तियाँ उसकी पीठ ठोंका करतीं। पर अब तो चीनके लिए दो ही मार्ग थे। या तो वह जापानकी सब शर्तें मानकर अपने आपको उसके अधीन

कर दे और या उसके आक्रमणसे अपने आपको नामशेष कर डाले। २५ मईको जापानी राजदूतने पेकिंगमें चीनी परराष्ट्र सचिव-से सब मनमानी शर्तें लिखाकर उन पर उसके हस्ताक्षर करा लिये। चीनने अपना शाण्टुंग प्रान्त जापानको दे दिया; साथ ही अपने आपको भी हर तरहसे उसके हाथमें सौंप दिया। न्यायके नगाड़े बजानेवाली महाशक्तियोंने अपने अपने नगाड़े पर एक और चोट की और उन नगाड़ोंकी आवाजमें दीन चीनकी चिल्लाहट लीन हो गई। बोलो सत्यकी जय! न्यायकी जय! सत्यकी जय! और युरोपीय राजनीतिकी भी जय!

गुप्त सन्धियों और समझौतोंके कारण महाशक्तियोंमें परस्पर कैसे मनमुटाव होता है, इसका सबसे अच्छा प्रमाण जापान और रूसका १९१६ वाला समझौता है। उस समय अँगरेजों और फ्रान्सीसियोंको इस बातका बहुत अधिक डर था कि रूस कहीं जर्मनीकी बातोंमें न आ जाय। वे लोग रूसके परराष्ट्र विभागको अपनी ओर मिलाये रखना चाहते थे; इसलिए उन्होंने जापानको इस बातके लिए तैयार किया कि वह रूसके साथ एक समझौता कर ले। तदनुसार जापानने जुलाई १९१६ के आरम्भमें रूसके साथ एक सन्धि की। वह सन्धि समाचारपत्रोंमें प्रकाशित भी करा दी गई थी, जो इस प्रकार थी:—

"जापान सरकार और रूस सरकार मिलकर इस बातका प्रयत्न करना चाहती हैं कि पूर्वी एशियामें स्थायी शान्ति बनी रहे। इसलिए वे दोनों मिलकर यह निश्चय करती हैं कि—

(१) रूसके विरुद्ध यदि और शक्तियाँ मिलकर कोई काम करना चाहेंगी, तो जापान उन शक्तियोंका साथ नहीं देगा; और यदि जापानके विरुद्ध शक्तियाँ कोई गुट बनावेंगी, तो रूस उन शक्तियोंका साथ नहीं देगा।

(२) पूर्वी एशियामें इन दोनों शक्तियोंको जो प्रदेश अथवा अधिकार प्राप्त हैं और जो दोनोंको परस्पर मान्य हैं, यदि उन पर किसी प्रकारके आक्रमण आदिकी सम्भावना होगी, तो दोनों शक्तियाँ मिलकर यह निश्चय करेंगी कि उन प्रदेशों अथवा अधिकारों आदिकी रक्षाके लिए क्या उपाय किया जाय; और आवश्यकता पड़ने पर दोनों एक दूसरीका समर्थन या सहायता करेंगी।"

इस सन्धि पर अँगरेजी समाचारपत्रोंने बहुत सन्तोष और आनन्द प्रकट किया था। ब्रिटिश सरकारकी ओरसे पार्लमेण्टमें कहा गया था कि चीनके साथ जापान बहुत ही अच्छा व्यवहार कर रहा है; और ग्रेट ब्रिटेनके साथ उसने जो सन्धि की है, उसका भी वह बहुत अच्छी तरह पालन कर रहा है। यही नहीं, बल्कि वह जर्मनीके साथ लड़नेवाली शक्तियोंका सम्बन्ध भी बहुत दृढ़ कर रहा है।

परन्तु जब रूसमें राज्य-क्रान्ति हो गई और वहाँके पर राष्ट्र विभागके कागज-पत्र प्रकाशित किये गये, तब कुछ और ही गुल खिला। उन कागज-पत्रोंमें ३ जुलाई १९१६ की एक गुप्त सन्धि मिली थी। उस सन्धिके अनुसार रूस और जापानने आपसमें यह निश्चय किया था कि यदि कोई तीसरी शक्ति चीनमें अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करना चाहेगी और उसके कारण रूस-जापानके हितमें बाधा पड़ेगी, तो दोनों शक्तियाँ मिलकर उसका विरोध करेंगी और उसे रोकेंगी। यह भी निश्चय हुआ था कि ज्यों ही कोई तीसरी शक्ति चीनमें रूस या जापानके अधिकारों पर आक्रमण करेगी, त्यों ही ये दोनों शक्तियाँ मिलकर एक दूसरीका बचाव तो करेंगी ही, आवश्यकता पड़ने पर उस पर आक्रमण भी कर बैठेंगी। इस सन्धि पर हस्ताक्षर करके रूसने तो उस सन्धि-

को तोड़ा था जो उसने १९०७ में ग्रेट ब्रिटेनके साथ की थी; और जापानने उस सन्धिकी तीसरी धारा तोड़ी थी जो उसने १३ जुलाई १९११ को ग्रेट ब्रिटेनके साथ की थी। रूस और जापानने आपसमें यह भी निश्चय कर लिया था कि यह गुप्त सन्धि कभी और किसी दशामें प्रकट न की जायगी। यदि रूसमें राज्यक्रान्ति न हो जाती और वहाँके परराष्ट्र विभागके सभी कागज-पत्र प्रकाशित न हो जाते, तो संसारको इन दोनों शक्तियोंकी इस बेईमानीका कभी पता भी न चलता। लेकिन हम रूस या जापानको ही क्यों दोष दें। क्या इसके एक ही वर्ष बाद १९१७ में ग्रेट ब्रिटेनने हजाजके राजाके साथ एक गुप्त सन्धि करके उसे अरबोंको दमिश्क देनेका वादा नहीं किया था; और इस प्रकार अपने उस पहलेवाले समझौतेको नहीं तोड़ा था जो उसने सीरियाके सम्बन्धमें फ्रान्सके साथ किया था? और फिर युरोपकी कौन सी ऐसी महाशक्ति है जो अपने यहाँके गत पचीस तीस वर्षोंके गुप्त कागज-पत्र प्रकाशित करनेका साहस कर सकती है? यहाँ तो यही बात है कि जिसने कभी वायु-त्याग न किया हो, वह सामने आवे और खेतमें लगे हुए मोती तोड़े। जरमनीके कैसर पर युरोपीय महायुद्धके सम्बन्धमें मुकदमा चलानेके लिए महाशक्तियोंने केवल इसी लिए अधिक जोर नहीं दिया था। यदि कैसर पर वह मुकदमा चल जाता, तो युरोपकी सभी महाशक्तियोंका भण्डाफोड़ हो जाता, सभीकी पोल खुल जाती और सभीके गुप्त कागज-पत्र प्रकाशित हो जाते। और नहीं तो बेचारे हालेण्डकी क्या मजाल थी जो वह कैसरको अपने यहाँ शरण दे सकता! यदि महाशक्तियोंको अपनी पोल खुलनेका डर न होता और कैसर पर मुकदमा चलाना ही परम अभीष्ट होता, तो उसके लिए एक हालेण्ड क्या, दस-बीस हालेण्ड चटनीकी तरह पीस डाले जाते। दुःख इसी

बातका है कि कैसर पर मुकदमा नहीं चला। यदि वह मुकदमा चल जाता, तो चाहे और कुछ होता या न होता, पर इतना तो अवश्य होता कि इन धर्मध्वजियोंकी धार्मिकतासे संसार भली भाँति परिचित हो जाता और लोग समझ लेते कि प्रायः सारे युद्धों और उनके परिणाम-स्वरूप होनेवाले अनर्थोंकी जड़ ये बड़े बड़े महारथी राजनीतिज्ञ और उनके गुप्त समझौते ही हैं।

चीनको बिना जतलाये ही इटलीने जबानी और बाकी मित्र राष्ट्रोंने लिखकर जापानको इस बातका विश्वास दिलाया था कि जिस समय जर्मनीसे सन्धि होगी, उस समय शाण्टुंग प्रायद्वीप और भूमध्य रेखाके उत्तरके जर्मनके टापू तुमको दे दिये जायँगे।

मित्र राष्ट्र जिन सिद्धान्तोंकी रक्षाको युद्धका मूल कारण बतलाया करते थे, उन्हीं सिद्धान्तोंका खण्डन करनेवाले ये समझौते ठीक उसी समय हो रहे थे, जिस समय अमेरिका स्वयं भी युद्धमें सम्मिलित होनेके लिए तैयार हो रहा था और चीनको भी मित्र राष्ट्रोंका साथ देनेके लिए तैयार कर रहा था। भला ऐसे विश्वासघातका कहीं ठिकाना है कि एक ओर तो चीनको अमेरिका मित्रोंका साथ देनेके लिए तैयार कर रहा है; और दूसरी ओर मित्र राष्ट्र चीनका गला घोंटनेके लिए गुप्त समझौते कर रहे हैं! ये गुप्त समझौते १९१७ के आरम्भमें उसी समय हुए थे जिस समय हमारे न्यायनिधान लार्ड रीडिङ्ग अमेरिकाको युद्ध-क्षेत्रमें लाये थे। मित्र राष्ट्र चाहते थे कि अमेरिकाके युद्धमें सम्मिलित होनेसे पहले ही ये सब गुप्त समझौते हो जायँ, जिसमें सन्धिके समय हम लोग अमेरिकासे यह कह सकें कि तुम्हारे युद्धमें सम्मिलित होनेसे पहले हम लोगोंमें यह समझौता हो चुका है; इसलिए तुम्हारे चौदह सिद्धान्त पीछे माने जायँगे और पहले इन समझौतोंके अनुसार काम होगा। अँगरेजोंने १६ फरवरी १९१७

को और रूसियोंने उसके चार दिन बाद २० फरवरीको जापानको शाण्टुंगके सम्बन्धमें वचन दिया था। फ्रान्सने चीनके विरुद्ध जापानके पक्षका समर्थन करनेका जो वचन दिया था, उस पर उसने १ मार्चको हस्ताक्षर किये थे; और २८ मार्चको इटलीके पर राष्ट्र सचिवने जबानी यह कह दिया था कि इसमें हमको कोई आपत्ति नहीं है।

जब ये सब बातें पक्की हो चुकीं, तब १९१७ के मध्यमें जापानके वाइकाउण्ट इशाई अमेरिका गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने राष्ट्रपति विल्सन और सेक्रेटरी लैन्सिंगसे बहुत सी बातें कीं। इसके उपरान्त अमेरिकन सरकारने समाचारपत्रोंमें प्रकाशित कराया कि जापान और अमेरिकाने यह समझौता कर लिया है कि दोनों राष्ट्र इस बातका ध्यान रखेंगे कि चीनकी स्वतंत्रता नष्ट न हो और उसका कोई प्रदेश छीना न जा सके। दोनोंको यह बात भी मान्य है कि चीनमें मुक्तद्वार वाणिज्यकी नीतिका पूरा पूरा पालन होगा और सब लोगोंको वहाँ व्यापार आदि करनेका समान अधिकार प्राप्त होगा। पर अमेरिकाने यह बात भी मान ली थी कि चीनमें और विशेषत: चीनके उन देशोंमें जो जापानके अरक्षित स्थानोंके बहुत समीप पड़ते हैं, जापानके कुछ विशिष्ट अधिकार हैं। यदि केवल यही बातें प्रकाशित होकर रह जातीं, तो लोगोंको सन्देह करनेका कोई अवसर न मिलता। पर इसके साथ ही सेक्रेटरी लैन्सिंगका जो नोट प्रकाशित हुआ था, उससे लोगोंके मनमें इन राष्ट्रोंकी नेकनीयतीके सम्बन्धमें सन्देह उत्पन्न हो सकता था। लैन्सिंगका जो वक्तव्य उसके साथ प्रकाशित हुआ था, उसमें यह कहा गया था कि जापानके साथ जो समझौता हुआ है, वह केवल युद्धके कारण उत्पन्न परिस्थितिके विचारसे हुआ है। इस समझौतेका मुख्य उद्देश्य यह है कि जरमनीके

विरुद्ध जापान हम लोगोंकी और भी अधिक सहायता करे। उस समय साइबेरियामें रूसी राज्यक्रान्तिके चिह्न लोगोंको स्पष्ट दिखाई देने लग गये थे। पीछेसे रूसके जो गुप्त कागज-पत्र आदि प्रकाशित हुए थे, उनसे एक और बातका पता चलता है। जिस समय जापान-ने चीनके सामने अपनी इक्कीस शर्तें पेश की थीं, उस समय पेकिंगमें रूसकी ओरसे राजदूतके रूपमें कुपेन्सकी रहता था। पीछे जब जापान और अमेरिकामें बात-चीत हो रही थी, उस समय भी यही कुपेन्सकी टोकियोमें रूसी राजदूत था। जिस समय वाशिंगटनमें इशाई अमेरिकासे उक्त बात-चीत पक्की कर रहे थे, उस समय जापानके पर राष्ट्र सचिवने कुपेन्सकीसे कहा था—"चीन साम्राज्य-को अक्षुण्ण रखने अथवा वहाँ मुक्तद्वार वाणिज्य स्थापित करनेकी नीतिको जापान सरकार अधिक महत्वपूर्ण नहीं समझती। वाशिंग-टनमें वाइकाउण्ट इशाई जो बात-चीत कर रहे हैं, उसका मतलब यह नहीं है कि चीनके किसी विशिष्ट भागमें जापानको कोई विशिष्ट अधिकार प्राप्त है; बल्कि उसका मतलब यह है कि सारे चीन साम्राज्यमें जापानको एक विशिष्ट स्थान प्राप्त होना चाहिए।" इस पर कुपेन्स्कीने पूछा भी था कि इस समय तो आप अपने मनका अर्थ कर रहे हैं; पर यदि आगे चलकर अमेरिकाने इन बातोंका कुछ और ही अर्थ लगाया तब क्या होगा? इस पर उसको जापान-के परराष्ट्र सचिव वाइकाउण्ट मोटोनोने जो उत्तर दिया था, उससे सिद्ध होता था कि वह यह बात अच्छी तरह जानता था कि आगे चलकर इस समझौतेका अर्थ लगानेके सम्बन्धमें अमेरिका और जापानमें अवश्य मतभेद होगा; क्योंकि अमेरिका तो सीधा सादा अर्थ लगावेगा और जापान अपने मतलबका अर्थ लगावेगा। पर उस समय अमेरिकाके पास कोई ऐसा साधन नहीं रह जायगा, जिससे वह अपने लगाये हुए अर्थको कार्य-रूपमें

परिणत कर सके। पर जापानके पास ऐसे अनेक साधन रहेंगे, जिनसे वह अपने मनके लगाये हुए अर्थको कार्य-रूपमें भली भाँति परिणत कर सकेगा। तात्पर्य यह कि इस समय तो जापान किसी तरह अमेरिकाको धोखेमें रखकर अपना काम निकाल लेगा और आगे चलकर मनमानी कारंवाई करने लगेगा; और उस समय अमेरिका कुछ भी न कर सकेगा। इन तथा दूसरी अनेक बातोंसे यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है कि मित्र राष्ट्रोंने अपना मतलब निकालनेके लिए अमेरिकाको किस तरह अपने जालमें फँसाया था और अन्तमें उसे किस प्रकार मूर्ख बनाकर अलग कर दिया था।

जिस समय लैन्सिंग और इशाईकी बात-चीत प्रकाशित हुई थी, उस समय चीनी यह समझने लग गये थे कि अब अमेरिका भी युरोपियन महाशक्तियोंके कूटनीतिवाले मार्ग पर चलने लगा है। इतिहासमें यह पहला ही अवसर था जब कि अमेरिकाने अपने एक मित्र राष्ट्रसे बिना पूछे ही उसके सम्बन्धमें एक दूसरे राष्ट्रसे, जो उसके मित्रका शत्रु था, समझौता कर लिया था। इसलिए चीनने अमेरिका और जापानके समझौतेका घोर विरोध किया और यह घोषणा कर दी कि हमारे सम्बन्धमें दूसरे राष्ट्र जो समझौता करेंगे, हम उसे माननेके लिए बाध्य न होंगे। चीनको यह सन्देह तो था ही कि अमेरिका भी युरोपियन महाशक्तियोंके जालमें फँस गया है। पर आगे चलकर जब पेट्रोग्रेडमें कुपेन्सकीके सब तार प्रकाशित हो गये, जिनके प्रकाशित होनेका जापानको अथवा और किसीको स्वप्नमें भी ध्यान न था, तब चीनका वह सन्देह और भी दृढ़ हो गया। पर जब राष्ट्रपति विल्सनने मित्र राष्ट्रोंके साथ मिलकर शाण्टुङ्गके सम्बन्धमें गुप्त समझौता कर लिया और जापानकी बात मान ली, तब चीनियोंने समझ

लिया कि युरोपियनोंके साथ मिलकर अमेरिका भी नीति-भ्रष्ट हो गया !

पिछले प्रकरणोंमें हम यह बतला चुके हैं कि जापान किन कारणोंसे युरोपियन महायुद्धमें सम्मिलित हुआ, उसने शाण्टुंग प्राय-द्वीपमें किस प्रकार अपनी सेनाएँ पहुँचाई और प्रशान्त महासागर-के जर्मन टापुओं पर उसने किस प्रकार अधिकार प्राप्त किया। जापानने प्रत्यक्ष रूपसे मित्र राष्ट्रोंकी केवल यही सहायता की थी कि उसने क्याऊ चाऊ ले लिया था और प्रशान्त तथा भारतीय महा-सागरमें पहरेदारीके कामके लिए अपने जहाज भेजे थे। उसके कुछ थोड़े से जहाज भूमध्य सागरमें भी गये थे। कहते हैं कि उक्त तीनों सागरोंमें जापानी जहाजोंने पहरेदारीके काममें प्रायः बारह लाख मीलका मार्ग अतिक्रमण किया था और व्यापार तथा युद्ध सम्बन्धी सामग्रीकी पहरेदारीके अतिरिक्त युद्ध क्षेत्रमें जानेवाले सात आठ लाख सैनिकोंकी भी पहरेदारी की थी और उनको पनडुब्बियोंके आक्रमणसे बचाया था। १९१५ से १९१७ तक मित्र राष्ट्रोंके समाचारपत्रोंमें बराबर इस बातका आन्दोलन होता था कि युरोप और पश्चिमी एशियाके रणक्षेत्रोंमें जापानी सैनिक भी बुलाये जायँ। बहुत दिनों तक फ्रान्सीसियोंका यही विश्वास था कि केवल फ्रान्स, ग्रेट ब्रिटेन, इटली और रूसके सैनिकोंसे ही स्थल युद्धमें जरमनी पर विजय नहीं प्राप्त हो सकती। इसके लिए इनसे भी कुछ अच्छे लड़नेवालोंकी आवश्यकता है। उनके इस विश्वासके कुछ कारण भी थे। चारों ओरसे घिरे होनेके कारण, और कुछ अँगरेजोंके कथ-नानुसार बोतलमें बन्द रहनेके कारण, जर्मनी यद्यपि अन्दर ही अन्दर दुर्बल होता जाता था, तथापि युद्ध क्षेत्रमें उसे बराबर विजय ही प्राप्त होती जाती थी और उसकी सेनाएँ सदा कुछ न कुछ आगे ही बढ़ती जाती थीं। हर साल उसके हाथमें कुछ न कुछ और प्रदेश

जाता ही था। हाँ, जब अमेरिकाने पहुँचकर मित्रोंको सहायता देना आरम्भ किया, तब युद्धका रुख पलटा। फिर उस समय युरोपियनोंको जापानी सेनाकी सहायताकी कोई आवश्यकता न रह गई। कुछ लोगोंका कहना है कि यदि मेसोपोटामियामें जापान भी मित्र राष्ट्रोंको कुछ सहायता देता, तो मित्रोंको और शीघ्र विजय प्राप्त होती। और कुछ लोगोंका यह विश्वास है कि जापान वहाँ तक अपनी अधिक सेना भेज ही नहीं सकता था। पर अमेरिकाकी बात दूसरी थी। एक तो वह युद्ध-क्षेत्रसे अपेक्षाकृत अधिक समीप पड़ता था; दूसरे उसके पास बहुत से तेज चलनेवाले जहाज थे; और तीसरे उसने अपने यहाँके बन्दरोंमें जर्मनीके बहुत से जहाज पकड़कर जब्त भी कर लिये थे। इन्हीं सब कारणोंसे अमेरिका उतनी अधिक सहायता दे सका था, जितनी जापान नहीं दे सकता था। पर पहले तो मित्रोंको यह आशा ही नहीं थी कि अमेरिका भी हमारा साथ देगा; और इसी लिए वे जापानकी खुशामदमें लगे थे। पर जब अमेरिकन सेना युरोपीय युद्ध-क्षेत्रमें जा पहुँची, तब फिर मित्रोंको जापानकी सहायताकी आवश्यकता न रह गई।

जापान कहाँ तक मित्र राष्ट्रोंकी सहायता कर सकता था और उसकी सहायतासे मित्रोंका कहाँ तक काम चल सकता था, इसमें बहुत से लोगोंको सन्देह है। पहली बात तो यह है कि बहुत से जापानियोंकी सहानुभूति जर्मनोंके साथ थी। दूसरे यह कि प्रायः युद्धकी समाप्तिके समय तक भी जापानियोंका, और विशेषतः जापानी सैनिक अधिकारियोंका, यही विश्वास था कि युद्धमें जर्मनी-की ही विजय होगी। इसमें सन्देह नहीं कि जापानके पास यथेष्ट सामग्री थी। दो लाखके लगभग तो उसकी स्थायी सेना थी और प्रायः पाँच लाख सैनिक वह हर साल तैयार कर सकता था। इस प्रकार यदि वह चाहता तो सहजमें प्रायः पन्द्रह लाख आदमी

मित्रोंकी सहायताके लिए भेज सकता था। पर असल बात यह थी कि वह अमेरिकाकी तरह मूर्ख नहीं बना था। वह अपना कुछ और ही मतलब निकालना चाहता था। यदि युरोपीय युद्ध शीघ्र ही समाप्त हो जाता अथवा जर्मनीको मित्र राष्ट्र अच्छी तरह पीस डालते, तो उससे जापानको क्या लाभ होता? कुछ भी नहीं। बल्कि सम्भव था कि आगे चलकर उसकी कुछ हानि ही होती। वह तो यह सोचता था कि जितने ही अधिक समय तक युरोपीय युद्ध चलता रहेगा, उतना ही अधिक युरोपीय शक्तियाँ दुर्बल हो जायँगी। और फिर अमेरिकाकी तरह वह भी तो युद्धके कारण खूब रुपये कमाकर मालामाल हो रहा था। युद्धके कारण उसका व्यापार खूब चमक गया था। भला धन कमानेके ऐसे बढ़िया अवसरको छोड़कर वह अपनी लाखों प्रजाके सिर कटानेके लिए क्यों तैयार होता? उसे कुछ पागल कुत्तेने तो काटा ही नहीं था। वह दूसरे युरोपियनोंके नाशका तमाशा देखता था और रुपयोंसे अपना घर भरता था। युरोपके कारखानोंमें पहले जो जो माल तैयार होते थे, वे सब माल अब जापान तैयार करने लग गया था। इसके अतिरिक्त युद्ध-सामग्री तैयार करनेके ठीके भी वह जहाँ तक ले सकता था, वहाँ तक लिये बिना न छोड़ता था। युद्ध-सामग्री तैयार करनेमें जापानने मित्र राष्ट्रोंको सच्ची सहायता दी थी। पर वह सहायता भी थी आर्थिक लाभके ही विचारसे। पश्चिमी युरोपमें रूसको कहींसे कोई सहायता नहीं मिल सकती थी। जापान ही उसे सब प्रकारकी युद्ध सामग्री दिया करता था। भला जिस युरोपीय युद्धसे उसका किसी प्रकारका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था, उसमें वह क्यों सम्मिलित होने जाता? और फिर जब उसने रूसके साथ युद्ध किया था, उस समय भी तो किसी युरोपियन शक्तिने उसको कोई सहायता नहीं दी थी।

दस बरस पहले जिस प्रकार युरोपियन शक्तियाँ सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिसे जापानकी ओर देखा करती थीं, उसी प्रकार १९१४ और १९१५ में वह युरोपवालोंको भी सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिसे देखा करता था; और बस !

जिस समय युरोपियन शक्तियाँ युद्धमें लिप्त थीं, उस समय जापानने अपना आर्थिक लाभ भी खूब कर लिया और राजनीतिक लाभ भी। मूर्खोंकी लड़ाईमें सदा समझदारोंका लाभ हुआ ही करता है। वही इस बार भी हुआ। उसने दक्षिण मंचूरिया, लियाओटंग और शाण्टुंगमें दृढ़तापूर्वक अपना अधिकार जमा लिया। जब शाण्टुंगमें जापानका अधिकार अच्छी तरह हो गया, तब चीनने चाहा कि अब जापान चुपचाप बैठ जाय और हमारा और अधिक नाश न करे। इस सम्बन्धमें चीनने जापानको समझा बुझाकर शान्त करनेका जो प्रयत्न किया था, उसी प्रयत्नके उत्तरमें जापानने उसके सामने अपनी इक्कीस माँगें पेश की थीं और उसे हर तरहसे दबाकर उससे मनमानी सन्धि पर हस्ताक्षर करा लिये थे। जापानको सबसे अधिक चिन्ता इस बातकी थी कि कहीं चीन भी महायुद्धमें सम्मिलित न हो जाय। जब दोबारा नवम्बर १९१५ में चीनने महायुद्धमें सम्मिलित होना चाहा, तब जापानने उसका घोर विरोध किया था। इसी प्रकरणमें हम यह भी बतला चुके हैं कि जब अमेरिकाका युद्धमें सम्मिलित होना अनिवार्य हो गया, तब जापानने किस प्रकार मित्र राष्ट्रोंके साथ गुप्त समझौते कर लिये थे। ये सब समझौते केवल इसी लिए किये गये थे कि जिसमें सब राष्ट्र पहलेसे ही हमारी ओर मिले रहें और शान्ति महासभामें कोई राष्ट्र चीनका पक्ष लेकर हमारा विरोध न करने लग जाय; नहीं तो सारा गुड़ गोबर हो जायगा।

१९१७ के आरम्भमें चीनने पहले तो जरमनीकी पनडुब्बि-योंके अत्याचारोंका घोर विरोध किया और तब १४ मार्च १९१७ को उसके साथ राजकीय सम्बन्धका विच्छेद कर दिया। पर फिर भी कई आन्तरिक झगड़ोंके कारण, जिनका उल्लेख चीन सम्बन्धी प्रकरणमें किया जा चुका है, कई महीनों तक वह युद्धकी घोषणा न कर सका था। अन्तमें १४ अगस्त १९१७ को उसने भी जरमनी और आस्ट्रियाके साथ युद्धकी घोषणा कर दी। इस बीचमें जापानी राजनीतिज्ञ अपनी ओरसे इस बातका सिर-तोड़ परिश्रम कर रहे थे कि चीन महायुद्धमें सम्मिलित न हो और उससे अलग ही रहे। यद्यपि जापान पहलेसे ही सब लोगोंको अपनी ओर मिला चुका था, पर फिर भी उसे कुछ न कुछ भय बना ही था और वह नहीं चाहता था कि चीन भी शान्ति महासभामें पहुँच जाय और वहाँ हमारी कार्रवाइयोंका भण्डा फूटे। पर चीन भी धुनका पक्का था और शान्ति महासभामें सम्मिलित होनेके लाभोंसे परिचित था, इसलिए उसने भी युद्धकी घोषणा करके ही छोड़ी। यह बात दूसरी है कि वहाँ उसका मनोरथ पूर्ण रूपसे सिद्ध नहीं हुआ। भला इतने बड़े बड़े गिद्धोंके सामने साधारण चिड़ियोंकी कब चल सकती है!

चीनने युद्धमें सम्मिलित होने पर पहले उत्तरी फ्रान्समें सेना-के पीछे काम करनेके लिए मजदूर भेजे थे, जिनसे अँगरेजों और फ्रान्सीसियोंको बहुत सहायता मिली थी। युद्ध-समाप्तिके समय उन मजदूरोंकी संख्या सवा लाखसे ऊपर पहुँच गई थी। इसके अतिरिक्त अँगरेजोंने बहुत से चीनियोंको मेसोपोटामिया और जरमन पूर्व अफ्रिकामें भी भेजा था। जहाजोंके लश्करमें भी चीनियोंने बहुत अधिक काम किया था। यदि ये चीनी न होते तो शायद बहुत से जहाज चल भी न सकते। चीनने अपने बन्द-

रोंके सब जरमन जहाज पकड़ लिये थे और अपने यहाँके नौ स्टीमर मित्रोंको सहायतार्थ दे दिये थे। पर जब चीनने अपने यहाँसे एक लाख सैनिक फ्रान्स भेजनेका विचार किया, तब सब लोगोंने उसका घोर विरोध किया। उस समय तक ग्रेट ब्रिटेन और फ्रान्स इस बातमें जापानसे पूर्ण रूपसे सहमत हो चुके थे कि यदि चीनके सैनिक भी रणक्षेत्रमें आ पहुँचेंगे, तो एक चिन्ताजनक परिस्थिति उत्पन्न हो जायगी। यों तो पेरिसमें मित्र राष्ट्रोंकी काउन्सिलने चीनके सैनिक भेजनेके प्रस्ताव पर बहुत प्रसन्नता प्रकट की, पर पीछेसे चीन सरकारसे कह दिया गया कि चीनसे फ्रान्स तक चीनी सैनिक लानेका यथेष्ट प्रबन्ध न हो सकेगा। जब अमेरिकाने चीनी सैनिकोंके लिए जहाज देनेका वचन दिया, तब फिर बहाने सोचे जाने लगे। मित्र राष्ट्रोंकी बदनीयतीका परिचय तो केवल इसी बातसे मिल सकता है कि लाखों चीनी मजदूरोंको लानेके लिए तो जहाज मिल जाते थे, पर एक लाख चीनी सैनिकोंको लानेके लिए जहाज नहीं मिलते थे। फ्रान्स इस बातके लिए भी तैयार था कि यदि चीनी मजदूर हमारे यहाँके गोले-बारूदके कारखानोंमें काम करना चाहें, तो हम उनको अपने यहाँ स्थान दे सकते हैं। पर रणक्षेत्रमें चीनी सैनिकोंके लिए कोई स्थान नहीं था।

आरम्भमें तीन वर्ष तक तो कोई बात नहीं थी; पर जब रूसमें राज्यक्रान्ति हुई, तब सब लोगोंका ध्यान पूर्वी एशियाकी ओर गया। चीन और जापान दोनोंके लिए एक नई परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी। चीनके युद्धमें सम्मिलित होनेसे पहले ही बोल्शेविक सरकारने चीन सरकारसे लिखापढ़ी आरम्भ कर दी थी। बोल्शेविकोंने यह घोषणा कर दी थी कि सन्धियोंके अनुसार मंगोलिया और मंचूरियामें रूसको जो अधिकार प्राप्त हैं, उन सबका हम

त्याग करते हैं और अब हम बाक्सर युद्धवाला हरजाना चीनसे नहीं लेंगे। पर जब चीन भी मित्र राष्ट्रोंकी ओरसे युद्धमें सम्मिलित हो गया, तब उसे मित्रोंकी नीतिके अनुसार काम करना पड़ा और उसने भी बोल्शेविक सरकारका अधिकार माननेसे इन्कार कर दिया। मित्र राष्ट्रोंने उत्तर मंचूरियन रेल्वेके प्रबन्धके लिए एक कमीशन नियुक्त किया, जिसमें चीन और अमेरिकाके प्रतिनिधि भी सम्मिलित थे। चीन सरकारसे कहा गया कि तुम उत्तर मंचूरियामें पुलिस रखनेका प्रबन्ध करो। इससे स्वभावतः चीन और बोल्शेविकोंमें लड़ाई ठन गई; क्योंकि बोल्शेविकोंने पहलेसे ही रेलों आदि पर अधिकार कर लिया था। यद्यपि पुराने रूस साम्राज्यका पूर्ण रूपसे अन्त हो चुका था, तथापि पेकिंगके रशन एशियाटिक बंकने उत्तर मंचूरियन रेल्वे पर अधिकार कर लिया। उसका कहना था कि हम यह काम उस रेल्वेके हिस्सेदारोंके लाभके विचारसे करते हैं। पर उन हिस्सेदारोंमें अधिकांश फ्रान्सीसी ही थे। अब चीनने भी निश्चय कर लिया था कि हम इन युरोपियनोंकी पुरानी नीति न चलने देंगे। चीन और रूसमें जितनी सन्धियाँ हुई थीं, प्रायः वे सभी राजनीतिक ही थीं और जबरदस्ती चीन पर लादी गई थीं। इसका एक उदाहरण यह है कि १९१३ में चीनको रूसने इस बातके लिए विवश किया था कि वह मंगोलियाकी स्वतंत्रता स्वीकृत कर ले। मंचूरियाके सम्बन्धमें जितने समझौते हुए हैं, उन सबसे चीनकी स्वतंत्रतामें बाधा पहुँचती है; इसलिए चीनने सब शक्तियोंको सूचना दे दी थी कि अब हम रूसी सन्धियोंको नहीं मानते और अब रूसी सरकारको चीनमें किसी प्रकारका विशिष्ट अधिकार न प्राप्त होगा।

१९१८ के आरम्भमें मित्र राष्ट्रोंने मिलकर निश्चय किया था कि सब राष्ट्रोंकी एक सेना तैयार की जाय जो साइबेरियामें बोल्शे-

विकों पर आक्रमण करे। उस समय जापानसे भी उसमें सम्मि-
लित होने और अपनी सेना भेजनेके लिए कहा गया था। इसमें
मित्रोंके तीन उद्देश्य थे। एक तो यह कि शेसोस्लवक सेनाको
सहायता पहुँचाई जाय; दूसरे यह कि व्लैडिवास्टकमें तथा साइ-
बेरियन रेलवेके किनारे अन्य स्थानोंमें सार्वराष्ट्रीय गोदामोंमें जो
प्रचुर युद्ध-सामग्री रखी हुई थी, वह बोल्शेविकों और भगोड़े जर्मन
कैदियोंके हाथमें न पड़ जाय; और तीसरे यह कि साइबेरियामें
कहीं बोल्शेविक सरकार न स्थापित हो जाय; क्योंकि सम्भव था
कि यह बोल्शेविक सरकार जर्मनीकी सहायक हो जाती। यद्यपि
इस कामके लिए जापानसे अपेक्षाकृत अधिक सेना माँगी गई थी,
तथापि उससे यह कहा गया था कि तुम इस बातका वचन दो कि
साइबेरियाका कोई प्रदेश तुम अपने अधिकारमें न कर लोगे।
अमेरिका और जापानमें, और कहीं कहीं युरोपमें भी, साइबेरियाके
इस आक्रमणका घोर विरोध किया गया था। इस आक्रमणसे एक
तो रूसकी सत्ता पर आक्रमण होता था; और दूसरे कुछ लोगोंको
यह भी सन्देह था कि कहीं इस अवसरसे जापान कोई विशेष
लाभ न उठा ले और साइबेरियाका स्वामी न बन जाय। पर
अन्तमें सब लोगोंने समझौता कर ही लिया। जापानने अपना
काम बहुत अच्छी तरह किया। उसकी सेनाने व्लैडिवास्टक पर
अधिकार करनेमें विशेष सहायता दी और शत्रुके बहुत से हथि-
यार आदि छीन लिये। इसके अतिरिक्त उसकी सेनाने आमूर
नदीमें कई छोटे छोटे जहाज भी पकड़ लिये जो जर्मनोंके हाथमें
थे। जापानी सेना बढ़ती बढ़ती इर्कुटस्क तक जा पहुँची। उस समय
पेरिसमें एक जापानी अधिकारी और प्रतिनिधिने कहा था कि
जापानने अपनी बहुत सी सेनाएँ वहाँसे हटा ली हैं। जापान यह
देखकर बहुत प्रसन्न होगा कि समझौतेकी शर्तोंके अनुसार साइ-

बेरियासे सब लोगोंने अपनी अपनी सेना हटा ली हैं और वहाँ एक व्यवस्थित शासन प्रणाली स्थापित हो गई है। उस समय चीनियोंको इस बातकी बड़ी आशंका थी कि कहीं मित्रोंमें कोई ऐसा गुप्त समझौता न हो गया हो जिसके अनुसार जापानको उत्तर मंचूरिया और व्लैडिवास्टक मिल जाय। पर फिर भी वे समझते थे कि जो अँगरेज और फ्रान्सीसी बेलजियमकी स्वतंत्रताकी रक्षा करनेके लिए इतने बड़े बड़े प्रयत्न कर रहे हैं, वे हमारे साथ विशेष अन्याय न करेंगे। उन्हें क्या खबर थी कि युरोपवालोंके लिए चीन चीन ही है, वह बेलजियम नहीं हो सकता। उसी अवसर पर मि० एस्किथने कहा था कि शान्ति महासभाके बाद एक ऐसे नये युगका आरम्भ होगा, जिसमें संसारके सभी राष्ट्र मिलकर मित्र भावसे एक संघ स्थापित करेंगे, जिसमें सभी राष्ट्रोंको स्वभाग्य-निर्णयका अधिकार प्राप्त होगा, जिसमें आज तक किये हुए अन्याय और अत्याचार दूर किये जायँगे, और जिसमें उन महाशक्तियोंको, जिन्होंने धोखा देकर, डरा धमकाकर या मार पीटकर दूसरोंके प्रदेश या अधिकार आदि छीन लिये हैं, वे प्रदेश या अधिकार आदि लौटा देनेके लिए विवश किया जायगा। भला ऐसी बढ़िया बढ़िया बातों पर चीनी लोग विश्वास न करते तो और क्या करते? इसके अतिरिक्त उनको सबसे अधिक आशा राष्ट्रपति विलसनसे थी; क्योंकि वे उनको धर्मराज युधिष्ठिर समझते थे और उनके सम्बन्धमें उनको यह आशंका नहीं हो सकती थी कि वे भी युरोपियनोंके फेरमें पड़कर अपने सिद्धान्तोंको धो बहावेंगे। चीनी तो यह समझते थे कि शान्ति महासभामें हम जापान, ग्रेट ब्रिटेन तथा दूसरी युरोपियन महाशक्तियोंके अत्याचार दिखलाकर उनके खूब दाँत खट्टे करेंगे; और जब हमारी बातोंका कोई खण्डन ही न कर सकेगा, तब सब लोगोंको झख मारकर हमारी

बातें माननी पड़ेंगी और हमारे साथ अब तक जो अन्याय हुए हैं, उन सबका एक दमसे प्रतिकार हो जायगा। हमारे साथ तो इन युरोपियनोंने इतने अधिक अत्याचार किये हैं, जितने बेलजियमके साथ जरमनीने भी न किये होंगे।

जिस समय शान्ति महासभा आरम्भ होनेको थी, उस समय चीनी लोग इसी प्रकारके मनमोदकोंसे अपना सन्तोष कर रहे थे। पर इसमें उनका कोई दोष नहीं था। उनकी दृढ़ धारणा थी कि वार्सेलसमें जो सन्धि होगी, वह राष्ट्रपति विल्सनकी चौदह शर्तों और उनके बाद की हुई घोषणाओं आदिके अनुसार ही होगी। युद्ध स्थगित होनेसे कुछ ही पहले वार्सेल्सकी सुप्रीम वार काउन्सिलने भी सारे संसारको यही विश्वास दिलाया था कि जर्मनीके साथ जो सन्धि होगी, वह राष्ट्रपतिकी चौदह शर्तोंके ही अनुसार होगी। उस समय कौन कह सकता था कि जिस न्याय और जिन नियमोंका पालन शत्रुके साथ किया जायगा, उसी न्याय और उन्हीं नियमोंसे मित्र लोग वंचित कर दिये जायँगे? मित्रोंको तो वह न्याय प्राप्त करनेका और भी अधिक अधिकार था। ऐसी दशामें यदि चीनियोंने यह आशा की कि हमारे साथ किये हुए समस्त अन्यायों और अत्याचारोंके प्रतिकारका समय आ गया है, तो इसमें उन्होंने कोई पाप नहीं किया। इसी लिए चीनी प्रतिनिधियोंने अपनी जो माँगें तैयार की थीं, उनमें कहा गया था कि हमें शाण्टुंग वापस दिला दिया जाय और पूर्व एशियामें ऐसी व्यवस्था कर दी जाय जिससे वहाँ स्थायी शान्ति स्थापित हो जाय और राष्ट्रसंघकी स्थापना भली भाँति सम्भव हो। सब राष्ट्रोंका पारस्परिक मनमुटाव मिट जाय और सब लोग मित्रों तथा बन्धुओंकी भाँति रह सकें।

चीनकी जिन जिन माँगोंसे जर्मनीके हितोंका घात होता था, उन उन माँगोंसे तो युरोपियन राजनीतिज्ञ बहुत ही प्रसन्न हुए;

क्योंकि वे लोग चाहते थे कि जर्मनीने चीनसे जो जो अधिकार प्राप्त किये हैं, वे सब वह छोड़ दे; उसे या उसकी प्रजाको चीनमें व्यापार सम्बन्धी अथवा और किसी प्रकारका कोई विशिष्ट अधिकार न रह जाय; उसने पेकिंगकी वेधशालासे जो जो यन्त्र आदि चुराये हैं, वे सब वापस कर दे; बाक्सर युद्ध सम्बन्धी हरजानेमेंसे उसे एक पैसा भी न मिले; आदि। ये सब बातें तो सभी युरोपियन राष्ट्र चाहते थे, पर अँगरेज और फ्रांसीसी कुछ और भी आगे बढ़ गये थे। वे कहते थे कि चीनके लिए यह बहुत अच्छा अवसर है। वह अपने यहाँसे सभी जर्मनों और आस्ट्रियनोंको, चाहे वे व्यापारी हों चाहे धर्मप्रचारक और चाहे शिक्षक, निकाल बाहर करे। पर जब यह चर्चा छिड़ी कि आप लोगोंने भी जर्मनोंकी तरह जो अधिकार हमसे जबरदस्ती लिये हैं, वे त्याग दीजिये और बाक्सरवाले हरजानेसे बाज आइये, तब आप लोग चुप हो गये। इसके उपरान्त राष्ट्रपति विल्सनके सामने वे गुप्त सन्धियाँ आईं जो जापान तथा दूसरे मित्र राष्ट्रोंमें हुई थीं, और जिनके अनुसार मित्र राष्ट्रोंने जापानसे वादा किया था कि क्याऊ चाऊ और शाण्टुङ्गमें जर्मनीका स्थान तुमको दिला दिया जायगा। उन सन्धियोंको देखकर विल्सन भी फिसल गये और उन्होंने अपने सिद्धान्तोंको तह करके रख दिया। चीनने विल्सन पर जो विश्वास किया था, उसके बदलेमें विल्सनने उनके साथ विश्वास-घात किया। चीनी प्रतिनिधियोंने विल्सनसे बहुत कहा कि आपने ही चीनको युद्धमें सम्मिलित होनेके लिए निमन्त्रित किया था और कहा था कि अमेरिका अपने सिद्धान्तोंके लिए लड़ रहा है और सबसे बिना इन सिद्धान्तोंका पालन कराये न छोड़ेगा, पर अब इन सिद्धान्तोंका गला घोंटा जा रहा है। पर विल्सन तो युरोपियनोंके चक्करमें पड़ चुके थे। वे चीनी प्रतिनिधियोंको क्या

उत्तर देते ? लाचार होकर बेचारे चीनी भी चुप रह गये। युरोपियन कूटनीतिने और एक बार न्याय तथा सत्यका गला घोंटकर रख दिया। बलने सत्यको ऐसा पछाड़ा कि वह बेचारा अपना सा मुँह लेकर शान्ति महासभासे भाग खड़ा हुआ। शान्तिके ठीकेदार युरोपियन राजनीतिज्ञोंने एक बार फिर "सत्यमेव जयति नानृतम्" की निस्सारता प्रमाणित करके दिखला दी। चलो छुट्टी हुई !

वार्सेल्सकी सन्धिकी १५६, १५७ और १५८ वीं धाराने एक ऐसे अनर्थका बीजारोपण कर दिया जिससे पूर्वी एशियामें कुछ दिनों तक घोर असन्तोष बना रहेगा और जिसके कारण सम्भवत: अवश्य युद्ध होगा। ६ मार्च १८५८ की सन्धिके अनुसार जर्मनीको चीनमें जो अधिकार आदि प्राप्त थे, और उनके अतिरिक्त शाण्टुङ्ग प्रान्तमें भी उसे जो अधिकार प्राप्त थे, वे सब उसने उक्त धाराओंके अनुसार जापानको दे दिये। शाण्टुङ्गके सम्बन्धमें शान्ति महासभामें कोई नई बात नहीं तै हुई और मित्र राष्ट्रोंने पहलेसे ही आपसमें गुप्त रूपसे जो समझौता कर रखा था, वही ज्योंका त्यों बना रह गया। इस सम्बन्धमें पहलेसे तो चीनसे कुछ पूछा ही नहीं गया था. इस बार भी उसकी कोई बात सुनी नहीं गई। चीनने प्रधान मित्र राष्ट्रों और उनके साथियोंके पास एक प्रार्थनापत्र भेजा था जिसमें कहा गया था कि हमसे बिना पूछे, और यहाँ तक कि बिना हमें सूचना दिये ही हमारे एक पुश्तैनी दुश्मनको हमारा एक इतना बड़ा प्रान्त दिया जा रहा है, जिसकी आबादी फ्रान्सकी आबादीके बराबर है। पर राष्ट्रपति विलसन अथवा उनके साथियोंने इस बातका उत्तर तक देनेकी आवश्यकता नहीं समझी। वे कोई उत्तर दे ही नहीं सकते थे; फिर व्यर्थ उत्तर देनेकी आवश्यकता ही क्यों समझते ? जिस बातका कोई उत्तर हो ही न सकता हो, उसका उत्तर न देनेके कारण कोई दोषी नहीं

ठहराया जा सकता। दोषी तो स्वयं चीन था जो अपने बाहु-बलसे कुछ भी नहीं कर सकता था और भेड़ियोंसे अपनी भेड़ोंकी रख-वाली कराना चाहता था। ऐसे लोगोंका जो परिणाम होना चाहिए, वही चीनका भी हुआ। ऐसी सीधी सादी बातके लिए कोई आश्चर्य क्यों करे ?

यों तो शान्ति महासभाके कारण अनेक दुःख-गाथाएँ तैयार हो गई हैं, पर उनमेंसे चीनकी दुःख-गाथा कुछ विशेष महत्त्व-पूर्ण है। चीनकी ओरसे शान्ति महासभामें जो प्रतिनिधि गये थे, उन्होंने अपने बयानके तौर पर यह दुःख-गाथा तैयार की थी। यह दुःख-गाथा क्या है, मानों वार्सेल्सकी सन्धिके मुँह पर लगी हुई कालिमा है। पूर्वी एशियाके सम्बन्धमें शान्ति महासभाने जो घोर अन्याय किया था, उसीका यह कच्चा चिट्ठा है। अतः इस प्रकरणको समाप्त करनेसे पहले हम उसकी मुख्य मुख्य बातें यहाँ दे देना आवश्यक समझते हैं। सम्भव है कि पाश्चात्य सभ्यताके अन्धे भक्त इसीसे कुछ शिक्षा ग्रहण करें।

"मित्र राष्ट्र और उनके साथी संसारमें न्याय और स्थायी शान्तिकी स्थापनाके लिए जिन उच्च सिद्धान्तोंकी घोषणा किया करते थे, उन्हीं सिद्धान्तों पर विश्वास रखकर चीन इस शान्ति महासभामें आया था। पर यहाँ जिस व्यवस्थाका होना निश्चित हुआ है, उसे देखकर चीनको घोर निराशा होगी और वह सम-झेगा कि हम अब तक बड़े भारी भ्रममें पड़े हुए थे। यदि फ्यूम-के प्रश्नके सम्बन्धमें काउन्सिल अपनी दृढ़ता दिखला सकती थी, तो उसे शाण्टुंगके सम्बन्धमें चीनका दावा माननेके लिए और भी अधिक दृढ़ता दिखलानी चाहिए थी; क्योंकि इसका सम्बन्ध तीन करोड़ साठ लाख मनुष्योंके भावी कल्याणसे है और इसी पर पूर्वी एशियाकी शान्ति निर्भर करती है........

"१९१७ में जर्मनीने घोर अन्याय और बल-प्रयोग करके शाण्टुंगमें अधिकार प्राप्त किये थे और अब तक चीनी लोग बराबर उसका विरोध करते आये हैं। आज वे अधिकार जर्मनीसे छीनकर जापानको देना मानों उस अन्याय और अत्याचारको और भी पुष्ट तथा स्थायी बनाना है।

"इसके अतिरिक्त एक बात और है। चीनने जर्मनी और आस्ट्रियाके साथ युद्धकी घोषणा की थी; इसलिए चीन और उन शक्तियोंमें जो सन्धियाँ तथा समझौते हुए थे, वे सब आपसे आप रद्द हो गये और उनके अनुसार जर्मनोंको जो अधिकार मिले थे, वे स्वभावतः चीनको वापस मिल गये। चीनने जर्मनीके साथ युद्धकी जो घोषणा की थी, उसकी सूचना सब शक्तियोंको सरकारी तौर पर दे दी गई थी और मित्र राष्ट्रों तथा उनके साथियोंने उसे मान्य भी कर लिया था........कौंसिलने जापानको जो अधिकार दिये हैं, वे जर्मनीसे छीनकर नहीं, बल्कि चीनसे छीनकर दिये हैं—अपने शत्रुसे छीनकर नहीं, बल्कि अपने मित्र और साथीसे छीनकर दिये हैं। एक तो यों ही शाण्टुंगमें जर्मनीके स्थानमें जापानका आ पहुँचना बहुत भयङ्कर है; दूसरे जब हम यह देखते हैं कि जापान पहलेसे ही दक्षिण मंचूरिया और पूर्वी भीतरी मंगोलियामें जमा हुआ है, उस समय उसकी भयङ्करता और भी बढ़ जाती है। पेकिंगके पास पड़नेवाली पेचिलीकी खाड़ीके दोनों ओर उसका अधिकार है और पेकिंग जानेवाली तीन सड़कें भी उसके हाथमें हैं; इसलिए हमारी राजधानी मानों सभी ओरसे जापानी क्षेत्रोंसे घिर गई है। इसके अतिरिक्त चीनके लिए शाण्टुंग एक पवित्र तीर्थसे कम नहीं है; क्योंकि चीनके कनफूची और मेन्ची आदि ऋषि वहीं हुए हैं और चीनी सभ्यताका विकास भी सबसे पहले वहीं हुआ है।

"चीनके प्रतिनिधियोंका यह खयाल है कि काउन्सिलने यह निर्णय केवल इसी लिए किया है कि फरवरी और मार्च १९१७ में ग्रेट ब्रिटेन और फ्रान्सने जापानसे इस बातका वादा किया था कि शान्ति महासभामें हम शाण्टुंगके सम्बन्धमें तुम्हारा समर्थन करेंगे और वहाँ जर्मनीको जो अधिकार प्राप्त हैं, वे तुमको दिलवा देंगे। पर इन गुप्त समझौतोंमें चीन कभी सम्मिलित नहीं हुआ था। जब चीनको जर्मनी आदिके विरुद्ध युद्धकी घोषणा करनेके लिए निमन्त्रित किया गया था, तब भी उसे यह नहीं बतलाया गया था कि मित्र राष्ट्रोंमें परस्पर क्या गुप्त समझौता हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि सब लोगोंने मिलकर पहले ही यह तै कर लिया था कि जब चीन आकर हम लोगोंका सहायक और साथी बन जायगा, तब हम लोग अमुक प्रकारसे उसके भाग्यका निपटारा कर डालेंगे।"

(२४)
युरोपियनोंका प्रभुत्व

एशियाके आधुनिक इतिहासमें दो बातें मुख्य और विशेष महत्वकी हैं। एक तो रूस-जापान युद्ध और दूसरे जापानका युरोपीय महायुद्धमें सम्मिलित होना। इन दोनों बातोंने मिलकर मानों युरोपियनोंके प्रभुत्वको चुनौती दे डाली है। इन दोनों कार्योंमें जापानका पहला उद्देश्य यह था कि पूर्वी एशियामें रूस और जर्मनीका कोई उपनिवेश ही न रह जाय; और अन्तिम उद्देश्य यह था कि एशियामें युरोपियनोंका प्रभुत्व न रह जाय। जापानके हाथों रूस और जर्मनीकी यह दुर्दशा देखकर जो युरोपियन साम्राज्यवादी फूले नहीं समाते, वे केवल पहले या तात्कालिक उद्देश्यको ही समझते हैं और अन्तिम उद्देश्य तक उनकी दृष्टि ही नहीं जाती। अपने प्रतिद्वन्द्वियोंके नाशमें जापानको सहायक होते देखकर वे यही समझते थे कि जापानके इस कार्यसे एशियामें हमारे अधिकार और भी रक्षित हो जायँगे। पहले कुछ दिनों तक अँगरेजोंको रूसियोंका बहुत डर था। इसके बाद अँगरेज और फ्रान्सीसी जर्मनोंसे डरने लगे थे। पर अब कदाचित् उन लोगोंको मालूम होने लग गया होगा कि हमारा वह भ्रम कितना मूर्खतापूर्ण था।

जापानियोंने मंचूरियामें रूसियों पर जो विजय प्राप्त की थी, एशियावाले समझते थे कि वह विजय एशियावालोंने युरोपवालों पर प्राप्त की है। मानों वहींसे एशियावालोंने अपनी मुक्तिका प्रधान प्रयत्न आरम्भ किया था। उसी समय उन लोगोंने समझा था कि युरोपियन लोग अजेय नहीं हैं, उद्योग करके उन पर विजय प्राप्त की जा सकती है। उनके ध्यानमें यह बात आ गई थी

कि जल तथा स्थल सेनाके संचालनकी योग्यता केवल युरोपियनों-के ही बाँटे नहीं पड़ी है, युरोपवालोंने एशियावालों पर जबरदस्ती ही अपना प्रभुत्व स्थापित किया है और अब एशियाकी एक शक्ति-ने भी अपने जबरदस्त होनेका पूरा प्रमाण दे दिया है। रूस पर जापानकी विजय प्राप्त करते देखकर एशियाकी सभी जातियाँ बहुत प्रसन्न हुई थीं। अब तक जो राष्ट्रीय आन्दोलन गर्भमें छिपे हुए थे, वे काहिरा और कुस्तुन्तुनियासे बटेविया और पेकिंग तक प्रत्यक्ष दिखाई देने लगे। अब युरोपियन शक्तियोंको तरुण मिस्रियों, तरुण तुर्कों, तरुण फारसियों, तरुण भारतीयों, तरुण स्यामियों और तरुण चीनियों आदिसे काम पड़ा। ये सब लोग एक ही बात कहते थे और एक ही काम चाहते थे। इन सबका उद्देश्य केवल यही था कि एशियामें शासन करनेका अधिकार केवल एशियावालोंको ही प्राप्त हो, बाहरवालोंका यहाँ प्रभुत्व न रह जाय। जिस समय सारे एशियामें यह आन्दोलन जोर पकड़ रहा था, उसी समय संयोगसे १९१४ में युरोपीय महायुद्ध आरम्भ हो गया। जापानने देखा कि अब आगा-पीछा करनेका समय नहीं है। उसने चट जर्मनीसे कहा कि अब तुम एशियासे चल दो। जर्मनीने उसकी बात न मानी, इसलिए उसने जर्मनीको जबरदस्ती एशियासे निकाल बाहर किया। प्रश्न होता है कि क्या इससे मित्र राष्ट्रोंकी जीत हुई? इसका उत्तर यही है कि जो लोग यह समझते हों कि जापानकी जर्मनीके साथ दुश्मनी थी, इसलिए उसने उसे एशियासे निकाल दिया, उनके लेखे तो मित्र राष्ट्रोंका अवश्य जीत हुई; पर जो लोग यह समझते हों कि जापान एशियासे सभी युरोपियनोंको निकालना चाहता है और उस अवसर पर उसने अपना उद्देश्य सिद्ध करनेके लिए उनमेंसे एक युरो-पियनसे पीछा छुड़ाया, उनके लिए यह मित्रोंकी पूरी हार हुई।

पिछले पृष्ठोंसे पाठकोंको इस बातका पूरा पता लग ही गया होगा कि जापानने रूस और जर्मनी पर किस प्रकार विजय प्राप्त की थी। दोनों अवसरों पर उसने भली भाँति यह दिखला दिया था कि हम प्रभुत्व स्थापित करनेके विरोधी नहीं हैं, बल्कि युरोपियनों के प्रभुत्वके विरोधी हैं। उसने अच्छी तरह सीख लिया था कि युरोपियन लोग जल तथा स्थल सेनाका किस प्रकार संचालन करते हैं। उनकी परराष्ट्रीय नीतिका भी उसने बहुत अच्छी तरह अध्ययन कर लिया था। कोरिया, मंचूरिया और चीनके साथ उसने जो कुछ किया था, वह लन्दन, पेरिस और बर्लिनकी कूट-नीतिका अच्छी तरह अध्ययन करके ही किया था। यदि जापानी चाहते तो अमेरिकावालोंके मनरो-सिद्धान्तका भी अनुकरण कर सकते थे और कह सकते थे कि न तो हम किसी दूसरेके देश पर अधिकार करने जायँगे और न किसी दूसरेको अपने देश पर अधिकार करने देंगे। पर उन्होंने वैसा न करके अपना बल और साम्राज्य बढ़ानेका उद्योग आरम्भ किया। उन्होंने भी प्रभुत्व बढ़ानेवाली नीतिका अवलम्बन किया। यदि १९१४ वाला युद्ध आदिसे अन्त तक केवल युरोपके ही दो विरोधी दलोंका युद्ध रहता और उसमें सारे संसारके और और दलोंके लोग भी आकर सम्मिलित न हो जाते, तो एशिया पर उसका केवल यही परिणाम होता कि यहाँके उपनिवेशोंके बँटवारेके समय युरोपियन शक्तियों-के साथ साथ जापानका भी ध्यान रखा जाता। ग्रेट ब्रिटेन उसी प्रकार जापानको प्रसन्न रखनेके लिए अपनी ओरसे कुछ अंश दे देता, जिस प्रकार १९०४ में उसने फ्रान्सका और १९०७ में रूसका मुँह मीठा कर दिया था। पर कठिनता यह हुई कि आरम्भमें युद्धका जो स्वरूप था, वह अन्त तक बना न रह सका। १९१७ में अमेरिका भी उसमें सम्मिलित हो गया और उसके बाद चीन

और स्याम भी उसमें जा मिले। इसलिए जब शान्ति स्थापित करनेकी व्यवस्था होने लगी, तब एक अँगरेज लेखककी भविष्यद्वाणी पूरी होती हुई दिखाई दी। मि० एल० कर्टिसने अपनी The Problem of the Commonwealth नामक पुस्तकमें लिखा था:—

"यदि अमेरिकाके लिए यह बात ठीक है कि वहाँके लोग योग्य हों चाहे अयोग्य, पर वे अपना सब काम आप ही सँभालें और दूसरा कोई उनके काममें हस्तक्षेप न करे, तो युरोप, एशिया और अफ्रिकाके लिए भी यही बात बिलकुल ठीक है। संसार इतना अधिक विस्तृत नहीं है कि उसमें ऐसी बातोंके सम्बन्धमें दो नीतियोंकी गुंजाइश हो सके।"

युद्ध कालमें योद्धा राष्ट्रोंके मन्त्री एक ओर तो सत्य, स्वत्व और न्यायकी दुहाइयाँ देते और बड़ी बड़ी बातें बघारा करते थे, और दूसरी ओर खूब गुप्त सन्धियाँ और समझौते करते थे। जो गुप्त सन्धियाँ सारे अनर्थोंकी जड़ बतलाई जाती थीं, उन्हीं गुप्त सन्धियोंकी उस समय खूब धूम मची हुई थी। बड़े बड़े राजनीतिज्ञ यही समझते थे कि युद्धमें हमारी ही विजय होगी, इसलिए वे पहलेसे ही यह व्यवस्था कर रहे थे कि युद्धकी समाप्ति पर अमुक दिशामें हम अपने साम्राज्यका इतना विस्तार करेंगे, अमुक प्रदेशको यों अपने अधिकारमें रखेंगे, अमुक देशकी यह व्यवस्था करेंगे, आदि आदि। पर जिन देशोंके भाग्यका निपटारा वे आपसमें किया करते थे, उन देशोंसे कुछ पूछने ताछने अथवा उसको सूचना देनेकी कोई आवश्यकता नहीं समझते थे। यद्यपि जर्मनीके प्रधान मन्त्री हाल्वेग पर वहाँके समाचारपत्रों आदिने बहुत जोर डाला था कि आप स्पष्ट रूपसे यह बतला दीजिये कि शान्ति किन शर्तों पर होगी, पर वे बराबर चुप ही रहे। जर्मन लोग

बराबर उनसे यह कहा करते थे कि यदि आप इस बातका खुलासा कर देंगे, तो हम लोगोंको भी और हमारे शत्रुओंको भी यह मालूम हो जायगा कि जर्मनी केवल आत्म-रक्षाके लिए ही यह युद्ध कर रहा है, दूसरोंके देश जीतनेके लिए नहीं। पर हाल्वेगने इस सम्बन्धमें जो चुप्पी साधी तो कभी चोंच न खोली। जुलाई १९१७ में जर्मन रेस्टेगके एक प्रस्ताव पास करने पर भी उनके उत्तराधिकारी डा० मिकाइलस उन्हींकी नीति पर दृढ़ रहे और इस सम्बन्धमें उन्होंने भी अपना मौन न तोड़ा। पोपने युद्ध रोकनेके लिए जो उद्योग किया था, उसके उत्तरमें भी जर्मनीने वैसी ही ऊटपटाँग बातें कही थीं, जैसी उसने पहले भी कई बार युद्धके उद्देश्यके सम्बन्धमें कही थीं। ब्रेस्ट लिटोस्क और बुखारेस्टमें उसने जो सन्धियाँ की थीं, वे भी सभी बातोंमें पुराने ही ढंगकी थीं। उनमें भी उसी पुरानी और बल-प्रधान नीतिका पालन किया गया था। यहाँ तक कि अन्त समयमें भी जब जर्मनीके पूरी तरह हारनेकी नौबत आ गई, तब जर्मन राजनीतिज्ञ यही कहते थे कि हम केवल अपना बल दिखलाकर और प्रभुत्व स्थापित करके ही युद्ध रोकेंगे, इससे पहले या और किसी प्रकार नहीं मानेंगे।

दुर्भाग्यवश दूसरा दल भी अपना उद्देश्य बतलानेमें इसी प्रकारकी आनाकानी करता था। जब तक अमेरिका युद्धमें सम्मिलित नहीं हुआ था, तब तक किसीको निश्चित रूपसे यह नहीं मालूम था कि मित्र राष्ट्रोंके सन्धि और शान्ति आदिके सम्बन्धमें क्या विचार हैं और वे किन शर्तों पर इस युद्धको रोकेंगे। उन लोगोंसे भी बराबर यही कहा जाता था कि आप साफ साफ यह बतला दें कि इस युद्धका अन्त किन शर्तों पर होगा और आपका अन्तिम उद्देश्य क्या है। यदि वे यह बात मान लेते और अपना मतलब साफ साफ बतला देते, तो संसारके साथ साथ जर्मनोंको भी यह मालूम हो

जाता कि कैसरने केवल आत्म-रक्षाके लिए ही यह युद्ध नहीं ठाना है, बल्कि उनका उद्देश्य दूसरोंके देशों पर अधिकार करना है। पर मित्र राष्ट्र भी इस सम्बन्धमें स्पष्ट रूपसे कुछ कहनेके लिए तैयार न थे। यदि दोनों पक्षोंमेंसे किसी पक्षकी भी युद्ध-क्षेत्रमें पूर्ण विजय हो जाती, तो युद्ध स्थगित होनेके समय तक किसीको यह न मालूम होता कि सन्धि किस आधार पर होगी। सभी राजनीतिज्ञ अपने अपने मनमें यही सोचते थे कि हम शत्रुको पूर्ण रूपसे परास्त करके संसारसे उसका नाम-निशान मिटा देंगे। इन्हीं सब बातोंको सोचकर राष्ट्रपति विलसनने युरोपियन राजनीतिज्ञोंसे कहा था कि न्याययुक्त और स्थायी शान्ति तभी होगी, जब युद्ध-क्षेत्रमें किसी पक्षकी विजय न होगी और दोनों पक्ष समान समझे जायँगे।

जिस समय युद्ध जोरोंसे हो रहा था, उस समय योद्धा राष्ट्रोंके स्वतन्त्र विचारवाले लोग बराबर समाचारपत्रोंमें गुप्त सन्धियोंकी निन्दा किया करते थे। वे कहा करते थे कि आज तक जिस ढङ्ग और जिस भावसे युरोपमें राजकीय व्यवस्थाएँ होती रही हैं, यदि उसी ढंग और उसी भावसे इस बार भी सब व्यवस्था होगी, तो संसारका संकट और भी बढ़ जायगा। उस दशामें न तो राष्ट्र संघकी स्थापना सम्भव होगी और न संसारका सामरिक व्यय और सामग्री घटने की। यहाँ तक कि ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांसमें भी, जहाँके निवासी अधिक समझदार और जानकार हैं, गुप्त सन्धियोंकी निन्दा की जाती थी और भावी व्यवस्थाके कार्यक्रमकी दिल्लगी उड़ाई जाती थी। ये सब लोग जर्मन कूटनीति और उसके अनुकरणकी निन्दा करते थे; इसलिए बड़े बड़े अधिकारी ऐसे आलोचकों पर यह कटाक्ष करते थे कि ये जर्मनीके साथ सहानुभूति रखते हैं। यही नहीं बल्कि जिस प्रकार जर्मनीमें सरकारके

निन्दक तङ्ग किये जाते थे, उसी प्रकार इन देशोंमें भी गुप्त सन्धियों-के निन्दक तङ्ग किये जाते थे। जब पार्लामेण्टमें कोई महत्वका प्रश्न होता था, तब सरकारकी ओरसे कभी उसका स्पष्ट उत्तर नहीं दिया जाता था। केवल यही कह दिया जाता था कि अभी इस बात-को स्पष्ट करनेमें सरकारकी हानि है; अथवा इसी प्रकारका कोई और बहाना कर दिया जाता था। यदि समाचारपत्रोंमें कोई इस प्रकारके प्रश्नात्मक लेख लिखना चाहता था, तो सेन्सरकी कृपासे वह लेख प्रकाशित ही न हो सकता था। जब समझदार लोग अपने न्याययुक्त विचार प्रकट करना चाहते थे, तब उनको यह सन्देह होने लगता था कि कहीं इन विचारोंके प्रकट होनेके कारण सरकार हमारी देशहितैषितामें सन्देह न करने लग जाय। प्रजातन्त्र शासन-के लिए यह एक बहुत बड़ी निन्दाकी बात है कि जब रूसमें एम० सेजोनोफ, फ्रान्समें एम० डेल्कैसी और इङ्गलैण्डमें लार्ड ग्रे अपने अपने परराष्ट्र सचिवके पदसे अलग कर दिये गये, तब भी उनको पदच्युत करनेवाले लोग अन्धे होकर उसी नीतिका समर्थन करने लग गये, जिस नीतिके कारण उक्त पर-राष्ट्र सचिव अपने अपने पदोंसे पदच्युत किये गये थे! ये लोग सीमा और राजनीति सम्बन्धी जो परिवर्तन करना चाहते थे, वे परिवर्तन देशमें अच्छे नहीं समझे जाते थे और इसी लिए इन लोगोंको अपने पदसे हाथ धोना पड़ा था। पर उन लोगोंको पदच्युत करके भी लोग उन्हींकी नीतिका पालन और समर्थन करते जाते थे। और मजा यह कि वे उस नीतिसे उस समय तक भली भाँति परिचित भी नहीं हुए थे! परम्परासे होनेवाली बातके प्रति अन्धविश्वास होनेका इससे बढ़-कर शायद और कोई अच्छा उदाहरण न मिलेगा। राष्ट्र एक बार जिस भले या बुरे मार्गमें लग जाता है, उस मार्गसे उसे हटानेके लिए जल्दी कोई तैयार नहीं होता। यदि यह बात न होती तो

युरोपियनन राष्ट्रोंकी नीति और कार्यक्रम अब तक कभीका बदल चुका होता।

इन सब बातोंको देखकर राष्ट्रपति विल्सनने कहा था कि अमेरिकाका मनरो सिद्धान्त सारे संसारमें प्रचलित कर दिया जाय। सब लोग सुखसे अपने अपने देशमें रहें, कोई किसी दूसरे-के देश पर आक्रमण या अधिकार करने न जाय। पर योद्धा राष्ट्रोंके समाचारपत्रोंको यह बात पसन्द नहीं आई। इसके दो कारण थे। एक तो यह कि वे चाहते थे कि कोई बाहरी आकर हम लोगोंके कामोंमें हस्तक्षेप न करे; हम युरोपवाले आपसमें जो चाहें, सो करें। और दूसरे यह कि वे यह नहीं चाहते थे कि जो राष्ट्र इस युद्धमेंसम्मिलित न हों, वे संसारकी भावी व्यवस्थाके सम्बन्धमें किसीप्रकारकी सम्मति प्रकट करें। जो लोग पुरानी राजनीति और शासन प्रणालीके भक्त अथवा साम्राज्यवादी थे, उनका राष्ट्रपतिकी बातों पर नाक भौं सिकोड़ना बिल्कुल स्वाभाविक था। दोनों पक्षोंके योद्धा राष्ट्र बराबर यही कहा करते थे कि हम छोटे छोटे राष्ट्रोंकी रक्षा करनेके लिए लड़ रहे हैं; और भविष्यमें संसारकी सार्वराष्ट्रीय व्यवस्था कुछ और ही ढङ्गकी होनी चाहिए; क्योंकि वर्तमान व्यवस्था और प्रणाली ही वर्तमान युद्ध और दूसरे सारे अनर्थोंकी जड़ है। पर पाठकोंको स्मरण रखना चाहिए कि ये सब बातें केवल इसी लिए कही जाती थीं कि बेचारी प्रजा बराबर लड़ो-मरती रहे और युद्धके लिए हमें बराबर धन देती रहे। तात्पर्य यह कि थोड़ेसे राजनीतिज्ञ अनेक प्रकारकी बातें बनाकर लोगोंको लड़ा रहे थे। युद्धके बड़े बड़े और साधु उद्देश्य बतलानेका एक कारण यह भी था कि जिसमें तटस्थ राष्ट्र हमको भारी परोपकारी और निस्स्वार्थ भावसे काम करनेवाला समझें और हमारे प्रति उनके मनमें सहानुभूति उत्पन्न हो। यदि योद्धा

देशके लिए यह भी मान लिया जाय कि वे अपना पक्ष प्रबल करनेके लिए छोटे छोटे राष्ट्रोंके अधिकारोंकी रक्षा करना चाहते थे और उनकी स्वतन्त्रता नष्ट नहीं होने देना चाहते थे, तो भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनका यह सिद्धान्त केवल युरोपीय राष्ट्रोंके लिए ही मर्यादित था और युरोपसे बाहरके राष्ट्रोंके लिए वे कभी इन आदर्श सिद्धान्तोंका पालन नहीं करना चाहते थे। हमें आशा है कि इस कथनके सम्बन्धमें पाठकोंको किसी प्रकारके प्रमाणकी आवश्यकता न होगी; और युद्धके बाद एशिया आदिके साथ अब तक जो कुछ हुआ है, उसीको देखकर वे हमारे इस कथनकी सत्यता मान लेंगे। युद्धके आरम्भमें ढाई वर्षों तक युरोपीय राजनीतिज्ञोंने युद्ध-सम्बन्धी सब बातोंको केवल इसी लिए पूर्ण रूप से अपने हाथोंमें रखा था कि वे समझते थे कि विजय प्राप्त करनेके उपरान्त हम अपने विपक्षियोंका संसारसे नाम-निशान तक मिटा डालेंगे। साम्यवादियों और उदारमतवादियोंने पुराने राजनीतिज्ञोंकी मनमानी कार्रवाइयोंके सम्बन्धमें बहुत कुछ कोलाहल मचाया था, पर फल कुछ भी न हुआ। पर जब १९१७ में रूसमें राज्यक्रान्ति हो गई, तब युरोप और संसारकी भावी व्यवस्थाका काम युरोपीय कूटनीतिज्ञोंके हाथसे निकल गया और संसारके सामने उन गुप्त सन्धियोंका प्रश्न आ खड़ा हुआ जो उस समय तक योद्धा राष्ट्रोंमें एक दूसरेके साथ हुई थीं।

रूसकी राज्यक्रान्ति पर शीघ्र ही वहाँके गरम दलवालोंका अधिकार हो गया। राज्यक्रान्ति करके गरम दलवाले रूसके मालिक बनने लगे। वहाँके नरम दलवाले तो पुराने शासनका अन्त करनेमें समर्थ थे ही नहीं; क्योंकि किसी देशका नरम दल कभी किसी प्रकारकी उन्नति करनेमें समर्थ नहीं होता। सब जगह असल काम केवल गरम दलवाले ही करते हैं। इसी नियमके अनुसार

रूसका गरम दल भी चाहे अच्छा और चाहे बुरा परिवर्तन करके देश पर अधिकार करने लगा। उस समय नरम दलवालोंने भी आगे बढ़कर दूसरोंके मारे हुए शिकार पर हाथ साफ करना चाहा। पर भला रूसमें यह कब हो सकता था कि "दुःख सहें बी फाख्ता और कौवे अण्डे खायँ"? साम्यवादियोंने रूसमें राज्य-क्रान्ति की थी, इसलिए वे ही देशके नये स्वामी भी हुए। उन्होंने मित्र राष्ट्रोंको यह विश्वास तो दिला दिया कि हम युद्ध बराबर जारी रखेंगे, पर साथ ही उन्होंने पुरानी नीति और पुराने ढङ्गोंकी कलई भी खोल दी। उन्होंने साफ कह दिया कि पुरानी रूसी सरकारने प्रजाको बिना सूचित किये ही जो गुप्त सन्धियाँ की थीं, उनको माननेके लिए हम कदापि बाध्य नहीं हैं। दूसरे देशों पर आक्रमण करके उनको अपने अधिकारमें करना और दूसरे देशोंकी प्रजाको अपना गुलाम बनाना रूसी राज्यक्रान्तिके उद्देश्य और भावके विपरीत था, इसलिए उन्होंने मित्र राष्ट्रोंसे कहा कि आप लोगोंमें अब तक जो अनुचित समझौते और दूषित सन्धियाँ हुई हैं, उनमें आप लोग परिवर्तन और सुधार कर डालिये; और स्पष्ट रूपसे इस बातकी घोषणा कर दीजिये कि इस युद्धका उद्देश्य एकतन्त्री शासनका नाश और प्रजातन्त्र शासनकी वृद्धि करना है। जब रूस पर बोल्शेविकोंका अधिकार हो गया, तब अव्यवस्था और अराजकता फैल जानेके कारण, अथवा अधिकारियोंके सिद्धान्तों और विचारोंके कारण, रूसने केवल अपने पुराने उपनिवेशोंका ही अधिकार नहीं त्याग दिया, बल्कि यह भी कह दिया कि अब हम एशियामें भी किसी नये देश पर अधिकार न करेंगे।

जारके पदच्युत होनेके कुछ ही सप्ताहोंके उपरान्त, जर्मनीके यह कहने पर कि हम अपनी पनडुब्बियोंसे जहाजोंका नष्ट करना नहीं छोड़ेंगे, अमेरिका भी आकर युद्धमें सम्मिलित हो गया। जब

जनवरीमें राष्ट्रपति विल्सनने अमेरिकन सिनेटमें कहा था कि अमेरिका संसारके इतिहासमें एक नया युग स्थापित करना चाहता है और समस्त देशोंमें इस सिद्धान्तका प्रचार करना चाहता है कि बिना शासितोंकी सम्मतिके कोई विदेशी उन पर शासन न कर सके, तब युरोपियन राजनीतिज्ञोंमें बड़ा कोलाहल मचा था। पर इस बार जब युद्धकी घोषणा करनेके कुछ ही पहले उन्होंने फिर वही बात कही और यह भी कहा कि हम जर्मनोंके अत्याचारका अन्त करके सारे संसारमें शान्ति स्थापित करनेके लिए युद्धमें सम्मिलित हो रहे हैं, तब युरोपियन राजनीतिज्ञोंने बहुत प्रसन्नता प्रकट की थी। इसका मुख्य कारण यह था कि उस समय युरोपियनोंको अमेरिकाकी सहायताकी बहुत अधिक आवश्यकता थी। यदि यह बात न होती तो वे फिर इस बार भी राष्ट्रपतिकी बातोंका विरोध करते। राष्ट्रपतिकी इस घोषणाके सम्बन्धमें फ्रान्सकी पार्लमेण्टमें एम० रिबटने कहा था कि युरपमें वही शान्ति स्वीकृत हो सकती है, जिसका मूल आधार यह हो कि प्रत्येक राष्ट्रको स्वभाग्यनिर्णयका अधिकार प्राप्त हो।

एम० रिबटका कथन अक्षरशः यही था। पर यदि उनके इस कथनका कोई यह अर्थ लगाना चाहता कि सारे संसारके प्रत्येक राष्ट्रको स्वभाग्यनिर्णयका अधिकार प्राप्त हो, तो शायद सबसे पहले एम० रिबट ही उसका घोर विरोध करनेके लिए कमर कसकर उठ खड़े होते और बिना आगा-पीछा किये कह बैठते कि मेरा अभिप्राय तो केवल युरोपियन राष्ट्रोंसे था; सारे संसारके राष्ट्रोंसे इस स्वभाग्यनिर्णयवाले सिद्धान्तका क्या सम्बन्ध? आपने तो अपना मतलब लगा लिया, पर यदि उसी प्रकार एशिया या अफ्रिकावाले भी आपकी बातोंका मतलब लगाने लगें, तब यही हो न कि युरोपियनोंके प्रभुत्वमें बाधा आ पड़े।

जो युद्ध केवल युरोपीय युद्धके रूपमें आरम्भ हुआ था, वह आगे चलकर संसारव्यापी युद्ध हो गया। पिछली चार शताब्दियोंमें युरोपियन शक्तियाँ या तो युरोपमें ही आपसमें लड़ी थीं और या युरोपके बाहर दूसरे देशों पर अधिकार करनेके लिए। अब तक युरोपियन लोग प्रायः दूसरे देशोंमें जाकर वहाँके निवासियोंको इसी उद्देश्यसे अपनी सेनामें भर्ती करते थे कि जिसमें वे लोग अवसर पड़ने पर उनके विरोधी दूसरे युरोपियनोंकी हत्या करें। पर उन युद्धों और गत युरोपीय महायुद्धमें विशेष अन्तर था। जर्मनोंके आरम्भिक आक्रमणोंको रोकनेके लिए अँगरेज और फ्रान्सीसी एशिया और अफ्रिकासे जितने अधिक सैनिक ला सके थे, उतने ले आये थे। उस समय वे लोग कहते थे कि ये सब सैनिक हमारे भाई हैं, जो जंगलियोंके आक्रमणसे सभ्यताकी रक्षा करनेके लिए आये हैं और हमारे साथ मिलकर लड़ रहे हैं। उन लोगोंसे यह भी कहा जाता था कि आप लोग अपनी स्वतंत्रताके लिए फ्रान्सके युद्ध-क्षेत्रमें आकर युद्ध कीजिये। मिस्र, मेसोपोटामिया, गेलिपोली और सेलोनिका आदिमें बहुत अधिक देशी सैनिकोंसे काम लिया गया था। जिसमें एशिया और अफ्रिकावाले लड़नेके लिए खूब उत्साहित हों और युद्धके कष्टोंको प्रसन्नतापूर्वक सहें, इसलिए उनसे कहा जाता था कि यह युद्ध तो आप ही लोगोंका है और आप ही लोगोंकी स्वतंत्रताकी रक्षाके लिए हो रहा है। पर जब युरोपवा-लोंका काम निकल गया, तब एशिया और अफ्रिकावालोंकी स्वतं-त्रताकी जैसी रक्षा हुई, वह उनका जी ही जानता होगा।

उन दिनों फ्रान्सके गोले-बारूद आदिके कारखाने उसके पूर्वी अफ्रिका और एशियाके उपनिवेशोंके मजदूरोंसे भरे रहते थे। उनमेंसे बहुत से मजदूर तो जबरदस्ती पकड़कर काम करनेके लिए लाये गये थे। वे ही लोग फ्रान्सके बन्दरगाहोंमें जहाजों परसे

माल उतारा करते थे और वे ही लोग वहाँकी गलियोंमें झाड़ू दिया करते थे। जापानके जहाज प्रशान्त महासागरमें पहरा दिया करते थे और भारत, न्यू जीलैण्ड तथा आस्ट्रेलियासे युद्धक्षेत्रमें जानेवाले सैनिकोंकी मार्गमें रखवाली किया करते थे। सिंगापुरके विद्रोहका दमन जापानियोंने ही किया था और भूमध्य सागरमें पनडुब्बियोंको अधिक उपद्रव करनेसे भी उन्होंने रोका था। फ्रान्सीसी समाचारपत्रोंके सम्पादक समझते थे कि बिना जापानी सेनाकी सहायताके कभी विजय हो ही नहीं सकती, इसलिए वे जापानसे अपनी सेना भेजनेके लिए कहा करते थे। साइबेरियामें बोल्शेविकोंके विरुद्ध सबसे अधिक सहायता जापानसे ही मिली थी। चीनने फ्रान्समें लाखों मजदूर भेजे थे जिनमेंसे हजारों लाखोंको अँगरेजोंने युद्धक्षेत्रमें ऐसे स्थानों पर काममें लगा दिया था जहाँ वे सहजमें मारे जा सकते थे। स्याम और भारतने तो फ्रान्समें लड़नेके लिए लाखों सैनिक ही भेजे थे। भारतने दस बारह लाख सैनिकोंके अतिरिक्त अरबों रुपयेकी सहायता ग्रेट ब्रिटेनको दी थी। यदि भारतकी पूरी सहायताका उल्लेख किया जाय, तो एक बड़ा पोथा तैयार हो जाय। उत्तर और दक्षिण अमेरिकाकी अधिकांश रियासतें युद्धमें सम्मिलित हुई थीं। एशियावालोंसे सबसे अधिक सहायता रूसने ली थी। उसने बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ भी एशियावालोंकी सहायतासे ही जीती थीं और शत्रुओंके विकट आक्रमणोंसे बचनेके लिए घोर संकटके समयमें भी उन्हीं लोगोंसे सहायता पाई थी। रूसके सबसे अच्छे सैनिक कज्जाक और तातार एशियाके ही थे। बोल्शेविकोंने रूस पर किरगीजों और भाड़ेके चीनियोंकी सहायतासे ही अधिकार प्राप्त किया था। यदि उस विकट अवसर पर संसारके दूसरे महादेशोंके लोग युरोपवालोंकी सहायता न करते, तो थोड़े ही समयमें ये युरोपियन

आपसमें अच्छी तरह कट मरते और कदाचित् संसारमें उनका कहीं नाम-निशान भी न रह जाता। न इतने दिनों तक युद्ध चलता, न उनकी जीत होती और न उस जीतके परिणाम स्वरूप संसार पर इतने अधिक संकट आते। जिस समय मित्र राष्ट्रोंने उत्तर और दक्षिण अमेरिकाकी रियासतोंसे यह कहा था कि इस युद्धका उद्देश्य यह है कि संसारके समस्त राष्ट्रोंको स्वभाग्यनिर्णय-का अधिकार प्राप्त हो और कोई सबल किसी दुर्बल पर अत्या-चार न कर सके, ऐसे युद्धमें आप लोगोंको आकर अवश्य सहा-यता देनी चाहिए, उस समय वे केवल बेल्जियम, सर्बिया, पोलैण्ड, बोहेमिया और रूमानियाकी ही रक्षा करना चाहते थे। उस समय तो उन लोगोंने किसी प्रकार अपना काम निकालना चाहा था और यह नहीं सोचा था कि हम जो इतनी बड़ी बड़ी बातें बना रहे हैं, उनका आगे चलकर हमारे सहायकों पर क्या परि-णाम होगा। पर अब उसका परिणाम प्रत्यक्ष हो रहा है। अब वे ही सब लोग उनसे कह रहे हैं कि आप अपने प्रतिपादित सिद्धा-न्तोंका पूर्ण और विस्तृत प्रयोग कीजिये। युरोपवाले समय पड़ने पर अपनी कही हुई बातों और दिये हुए वचनोंको भूल सकते हैं; पर उनके बोझसे जिन लोगोंका नाकमें दम आ गया है, वे भला कैसे भूल सकते हैं? एशिया और अफ्रिकाके जिन देशोंने जरमनीको सारे संसार पर अधिकार करनेसे रोका था और अब भी जो लोग शान्ति महासभाके निर्णयोंको कार्य रूपमें परिणत करानेमें सहायता दे रहे हैं, वे साथ ही अपने अधिकारोंके लिए भी लड़ रहे हैं। इस काममें अमेरिकाकी उन लोगोंके साथ पूरी सहानुभूति है। युरोपमें भी बहुत से ऐसे न्यायशील उत्पन्न हो गये हैं जो यह चाहते हैं कि संकटमें हमारी पूरी पूरी सहायता करनेवालों और हमारी लाज रखनेवालोंके साथ पूर्ण न्याय होना

चाहिए; उनको उचित अधिकार मिलने चाहिएँ। वैसे और नाम मात्रके अधिकार नहीं जैसे अभी हालमें भारतको मिले हैं, बल्कि ऐसे अधिकार जो वास्तवमें अधिकार कहे जा सकते हों।

पेरिसकी शान्ति महासभामें शान्तिके जो ठीकेदार एकत्र हुए थे, उनके सामने एक बहुत ही विकट समस्या उपस्थित हुई थी। उन्हें यह निश्चय करना था कि सब देशोंकी अवस्था और सीमा आदि बिलकुल वैसी ही रहे जैसी युद्धके पहले थी, या सारे संसार-का फिरसे राजनीतिक संघटन होना चाहिए। पर जब यह निश्चय हो गया कि पहलेवाली स्थिति नहीं रह सकती और देशों-का फिरसे बँटवारा और संघटन होना चाहिए, तब यह प्रश्न उठा कि किस देशका कौन अधिकारी माना जाय और शासितोंकी सम्मति और स्वीकृति लेनेका क्या अर्थ है। बस इस प्रश्नके उठते ही मानों युरोपियनोंका संसारव्यापी प्रभुत्व संकटमें पड़ गया, उनकी जड़ हिल गई। मि० लायड जार्जने एक बार हाउस आफ कामन्समें कहा था कि जर्मनीसे अफ्रिकामें जो उपनिवेश छीने गये हैं, वे न्यायतः तब तक जर्मनीको नहीं लौटाये जा सकते, जब तक वहाँके निवासी इस बातसे सहमत न हों। यह बात कहकर मि० लायड जार्जने मानों अनजानमें अपने आपको जालमें फँसा दिया था और युरोपियनोंके प्रभुत्वकी जड़ हिला दी थी। इस प्रकार वे अपनी बातोंसे आप ही बँध गये थे। यदि जर्मनीके अफ्रिकन उपनिवेशोंके निवासी इतने समझदार हैं कि वे इस बातका निर्णय कर सकते हैं कि किसकी अधीनतामें रहनेमें हमारा अधिक हित है, तो दूसरी युरोपियन शक्तियोंकी अधीनतामें रहनेवाली प्रजाएँ भी अपने सम्बन्धमें ऐसा निर्णय क्यों नहीं कर सकतीं? जब तक युरोपमें भी और युरोपके बाहर भी एक ही नियमका पालन न किया जाय, तब तक यही मानना पड़ेगा कि

यूरोपवाले बड़े धोखेबाज हैं। वे पहले तो मीठी मीठी बातें करके अपना काम निकालते हैं और तब अन्तमें "जिसकी लाठी, उसकी भैंस" वाली नीतिका अनुसरण करते हैं। और इधर हालकी घटनाओंसे यही बात सिद्ध भी हुई है। यह एक ऐसा प्रश्न है जो उन लोगोंकी समझमें नहीं आ सकता, जो गत महायुद्धका उद्देश्य यूरोपका जर्मनीको परास्त करना ही समझते थे। यदि सचमुच महायुद्धका उद्देश्य केवल जर्मनीको परास्त करना ही था, तो फिर तरह तरहकी झूठी बातें बनाकर सारे संसारको धोखा क्यों दिया गया? और यदि धोखा दिया गया है, तो उस धोखेबाजीके परिणामके लिए भी तैयार हो जाइये। इस धोखेबाजीका केवल एक ही परिणाम हो सकता है और वही हो रहा है। वह परिणाम यह है कि जिन लोगोंके साथ धोखेबाजी की गई है, वे कहते हैं कि हम इन धोखेबाजोंका प्रभुत्व नहीं मानेंगे। जिन सिद्धान्तोंका इन्होंने हमसे सहायता लेते समय प्रतिपादन किया था, या तो उन्हीं सिद्धान्तोंका प्रयोग ये हमारे साथ भी करें, और नहीं तो हम स्वयं ही उनसे उन सिद्धान्तोंके अनुसार काम कराके छोड़ेंगे। मि० कर्टिसके इस सत्य सिद्धान्तसे कोई इनकार नहीं कर सकता कि संसार इतना अधिक विस्तृत नहीं है कि उसमें ऐसी बातोंके सम्बन्धमें दो नीतियोंकी गुंजाइश हो सके।

राष्ट्रपति विल्सनने शान्ति महासभाके सामने राष्ट्र-संघके सम्बन्धमें जो मसौदा पेश किया था, उसकी दसवीं धारामें यह कहा गया था कि राष्ट्र संघके जितने सदस्य हैं, वे अपने ऊपर इस बातकी जिम्मेदारी लें कि उसके प्रत्येक सदस्यके देशकी सीमा ज्योंकी त्यों रहेगी, वह न तो बढ़ाई जा सकेगी और न घटाई जा सकेगी। जो लोग पहले अनेक बातोंमें विल्सनके समर्थक थे, वे कदाचित् इसी धाराके कारण उनके विरोधी हो गये। आज तक कभी

किसी शान्ति सभामें कोई ऐसी व्यवस्था नहीं हुई थी जिसके अनुसार राष्ट्रोंका कोई ऐसा संघटन हुआ हो, जो इस बातकी पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले कि शान्ति सभाके निर्णयके अनुसार सदा काम होता रहेगा। पेरिसकी शान्ति महासभा तो गुप्त रूपसे सब काम करनेमें कई बातोंमें पुरानी शान्ति-सभाओंसे भी बढ़ गई थी। उसमें चार आदमियोंने मिलकर आपसमें कुछ समझौते करके स्थायी शान्ति स्थापित करनेका उद्योग किया था और यह आशा की थी कि शत्रु हमारे इन समझौतोंको बिना किसी प्रकारकी आपत्तिके मान लेगा और राष्ट्र-संघ सदाके लिए इस बातका जिम्मा अपने ऊपर ले लेगा कि शान्ति महासभाके निर्णयोंमें कभी बाधा न पड़ेगी।

राष्ट्रपति विलसनने शान्ति महासभामें राष्ट्र-संघके सम्बन्धमें जो प्रस्ताव उपस्थित किये थे, उनका उद्देश्य यह था कि युरोपमें राजनीतिक और सीमा सम्बन्धी जो नई व्यवस्था हो, उसे चिर-स्थायी रखनेकी जिम्मेदारी सब पर हो; और युरोपके बाहर जो पुरानी व्यवस्था चली आ रही है, वह ज्योंकी त्यों बनी रहे, उसमें किसी प्रकारका परिवर्त्तन न हो।

महायुद्धके आरम्भमें युरोपकी जो राजनीतिक व्यवस्था थी, वह कुछ तो सैकड़ों बरसोंके युद्धोंके उपरान्त निश्चित हुई थी और कुछ आर्थिक नियमोंकी प्रेरणासे हुई थी। युरोपसे बाहर युरोपवालोंके जितने उपनिवेश थे, वे सब केवल युद्ध करके ही प्राप्त किये गये थे और आगे उन पर वही अधिकार रख सकता था जो बलवान् हो। अनेक उपनिवेश ऐसे हैं जिन पर पहले युरोपके कुछ दूसरे राष्ट्रोंका अधिकार था; पर वे राष्ट्र अपने उपनिवेशोंकी रक्षा नहीं कर सकते थे, इसलिए उनसे अधिक बलवान् राष्ट्रोंने आकर उन पुराने राष्ट्रोंको मार भगाया था और उपनिवेशों पर स्वयं अधि-

कार कर लिया था। जो लोग युरोप तथा सारे संसारकी फिरसे राजनीतिक व्यवस्था करना चाहते थे, उनको पहले आँखें खोलकर यह देखना चाहिए था कि युरोपके राष्ट्रोंका विकास किस प्रकार हुआ है और उन्होंने दूसरे महादेशोंमें किस प्रकार अपने साम्राज्यका विस्तार किया है। यदि वे इस सम्बन्धके इतिहास पर ध्यान रखते और यह समझ लेते कि अब तक सब जगह "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली कहावतके अनुसार ही काम हुआ है, तो कदाचित् वे संसारकी भावी स्थायी शान्तिके सम्बन्धमें इतनी अधिक आशा न करते, और न इस प्रकारकी नई व्यवस्था करनेका ही साहस करते। यदि इस बातका अच्छी तरह विचार किया जाय कि राजनीतिक सीमाओं और औपनिवेशिक प्रसार पर आर्थिक समस्याओंका कितना अधिक प्रभाव पड़ता है, तो पता चलता है कि उपनिवेश प्राप्त करनेके लिए युद्ध नहीं किये जाते, बल्कि उपनिवेश-प्राप्तिके परिणाम-स्वरूप राष्ट्रोंको युद्ध करना पड़ता है। उस समय यह भी मालूम हो जाता है कि सब राष्ट्र अपने यहाँके मालकी बिक्री बढ़ानेके लिए घोर प्रतिद्वन्द्विता करते हैं और इसी उद्योगमें आपसमें लड़ पड़ते हैं। जर्मनीको तो इस बातके लिए सारा संसार दोषी बतलाता है कि वह अनुचित उपायोंसे अपने साम्राज्यका विस्तार करना चाहता था। पर कोई पूछे कि युरोपके दूसरे राष्ट्रोंने अपने अपने साम्राज्यका विस्तार किस प्रकार किया था? अन्तर केवल यही है कि और राष्ट्रोंने तो सैकड़ों बरसोंसे अपना कार्य आरम्भ करके महायुद्धके समय तक प्रायः समाप्त कर लिया था और जर्मनी वह काम महायुद्धके समय आरम्भ करना चाहता था। सबका काम करनेका ढंग बिलकुल एक ही था। युरोपियन राष्ट्रोंमें कदाचित् एक भी राष्ट्र ऐसा न होगा जो विशेष निन्दा अथवा विशेष प्रशंसाका

मात्र हों। लंकाके ये सभी निवासी बावन हाथके हैं। बात इतनी ही है कि इस समय कुछ लोग बलवान् हो गये हैं और इसी लिए वे उन लोगोंकी निन्दा कर रहे हैं जो उन्हींके दिखलाये हुए मार्ग पर चलकर बलवान् होना चाहते हैं। इस कथनकी सत्यता प्रमाणित करनेके लिए दूर जाने या प्राचीन इतिहासोंके पन्ने उलटनेकी आवश्यकता नहीं; युरोपके आधुनिक इतिहासमें ही इसका प्रमाण मौजूद है। इटलीमें भी राष्ट्रीय एकताके भाव उसी समय उत्पन्न हुए थे, जिस समय जर्मनीमें उत्पन्न हुए थे। इस-लिए वह भी अपना साम्राज्य बढ़ानेके लिए प्रायः उसी प्रकार छट-पटा रहा है, जिस प्रकार जर्मनी छटपटा रहा था। पर इटली चालाकी करके मित्र राष्ट्रोंमें मिल गया है, इसलिए वे उसकी निन्दा नहीं कर सकते। यदि महायुद्धमें उसने जर्मनीका साथ दिया होता, तो आज दिन वह भी उसीके समान निन्दनीय ठह-राया जाता। जर्मनीकी तरह आज उसकी भी हजामत बन गई होती।

यदि युरोपवाले यह समझते हों कि युरोपमें राजकीय और सीमा-सम्बन्धी जो पुरानी व्यवस्था थी, वह केवल बल-प्रयोग करके ही स्थापित की गई थी और उससे दूसरोंकी राजकीय स्वतंत्रता नष्ट होती थी, तो वे उस समय तक अपने यहाँ न्यायतः नई व्यवस्था नहीं कर सकते, जब तक वे इसी विचार और इन्हीं भावोंसे संसारके दूसरे महादेशोंकी भी व्यवस्था न करें। अब इस बीसवीं शताब्दीमें यह बात नितान्त असम्भव है कि युरोपमें तो किसी और नीतिका पालन हो और संसारके दूसरे अधीनस्थ देशोंमें कोई और नीति काममें लाई जाय। इस समय प्रायः सारे संसारमें अधीनस्थ जातियाँ इस बातका उद्योग कर रही हैं कि हम विदेशी शासकोंकी अधीनतासे मुक्त हो जायँ। दूसरी ओर

विदेशी शासक यह चाहते हैं कि दूसरे देशों पर हमारा अधिकार बना रहे और सम्भव हो तो कुछ बढ़ भी जाय। ऐसी दशामें शासक और शासित दोनों ही अपने अपने पक्षका समर्थन करनेके लिए कुछ दलीलें पेश करते हैं। नीचे हम शासकों और शासितों-का एक कल्पित कथोपकथन देकर यह बतलाना चाहते हैं कि दोनों पक्षोंकी दलीलें क्या और कैसी हैं। इन दलीलोंको पढ़कर ही विचारवान् पाठक यह समझ लेंगे कि दोनोंमेंसे किसका पक्ष पुष्ट और न्यायानुमोदित है।

(१) शासक—हमने अपना बहुत सा रुपया खर्च करके और अपने बहुत से आदमियोंका खून बहाकर तुम्हारे देश पर अधिकार किया है।

शासित—आपने बल-प्रयोग करके जो अधिकार प्राप्त किया है, उसे हम लोग नहीं मानते।

(२) शासक—हमने तुम्हारे पुराने शासकसे सन्धि करके तुम्हारे देश पर अधिकार प्राप्त किया है; और उस सन्धिको प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे सारे युरोपने मान लिया है।

शासित—हम आपकी उस सन्धिको माननेके लिए बाध्य नहीं हैं, क्योंकि वह सन्धि हमसे पूछकर नहीं की गई थी। और यदि आपकी सन्धिको सारा युरोप मान ले, तो भी हमें उससे कोई मतलब नहीं; क्योंकि युरोपके राजनीतिज्ञोंने आपकी सन्धिको मानते समय हमसे नहीं पूछा था। वे न तो हमारी इच्छासे परि-चित थे और न हमारा कल्याण ही चाहते थे। उन्होंने तो अपना कोई न कोई मतलब निकालनेके लिए ही आपकी वह सन्धि मान ली थी। इसलिए इस आधार पर भी आपका कोई स्वत्व नहीं टिक सकता।

(३) शासक—तुम्हारे शासक या राजा महाराजने यह देश हमको दिया है।

शासित—अब ऐसी बातोंके दिन गये। और फिर यह महा-युद्ध भी तो आप लोगोंने केवल इसी लिए किया था न कि आप यह नहीं मानते थे कि किसी शासकको अपनी प्रजाके भाग्यके निर्णयका कोई अधिकार नहीं है ?

(४) शासक—हम यहाँ बहुत दिनोंसे जमे हुए हैं और अब वह समय निकल गया जब कि हमारे अधिकारमें किसी प्रकारका सन्देह किया जा सकता था। अब तो तुम्हारा देश हमारे साम्राज्य-का एक मुख्य और आवश्यक अंग बन गया है।

शासित—फ्रान्सवाले सदासे यही कहते आये हैं कि एलसाक और लोरेन पर हमारा जो अधिकार है, वह किसी प्रकार छीना नहीं जा सकता। यदि यह बात फ्रान्सके लिए ठीक है, तो फिर वह हमारे लिए भी बिलकुल ठीक है। अपने देश पर हमें भी जो अधिकार प्राप्त है, वह किसी प्रकार छीना नहीं जा सकता।

(५) शासक—तुम्हारे देश पर हमारा कब्जा है और हम यहाँ शान्ति बनाये रखते हैं। न तो और कोई राष्ट्र यहाँ हमारा विरोध करता है और न तुम स्वयं ही हमारे विरोधी हो।

शासित—आपका इस देश पर इसी लिए कब्जा है कि आप हमसे रुपया वसूल करके उसी रुपयेसे हमें दबाये रखनेके लिए यहाँ बहुत बड़ी बड़ी सेनाएँ रखते हैं। दूसरे राष्ट्र आपका विरोध इसलिए नहीं करते। कि वे जानते हैं कि विरोध करने पर आप उनसे लड़ पड़ेंगे। या तो वे लोग आपसे अधिक बलवान् नहीं हैं और या उनको हमारे देशकी उतनी अधिक आवश्यकता नहीं

है। जिस दिन इन दोनोंमेंसे कोई एक बात हो जायगी, उस दिन वे आपका विरोध करनेके लिए तैयार हो जायँगे।

(६) शासक—यदि इस समय हम तुमको छोड़कर चले जायँ, तो दूसरे आक्रमणकारियोंसे तुम अपनी या अपनी देशकी रक्षा नहीं कर सकते।

शासित—इसकी चिन्ता तो हमें होनी चाहिए। आपको इससे क्या मतलब? और यदि सचमुच ही आपका इस बातसे कोई सम्बन्ध हो और आप यह समझते हों कि हमारे देश पर किसी दूसरेका अधिकार हो जानेके कारण आपकी कोई विशेष हानि होगी, तो जब कभी कोई दूसरा हम पर आक्रमण करने आवेगा, तब आप आकर उससे लड़ लीजियेगा। लेकिन आपने शान्ति महासभामें एक राष्ट्र संघका भी तो संघटन किया है न, जिसने अपने ऊपर इस बातकी जिम्मेदारी ली है कि कोई किसी दूसरेके देश पर आक्रमण न कर सकेगा। यदि यह बात ठीक हो और वास्तवमें आपका आदर्श यही हो, तो फिर आपके इस कथनमें कुछ भी तत्व नहीं रह जाता।

(७) शासक—लेकिन तुम्हारे देशको न छोड़नेका एक कारण यह भी तो है कि हमने तुम्हारे देशमें अपनी बहुत बड़ी पूँजी लगा रखी है। हमने तुम्हारे देशकी उन्नतिके लिए बहुत कुछ धन तो व्यय किया ही है, पर साथ ही तुमने अपने राष्ट्रीय ऋणका बहुत बड़ा अंश भी तो हमसे लिया है।

शासित—आपके इस कथनमें भी कुछ विशेष सार नहीं है; क्योंकि हमारे देशमें आपने जो पूँजी लगाई है, वह अपनी जिम्मेदारी पर और अपने ही लाभके लिए लगाई है। आपने हमारे राष्ट्रको जो ऋण दिया है, उसका अधिकांश आपने हमसे बिना पूछे

और बिना हमारी सम्मति लिये ही खर्च किया है। और उसका बहुत बड़ा अंश तो आपने केवल इसी लिए खर्च किया है कि जिसमें हम पर आपका अधिकार और भी दृढ़तापूर्वक बना रहे। हम यह बात केवल इसी लिए कह रहे हैं कि यदि आप हमारी दशामें होते और आपवाली दलील हम पेश करते, तो आप उसे कभी न मानते और वही जवाब देते जो हमने आपको अभी दिया है। और फिर आपने केवल हमारे राष्ट्रको तो ऋण दिया ही नहीं है, औरोंको भी तो दिया है। बेल्जियम आदि और भी अनेक छोटे मोटे देशों पर भी तो आपका ऋण है। जरा उन देशों पर भी जाकर कब्जा कीजिये, तो इस दलीलका मजा आपको तुरन्त मालूम हो जाय।

(८) शासक—पर हम तुम्हें लाभ पहुँचानेके लिए तुम्हारे देश पर शासन करते हैं।

शासित—परन्तु हमें लाभ पहुँचानेका आपका उद्देश्य मुख्य नहीं, बल्कि गौण है। जब कभी हमारे और आपके हित अथवा लाभमें विरोध उपस्थित होता है, तब यहाँ रहनेवाले आपके अधिकारी भाई अपने ही लाभका ध्यान रखते हैं और ऐसा काम करते हैं जिससे हमारी हानि होती है।

(९) शासक—हमारे शासनसे तुमको इतना अधिक आर्थिक लाभ हुआ है, जितनेकी तुम्हें कभी स्वप्नमें भी आशा नहीं थी। और यदि हम लोग तुमको छोड़कर चले जायँगे, तो फिर तुम लोग उस लाभसे वंचित हो जाओगे।

शासित—परन्तु स्वराज्य-सम्बन्धी हमारे जो अधिकार नष्ट हो गये हैं, उनकी इस आर्थिक लाभसे पूर्ति नहीं हो सकती। अपने लिए तो आप इन स्वतंत्रता-सम्बन्धी अधिकारोंकी बहुत कदर करते हैं और उन्हीं अधिकारोंके कारण आपकी सभ्यता इतने उच्च

शिखर पर पहुँची है। पर हमें वही स्वतंत्रता-सम्बन्धी अधिकार देनेसे आप इन्कार करते हैं।

(१०) शासक—तुम लोग अभी स्वराज्यके योग्य नहीं हो।

शासित—जिस जातिको अपना शासन आप करनेका अव-सर नहीं मिलता, वह पराधीन होनेकी अवस्थामें चाहे कितनी ही उन्नति क्यों न करे, पर न तो वह नैतिक उन्नति कर सकती है, न उच्च सभ्यता सम्पादित कर सकती है और न आत्म-सम्मानकी रक्षा कर सकती है।

(११) शासक—तुम्हारी जातिके जिन लोगोंको हमने अपने शासनमें उच्च पद दिये हैं, अथवा तुम लोगोंमेंसे जो बड़े बड़े जमीं-दार या शिल्पी आदि हैं, वे यह नहीं चाहते कि हम लोग यहाँसे जायँ। यदि हम लोग यहाँसे चले जायँगे, तो वे अपना बड़ा भारी दुर्भाग्य समझेंगे।

शासित—आपने हमसे ही धन लेकर हमारी जातिके बड़े बड़े कर्मचारियोंको एक तरहसे रिश्वतके रूपमें दिया है और उनको अपनी ओर मिला लिया है। वे तो आपके हाथकी कठपुतली हो रहे हैं; क्योंकि उनकी जीविका आपके हाथमें है, न कि हमारे हाथमें। इसी प्रकार जमींदारों आदिको भी आपने अपनी ओर मिला लिया है। यहाँके जमींदारों आदिके साथ आप उतनी अधिक रिआयत करते हैं, जितनी स्वयं अपने देशमें वहाँके जमींदारोंके साथ भी नहीं करते। आप अपने देशमें तो सब लोगोंको मत देनेका अधि-कार देते हैं, कानूनकी दृष्टिसे सबको समान समझते हैं और प्रजा-तंत्रके सिद्धान्तोंका पूर्ण रूपसे मानते हैं; पर हमारे यहाँ आपने ऐसी नौकरशाही और नवाबी कायम कर रखी है जो किसीके सामने उत्तरदायी ही नहीं है; क्योंकि आप अच्छी तरह समझते

हैं कि इस देशके कुछ लोगोंको अपनी ओर मिला रखनेका सबसे अच्छा उपाय यही है कि उनको बड़े बड़े पद और यथेष्ट अधिकार दे दिये जायँ।

(१२) शासक—यदि हम लोग तुम्हारे देशसे चले जायँ, तो यहाँ तुरन्त अराजकता फैल जायगी। हमने तुम्हारे देशमें बहुत सी पूँजी भी लगाई है और तुम्हारे राष्ट्रीय ऋणकी जमानतें भी की हैं। केवल हमारे देशके लोगोंने ही नहीं, बल्कि और और देशोंके लोगोंने भी केवल इसी लिए यहाँ बहुत बड़ी पूँजी लगाई है कि वे जानते हैं कि जब तक हम तुम्हारे देशका शासन करेंगे, तब तक उनकी लगाई हुई पूँजीमें धोखा नहीं हो सकता। इसी लिए न तो हम यहाँसे जाना चाहते हैं और न अपने हाथसे शासनाधिकार निकलने देना चाहते हैं।

शासित—भला आप ही बतलाइये कि ऐसा कौन सा देश है जहाँ बिना अराजकता, गृहयुद्ध और राज्यक्रान्तिके स्वराज्य स्थापित हुआ हो और जहाँ स्वराज्य स्थापित होनेसे पहले बहुत सी जानें न गई हों और सम्पत्ति न नष्ट हुई हो। हम इतने मूर्ख नहीं हैं कि हम यह समझ लें कि बिना इन सब बातोंके ही हम आपकी बरा-बरीके हो सकते हैं। हम आपसे ही एक बात पूछते हैं। यदि आपके देश पर कोई ऐसा विदेशी शासन करता, जिसका धर्म, भाषा और संस्कार आदि सब बातें आपकी इन सब बातोंसे भिन्न होतीं और जो अपने आपको आपकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ समझता, तो क्या उसके शासनमें रहकर आप कभी स्वतन्त्रताके योग्य हो सकते थे? यदि आपके विकास और उन्नतिमें कोई विदेशी जाति बाधक होती, तो क्या आप अपनी वर्तमान उन्नतिके शिखर तक पहुँच सकते थे? आपने पूँजीकी बात फिर निकाली; इसलिए हमें कहना पड़ता है

कि रूसमें भी तो आपकी पूँजी लगी है, वहाँ भी तो आपका व्यापार है। क्या उस पूँजी और व्यापारकी रक्षाके लिए आप वहाँके विकासमें भी बाधक हो सकते हैं ?

इन बारह प्रश्नों और उत्तरोंमें यह दिखलानेका प्रयत्न किया गया है कि शासक और शासित अपने अपने पक्षका समर्थन करनेके लिए क्या क्या कहते हैं। जो लोग संसारमें स्थायी शान्ति स्थापित करना चाहते हैं, उनको शासकों और शासितोंकी इन दलीलों पर बिल्कुल निष्पक्ष भावसे विचार करना चाहिए।

गत महायुद्धके पहले भिन्न भिन्न देशोंके राष्ट्रीय आन्दोलनों पर दूर देशके निवासियोंका बहुत ही कम ध्यान जाता था। दूर देशोंकी साधारण प्रजाको पहले इस बातका पता भी न होता था कि संसारके किस कोनेमें कौन सा राष्ट्रीय आन्दोलन हो रहा है; तो फिर उस आन्दोलनके सारासारकी तो बात ही क्या है। जो लोग सारे संसारकी राजकीय परिस्थितिका ध्यानपूर्वक अध्ययन करते थे, अथवा जो लोग सारे संसारमें घूम घूमकर अपनी आँखों-से सब देशोंकी दशा देखा करते थे, उनको छोड़कर और बहुत कम लोग ऐसे हुआ करते थे जो दूसरे देशोंके राष्ट्रीय आन्दोलनोंसे परिचित होते थे। इसलिए युद्धके आरम्भमें शासक-पक्षके लोगोंने भिन्न भिन्न देशोंकी प्रजाओंकी राष्ट्रीय आकांक्षाओं आदिके सम्बन्धमें जो कुछ कहा था, उसीको सब लोगोंने सच मान लिया था। उदाहरणार्थ, उस समय कहा जाता था कि उक्रेन और फिनलैण्डमें जो आन्दोलन हो रहे हैं, वे जर्मनोंके बहकानेसे हो रहे हैं। यह भी कहा जाता था कि मिस्र और भारतमें अँगरेजोंका जो विरोध होता है, वह तुर्कीके कारण है; और अफ्रिकाके केवल जर्मन उपनिवेशोंके देशी निवासी ही अपने गोरे शासकोंके शासनसे

अपना पीछा छुड़ाना चाहते हैं; और राष्ट्रोंके उपनिवेशोंके निवासियोंमें वह भाव नहीं है। सर्बिया और इटलीकी सेनाओंके प्रति एल्बानियावालोंने अपनी जो शत्रुता और असन्तोष प्रकट किया था, उसके सम्बन्धमें कहा जाता था कि वह आस्ट्रियन षड्यन्त्रोंके कारण है। इसी प्रकार जर्मन समाचारपत्र यह कहा करते थे कि आस्ट्रिया-हंगरीके शासकोंको स्लव लोग जो तंग किया करते हैं, और अरब लोग तुर्कोंके विरुद्ध जो विद्रोह करते हैं, उसका कारण यह है कि मित्र राष्ट्रोंके आदमी उनको बहकाते और उसकाते हैं। तात्पर्य यह कि यदि किसीके अधिकृत देशमें शासकोंके विरुद्ध किसी प्रकारका आन्दोलन या उपद्रव होता था, तो या तो शासक लोग उसे बिल्कुल छिपानेका ही उद्योग करते थे और या उसका दोष अपने शत्रुओंके सिर मढ़ देते थे।

बहुत से राजनीतिज्ञ और पत्र-सम्पादक आदि पहले यही समझा करते थे कि युद्ध अथवा शान्ति महासभाके अधिवेशनोंके समय देशहितैषिता केवल इसीमें है कि यदि झूठी अफवाहें न फैलाई जायँ, तो कमसे कम सत्यको अवश्य दबा रखा जाय। पर ऐसा समझनेवाले लोग बड़े भारी भ्रममें थे। एक बार अमेरिकाके भूतपूर्व राष्ट्रपति टैफ्ट एक बड़ी सभामें राष्ट्र संघकी आवश्यकता और उपयोगिताके पक्षमें भाषण कर रहे थे और कह रहे थे कि रूसके बाल्टिक प्रान्तोंमें स्वराज्य होना चाहिए। उस समय बीचमें कोई पूछ बैठा—"और आयर्लैण्डमें क्या हो?" इस पर मि० टैफ्टने उत्तर दिया—"हमें ऐसी बात कहनी चाहिए जो कार्य-रूपमें भी परिणत हो सके। आयर्लैण्ड वास्तवमें ब्रिटिश साम्राज्यका एक भीतरी अंग है और उसकी बातोंमें हमें दखल नहीं देना चाहिए।" यदि राष्ट्र संघकी स्थापनाका मुख्य उद्देश्य यही हो कि सब बड़े बड़े राष्ट्र मिलकर अपने अपने अधीनस्थ

देशोंको दबाये रखें और उनको उठने न दें, तब तो मि० टैफ्टका उत्तर बहुत ही युक्तियुक्त है। पर यदि यह बात न हो और संसारके सब राजनीतिज्ञ मनुष्य बनकर दुर्बलोंकी रक्षा और उन्नति करना चाहते हों, तो मि० टैफ्टका उक्त कथन बहुत ही अनुचित और हानिकारक है। अपने मनमें जो बात रखकर मि० टैफ्टने उक्त उत्तर दिया था, यदि वही भाव संसारके और सब राजनीतिज्ञोंका भी हो, तो कहना पड़ेगा कि सब लोग यही चाहते हैं कि सच्चा राष्ट्र-संघ स्थापित ही न हो; अथवा उसे स्थापित करनेका वास्तविक उद्देश्य कभी सिद्ध ही न हो। गत महायुद्धने तो सारे संसारमें एक नवीन जाग्रति उत्पन्न कर दी है। अब तो सब लोग यही चाहते हैं कि शासकों और शासितोंके लिए कोई नई और एक ही नीति काममें लाई जाय। यह न हो कि शासक अपने और अपने साथियोंके सम्बन्धमें तो कोई और नीति काममें लावें और शासितोंके सम्बन्धमें उसके बिलकुल ही विपरीत कोई और ही नीति।

राष्ट्र-संघकी स्थापनासे युरोपियनोंके प्रभुत्व पर चार ओरसे आक्रमण होता है। एक तो उन राष्ट्रोंकी ओरसे जिनके पास उपनिवेश आदि नहीं हैं; दूसरे ब्रिटिश साम्राज्यके स्वराज्यभोगी उपनिवेशों आदिकी ओरसे; तीसरे उन शासितोंकी ओरसे जो राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टिसे युरोपियनोंके प्रभुत्वके शिकार बने हुए हैं; और चौथे सारे संसारके प्रजातंत्रवादियोंकी ओरसे। इनमेंसे पहले दोनों वर्गोंके लोग तो अपने हितकी दृष्टिसे युरोपियनोंके प्रभुत्वके शत्रु हैं; तीसरे वर्गके लोग इसलिए उसके विरोधी हैं कि राष्ट्र संघकी स्थापना जिस नई व्यवस्थाके उद्देश्यसे हुई है, वह व्यवस्था उनके लिए बहुत ही लाभदायक है; और चौथे वर्गके लोग इसलिए विरोधी हैं कि वे समझते हैं कि प्रजातंत्रके सिद्धान्तोंका सबसे बड़ा शत्रु अनियन्त्रित शासन ही है।

कुछ लोग यह कहते हैं कि हम भी एशिया और अफ्रिकाके उपनिवेशोंके स्वामियोंके समान ही हैं, इसलिए उन उपनिवेशोंमें हमको भी व्यापार करनेका वैसा ही अधिकार होना चाहिए जैसा वहाँके स्वामियोंको है। और फिर राष्ट्र संघके कारण सारे संसारमें जो नई व्यवस्था होगी, उसके वे भी तो जिम्मेदार होंगे, इसलिए वे युरोपियनोंका प्रभुत्व नहीं मानना चाहते। आस्ट्रेलिया और कनाडा आदिके अँगरेजोंने पुराने उपनिवेशोंकी रक्षा करने और नये उपनिवेशोंको जीतनेमें बहुत अधिक सहायता दी है, इसलिए वे चाहते हैं कि वहाँके स्वामित्व और प्रबन्ध आदिमें हम भी सम्मिलित हों। कुछ लोग युरोपियन या अमेरिकन न होनेके कारण ही स्वराज्यके अधिकार नहीं प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे लोग राष्ट्र संघसे कहते हैं कि तुम यह मत मानो कि हम दास हैं और सदा दास ही रहेंगे। युरोपियनोंके प्रभुत्वके ऐसे ऐसे विरोधियोंके खड़े हो जानेके कारण इतने अधिक प्रश्न और समस्याएँ आ उपस्थित होती हैं, जिन पर यहाँ विचार करनेके लिए हमारे पास स्थान नहीं है। और फिर युरोपियन प्रभुत्वके सबसे बड़े शत्रु चौथे वर्गके लोग हैं, जो यह समझते हैं कि सारे संसारमें स्थायी शान्ति तभी स्थापित होगी, जब विशिष्ट वर्गोंके विशिष्ट स्वत्व नष्ट हो जायँगे, सब लोगोंको समान स्वत्व प्राप्त होंगे और संसारके सभी देशोंमें प्रजातंत्र शासन स्थापित हो जायगा। और जब तक सब जगह प्रजातंत्र स्थापित न होगा, तब तक इसी प्रकारके लड़ाई-झगड़े होते रहेंगे और कभी शान्ति न होगी।

यदि कोरे आदर्श विचारोंको एक ओर रख दिया जाय और युरोपके केवल आधुनिक इतिहासको ही देखा जाय, तो भी इस कथनमें किसी प्रकारकी अत्युक्ति नहीं हो सकती कि युरोपियनोंके प्रभुत्वसे सदा सारे संसारकी शान्तिके भंग होनेकी सम्भावना बनी

रहती है। गत महायुद्धमें और शान्ति महासभाके समय सब लोग जर्मनीको ही दोषी समझते थे और संसारकी स्थायी शान्तिके लिए उसके हाथ-पैर तोड़ देना आवश्यक मानते थे। पर साथ ही हमें इस बातका भी ध्यान रखना चाहिए कि बीसवीं शताब्दीके आरम्भ-में अँगरेज राजनीतिज्ञ और अँगरेजी समाचारपत्र जर्मनीको नहीं, बल्कि फ्रान्सको सारे संसारकी शान्तिका बाधक मानते थे। फ्रान्स-के उपरान्त अँगरेजोंका सबसे बड़ा शत्रु रूस माना जाने लगा। यही नहीं, बल्कि अँगरेज साम्राज्यवादी जरमनीको इस योग्य समझते थे कि उसके साथ मित्रता स्थापित की जाय। यदि इस कथनकी सत्यताके प्रमाण ढूँढे जायँ, तो एक नहीं अनेक मिलेंगे। सेसिल रोड्सने यह बात कई बार कही थी और अपने अन्तिम कालके पत्रोंमें भी यही लिखा था। ग्रेट ब्रिटेनके परराष्ट्र विभाग और मोरक्कोके अँगरेज राजदूतोंमें जो पत्र-व्यवहार हुआ था, वह भी इस बातका एक पुष्ट प्रमाण है। उस समय मोरक्कोमें अँगरेज लोग जी-जानसे जर्मनोंका साथ दे रहे थे और हर तरहसे फ्रान्सका विरोध करते थे। इसके अतिरिक्त लन्दनके अनेक समा-चार-पत्रों और विशेषतः डेली मेलकी फाइलोंमें भी इसके अनेक प्रमाण भरे पड़े हैं। उनमें लार्ड नार्थक्लिफने फ्रान्सका घोर विरोध किया था और जर्मनीकी प्रशंसाके पुल बाँध दिये थे। पर १९१४ के बादसे अब तक जो घटनाएँ हुई हैं, उनसे यह जान पड़ता है कि मानों ग्रेट ब्रिटेन और फ्रान्समें कभी किसी प्रकारका विरोध या वैमनस्य था ही नहीं। पर उससे केवल पन्द्रह वर्ष पहले अँगरेजों और फ्रान्सीसियोंमें इसी लिए युद्ध होता होता बच गया था कि उस समय फ्रान्स इतना बलवान् नहीं था कि अँगरेजोंका मुकाबला करके अफ्रिकामें उपनिवेशोंके सम्बन्धमें अपनी आकांक्षाएँ पूरी कर सकता। ग्रेट ब्रिटेन और रूसमें केवल इसी लिए युद्ध

होता होता बच गया था कि जापानने ही पहले रूस पर आक्रमण कर दिया था। भारत और मिस्रका इधर थोड़े दिनोंका इतिहास पढ़नेसे यही सिद्ध होता है कि इन देशोंमें ग्रेट ब्रिटेनके मार्गमें जरमनीने नहीं, बल्कि रूस और फ्रान्सने काँटे बोये थे।

सितम्बर १९१७ में लीड्स नगरमें व्याख्यान देते समय मि० एसक्विथने कहा था कि हम लोग जर्मनीका सैनिक बल इसलिए नष्ट करना चाहते हैं कि उससे नये नये झगड़े खड़े होते हैं। पर उसे नष्ट करके हम पुराने ढंगकी शान्ति नहीं स्थापित करना चाहते। हम तो एक ऐसी नई व्यवस्था करना चाहते हैं जिसमें छोटे और बड़े सभी राष्ट्र सुखपूर्वक रह सकें और स्वतंत्रतापूर्वक अपनी उन्नति कर सकें। हम इस बार इतिहासमें पहले पहल एक उच्च आदर्शको कार्य रूपमें परिणत करनेके लिए आगे बढ़ रहे हैं। इस अवसर पर अमेरिकाने भी आकर हमारा हाथ बँटाया है, इसलिए अब यह केवल युरोपकी नीतिकी ही बात नहीं रह गई है, बल्कि सारे संसारकी नीतिकी बात हो गई है। अब तो हम सब लोग मिलकर एक ऐसा संघ स्थापित करेंगे जिसका मुख्य आधार न्याय और स्वतंत्रता पर होगा।

चाहे इस समय मि० एसक्विथके इन विचारोंके अनुसार कुछ भी काम न होता हो, पर फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि शीघ्र ही एक ऐसा समय आवेगा जब कि सबको इन विचारोंके अनुसार कार्य करनेके लिए विवश होना पड़ेगा। अब वे दिन गये जब कि थोड़े से बलवान् मिलकर निर्बलोंके सम्बन्धमें मनमाना निर्णय कर लिया करते थे। अब तो लोगोंकी आँखें खुल गई हैं और वे युरोपियनोंको इस बातके लिए विवश कर रहे हैं कि युद्ध-कालमें आप लोगोंने अपने ही मुँहसे जो बहुत बड़ी बड़ी बातें कही थीं, उनके अनुसार काम भी कीजिये।

जब हम युरोपियनोंके प्रभुत्वके प्रश्न पर भली भाँति विचार करते हैं और उसके पक्षके समर्थनमें पेशकी जानेवाली दलीलों पर गौर करते हैं, तब यही सिद्ध होता है कि उनके मुख्य आधार वही सिद्धान्त हैं जिन सिद्धान्तोंकी मित्र राष्ट्र और उनके साथी युद्ध-कालमें घोर निन्दा किया करते थे। वे सब सिद्धान्त सैनिक बल और साम्राज्य-लिप्साके ही हैं। इन्हीं सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करनेके कारण सब लोगोंने मिलकर जर्मनीका नाश किया था; और अब वे लोग स्वयं इन्हीं सिद्धान्तोंके अनुसार आप काम कर रहे हैं! जर्मनीकी नीति और उनकी नीतिमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। युरोपियन जातियाँ अपने आपको श्रेष्ठ समझती हैं और बल-प्रयोग करके अपनी सभ्यताको अपनेसे दुर्बल जातियों पर लादनेका प्रयत्न करती हैं। तीन ही बातें ऐसी हैं जिनमेंसे यदि एक भी [illegible]त मान ली जाय, तब तो युरोपियनोंके प्रभुत्वका समर्थन हो [illegible]कता है, और नहीं तो और किसी प्रकार नहीं हो सकता। या तो [illegible]रोपियन लोग यह कहें कि संसारके सुख और कल्याणके लिए [illegible]मारी सभ्यता इतनी आवश्यक और अनिवार्य है कि उसकी रक्षा और प्रचारके लिए बल-प्रयोग करना भी बुरा नहीं है; या वे यह कहें कि श्रेष्ठ जातियोंको इस बातका अधिकार है कि वे अपनेसे छोटी जातियोंको खूब लूटें अथवा कमसे कम उनके भाग्यकी विधायक बनी रहें; अथवा वे यह कहें कि यदि लोगोंकी स्वतंत्रता छीनकर उनकी थोड़ी बहुत ऐहिक उन्नति कर दी जाय, तो उस स्वतंत्रता-हरणका प्रायश्चित्त हो जाता है। क्या अपना प्रभुत्व स्थापित करनेवाले युरोपियन सच्चे हृदयसे इन तीनों बातोंमेंसे एक भी बात कह सकते हैं? यदि वे नहीं कह सकते, तो फिर उनको अपने प्रभुत्वका दम भरना भी छोड़ देना चाहिए।

क्या यह कभी युक्तियुक्त और सम्भव है कि एक ओर तो

लोग गोरोंके प्रभुत्व और श्रेष्ठताके गीत गावें और दूसरी ओर जर्मनीकी नीति और कार्योंकी निन्दा करें ? कदापि नहीं । इन दोनों बातोंमें तो उतना ही अन्तर और विरोध है, जितना प्रकाश और अन्धकारमें । पर फिर भी कैसे आश्चर्यकी बात है कि अपने आपको सबसे अधिक सभ्य और श्रेष्ठ समझनेवाले लोग ये दोनों काम एक साथ ही करते हुए दिखाई देते हैं ! खैर, इस समय वे जो चाहें सो कर लें, पर यह भी समझ रखें कि समय बदल गया है और सारा संसार उनका विरोधी हो रहा है ।